INFLUENCE OF EXISTENTIALISM ON MODERN HINDI NOVEL

आधुनिक हिन्दी उपन्यासों पर अस्तित्ववाद का प्रभाव

Thesis Submitted to
The University of Cochin
for the Degree of Doctor of Philosophy

By

M. SHANMUGHAN

एम. षण्मुखन

PROF. AND HEAD OF THE DEPT.
DR. N. RAMAN NAIR

SUPERVISOR
DR. M. EASWARI

DEPARTMENT OF HINDI
UNIVERSITY OF COCHIN
COCHIN-22

1981

C E R T I F I C A T E

This is to certify that this thesis is a bonafide record of work carried out by M. Shanmughan under my supervision for Ph.D. and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.

Department of Hindi,
University of Cochin,
Cochin - 682 022.

M Easwari

Dr. M. Easwari,
Lecturer,
Supervising Teacher.

A C K N O W L E D G E M E N T

This work was carried out in the Department of Hindi, University of Cochin, Cochin - 22 during the tenure of scholarship awarded to me by the Cochin University. I sincerely expres my gratitude to the Cochin University for this help and encouragement.

Cochin - 22,
20--4--1981.

M. Shanmughan

प्रा क्क थ न

प्रा क्क थ न

अस्तित्ववाद आधुनिक युग का सशक्त दर्शन है । यद्यपि इसका बीज डानिष चिन्तक कीर्केगार्ड के दर्शन में उपलब्ध था, फिर भी आधुनिक युग में कामू, काफ्का, सार्त्र जैसे दार्शनिकों व साहित्यकारों की वजह से ही यह पनपकर पुष्कल हो गया तथा इसे दार्शनिक मान्यता मिल गई । सार्त्र के द्वारा इसका संबन्ध मार्क्सवाद के साथ जोड़ने के श्रम से इसकी लोकप्रियता और भी बढ गई ।

इस दर्शन के प्रभाव से हिन्दी साहित्य अछूता न रहा । यहां इसे गहराई से पढ़ने की कोशिश भी हुई, लेकिन बहुत कम । 1964 - 65 में डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह ने "धर्मयुग" में सभी अस्तित्ववादी दार्शनिकों पर लेख लिखे । फिर उन्हीं निबन्धों को 1973 में "आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववा शीर्षक पर पुस्तक रूप में उन्होंने प्रकाशित किया । इसमें उन्होंने दार्शनिकों की वैयक्तिक ज़िन्दगी के आधार पर अस्तित्ववादी दर्शन के अध्ययन करने का प्रयास किया है । 1968 में महावीर दाधीच ने "अस्तित्ववाद" शीर्षक पर पुस्तक प्रकाशित की । इसमें भी अस्तित्ववादी दार्शनिकों की विचार पद्धतियों के आधार पर अस्तित्ववादी दर्शन का विवेचनात्मक परिचय दिया गय

इन दोनों कृतियों में अस्तित्ववादी साहित्य का विवेचन बिलकुल नहीं हुआ है इस कमी की पूर्ति की योगेन्द्र शाह ने । उन्होंने 1975 में "अस्तित्ववाद" कीर्केगार्ड से कामू तक" नामक पुस्तक प्रकाशित की । प्रस्तुत कृति में उनकी ही सम्मति के अनुसार पाश्चात्य सर्जनात्मक साहित्य के विवेचन के द्वारा ही अस्तित्ववाद को समझाने का प्रयास किया गया है । लेकिन इसमें हिन्दी के अस्तित्ववादी साहित्य के संबंध में उपसंहार के "अपने अपने अजनबी" के अध्ययन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । 1973 में ही श्री कुबेरनाथ राय के "विषाद योग" का प्रकाशन भी हुआ । इसमें इन्होंने "अस्तित्व" शब्द की दार्शनिक व्याख्या से शुरू करके कीर्केगार्ड, हेडगर, कामू तथा सार्त्र की दार्शनिक मान्यताओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया है ।

प्रकाश दीक्षित की "अस्तित्ववाद और नई कविता" नामक पुस्तक भी उपलब्ध है । इसमें तो कोई सिलसिलेदार या नियत अध्ययन नहीं है । इसके तीन अध्यायों में व्यक्तिवाद का उन्मेष, फिर उसका अस्तित्ववाद की ओर प्रगति, सार्त्र जैसे दार्शनिकों की विचार पद्धति और शेष अध्यायों में नई कविता का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । डॉ॰ रामविलास शर्मा ने भी "नई कविता और अस्तित्ववाद" शीर्षक पर एक पुस्तक लिखी है । (प्रकाशन वर्ष - 1978) लेकिन यह एक संकलन है और इस शीर्षक पर अस्तित्ववा संबन्धी केवल एक ही लेख उपलब्ध है । इसमें प्रारंभ में अस्तित्ववादी दर्शन का मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अध्ययन करके, फिर नई कविता का, अस्तित्ववादी दर्शन के संघटक तत्वों के आधार पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है । डा॰प्रभाकर माचवे का "अस्तित्ववाद - पक्ष और विपक्ष में" नामक ग्रन्थ भी उपलब्ध है जो पाल रुबिचेक के अंग्रेज़ी ग्रंथ का अनुवाद है । इन सबके अलावा अमृतराय के "आधुनिक भावबोध की संज्ञा" तथा देवेन्द्र इस्सार के "साहित्य और आधुनिक युग बोध" में भी अस्तित्ववादी दर्शन संबन्धी विचार उपलब्ध हैं । लेकिन इनमें गहराई

इन अध्ययन करने की कोशिश नहीं हुई है

इस विषय पर दो ही शोध ग्रंथ उपलब्ध हैं । एक है डा॰श्याम सुन्दर मिश्र का "अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य ।(1)

अध्याय 4, 5, 6 और 7 में अस्तित्ववादी दर्शन के संघटक तत्वों के आधार पर हिन्दी उपन्यासों में क्रमशः व्यक्ति-अस्तित्व तथा स्वतंत्रता, निरर्थकताबोध, मृत्यु तथा मृत्यु-संत्रास तथा मूल्य-विघटन की प्रक्रिया पर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

अपनी रचनाओं में स्वानुभवों के साथ अपने व्यक्तित्व की भी पात्रों के छद्मावेश में अभिव्यक्ति देने की प्रवृत्ति अस्तित्ववादी साहित्यकारों में रही है । कामू, काफ्का और सार्त्र अपनी रचनाओं में अवतरित हो आए हैं । हिन्दी उपन्यासकारों ने भी इसकी कोशिश की है । लेकिन उनकी वैयक्तिक विशिष्टताओं तथा अनुभवों का उल्लेख करनेवाले माध्यम के अभाव में उन्हें खोजकर प्रस्तुत करने में कठिनाई है । साहित्यकार की मृत्यु के बाद उसकी ज़िन्दगी की विशिष्टताओं तथा वैयक्तिक खूबियों की ओर ध्यान देने की हमारी विशिष्ट रीति के कारण ही यह कठिनाई हो गई है । पत्र-व्यवहार द्वारा कोशिश करने पर भी पर्याप्त सामग्री न उपलब्ध होने के कारण केवल अज्ञेय (उन्होंने तो स्वयं अपने संबन्ध में खूब लिखे हैं) और मोहन राकेश की वैयक्तिकता को उनकी रचनाओं में खोज निकालने का प्रयत्न ही हुआ है और यही आठवें अध्याय में प्रस्तुत है ।

उपसंहार में उपर्युक्त अध्यायों में जो निष्कर्ष निकाले गए है (प्रथम और दूसरे को छोड़कर) उनके आधार पर संक्षेप में हिन्दी उपन्यासों में अस्तित्ववाद के प्रभाव को उजागरित किया गया है ।

प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध का कार्यान्वयन कोचिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की प्राध्यापिका डॉ॰ एम॰ ईश्वरीजी के निर्देशन में संपन्न हुआ है । उनकी निरन्तर प्रेरणा, समयानुकूल निर्देशन तथा सद्व्यवहार इसकी पूर्ति में विशेष रूप से सहायक रहे हैं । मैं इस अवसर पर उनके प्रति कृतज्ञता

ज्ञापित कर रहा हूँ । भूतपूर्व विभागाध्यक्ष डॉ॰ एन॰ई॰ विश्वनाथ अय्यर तथा वर्तमान विभागाध्यक्ष डॉ॰ एन॰ रामन नायर के प्रति भी मैं आभारी हूँ । विभाग के अन्य गुरुजनों, पुस्तकालय की पुस्तकाध्यक्षा श्रीमति कुञ्ञिक्कावुट्टी तंपुरान तथा छात्र-छात्राओं के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने समय समय पर मेरी सहायता की है ।

कोचिन विश्वविद्यालय,
कोचिन - 68 20 22
तारीख 20॰04॰1981॰

षण्मुखन॰ एम॰

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ-संख्या
प्राक्कथन	I - V
पहला अध्याय	1 - 61

अस्तित्ववादी दर्शन का अध्ययन

दर्शन के दो पक्ष - आशयवाद - भौतिकवाद ।- अस्तित्ववाद का स्थान + अस्तित्ववाद का तात्त्विक विवेचन - सार और अस्तित्व - अस्तित्व और बीइंग- अस्तित्ववादी दार्शनिकों की बीइंग + संबन्धी धारणा - कीर्केगार्ड - गब्रियल - मार्शल - कार्ल जास्पर्स - सार्त्र - मार्टिन हेडगर + अस्तित्ववादी दर्शन के संघटक तत्त्व - विसंगति - आत्मनिष्ठता {वैयक्तिकता} - स्वतंत्रता - स्वतंत्रता और परिवेश - मृत्यु - संत्रास + अस्तित्ववादी दर्शन की मूल्य एवं नैतिक मूल्य संबन्धी धारणा - प्रेम संबन्धी धारणा - निष्कर्ष ।

दूसरा अध्याय	62 - 92

अस्तित्ववाद और अन्य दर्शन

अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद - स्वतंत्रता संबन्धी विचार - [illegible] - स्वतंत्रता की दार्शनिक व्याख्या - मार्क्सवाद के साथ संबंध और संबन्धहीनता - गतिशीलता का सिद्धांत और द्वन्द्वशास्त्र अस्तित्ववाद और भारतीय दर्शन - अस्तित्ववाद और बौद्ध दर्शन - अस्तित्ववाद और शून्यवाद - सांख्य दर्शन से तुलना- अस्तित्ववाद और भारतीय दर्शन में परिलक्षित निरीश्वरवाद का अध्ययन - निष्कर्ष ।

पृष्ठ-संख्या

तीसरा अध्याय .... 93 - 118

अस्तित्ववादी उपन्यास साहित्य का रचना परिवेश

परतंत्र भारत का परिवेश - स्वातंत्र्योत्तर भारत का परिवेश - राजनीतिक परिस्थितियाँ - सामाजिक जीवन की स्थिति - आर्थिक परिस्थिति - भारतीय साहित्यकारों की त्रासद स्थिति ।
उपन्यास साहित्य का संक्षिप्त विकास - प्रयोगकाल की विशेषताएं - प्रेमचन्द युग - आधुनिक युग - अज्ञेय की भूमिका प्रेमचन्दोत्तर युग की अन्य मान्यताएं - मोहन राकेश की विशिष्ट स्थिति - निष्कर्ष ।

चौथा अध्याय .... 119 - 146

हिन्दी उपन्यासों में मानवीय अस्तित्व तथा स्वतंत्रता

अज्ञेय के उपन्यास : शेखर एक जीवनी - नदी के द्वीप - अपने अपने अजनबी - मोहन राकेश के उपन्यास : अंधेरे बंद कमरे - न आनेवाला कल - अंतराल । रमेश बक्षी का अठारह सूरज के पौधे - श्रीकांत वर्मा का दूसरी बार - निष्कर्ष ।

पांचवां अध्याय .... 147 - 191

हिन्दी उपन्यासों में विसंगति बोध

अज्ञेय के उपन्यास : नदी के द्वीप - अपने अपने अजनबी ।
मोहन राकेश के उपन्यास : अंधेरे बंद कमरे - न आनेवाला कल - अंतराल । निर्मल वर्मा का उपन्यास : वे दिन - कमलेश्वर का डाक बंगला - मणि मधुकर का सफेद मेमने -

पृष्ठसंख्या

रमेश बक्षी का अठारह सूरज के पौधे - उषा प्रियंवदा के उपन्यास : पचपन खंभे लाल दीवारें - रुकोगी नहीं राधिका प्रमोद सिन्हा का उसका शहर - कृष्ण सोबती का सूरजमुखी अंधेरे के - महेन्द्र भल्ला का एक पति के नोट्स - रामदरश मिश्र का अपने लोग - महीप सिंह का यह भी नहीं - निष्कर्ष ।

छठा अध्याय .... 192 - 266

हिन्दी उपन्यासों में मृत्यु तथा मृत्यु संत्रास

शेखर एक जीवनी - अपने अपने अजनबी - वे दिन - चलता हुआ लावा ।

सातवाँ अध्याय .... 267 - 281

हिन्दी उपन्यासों में मूल्य विघटन

प्रेमचंद का प्रेम वर्णन - अज्ञेय के उपन्यासों में प्रेम - शेखर एक जीवनी - नदी के द्वीप - अपने अपने अजनबी । मोहन राकेश के उपन्यास:- अंधेरे बंद कमरे - न आनेवाला कल - अंतराल । निर्मल वर्मा का वे दिन - कमलेश्वर का डाक बंगला - रमेश बक्षी का बेसाखियोंवाली इमारत - श्रीकांत वर्मा का दूसरी बार - राजकमल चौधरी का मछली मरी हुई - मणि मधुकर का सफेद मेमने - महेन्द्र भल्ला का एक पति के नोट्स - कृष्णा सोबती का सूरज मुखी अंधेरे के - गिरिराज किशोर का यात्रायें - ममता कलिया का बेघर - राजकमल चौधरी का बीस रानियों का बाइस्कोप ।
अन्य मानवीय संबन्धों के क्षेत्र में मूल्यों का विघटन - निष्कर्ष ।

पृष्ठ-संख्या

आठवाँ अध्याय .... २९३ - ३०३

हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त रचनाकारों की वैयक्तिकता

अज्ञेय । मोहन राकेश : अँधेरे बंद कमरे - न आनेवाला कल - अंतराल - निष्कर्ष ।

उपसंहार .... ३०४ - ३१५

आधुनिक हिन्दी उपन्यासों पर अस्तित्ववाद का प्रभाव

संदर्भ ग्रंथ सूची .... ३१६ - ३२

हिन्दी - अंग्रेज़ी ।

पारिभाषिक शब्दावली

पहला अध्याय

अस्तित्ववादी दर्शन का अध्ययन

पहला अध्याय

अस्तित्ववादी दर्शन का अध्ययन

दर्शन के दो पक्ष

मानव के समक्ष प्रकृति का अस्तित्व सदा निगूढ़ एवं अपूर्ण रहा है । प्रकृति को पूर्णत: समझने की मानवीय अभीप्त्सा युगों से होकर आज भी जारी है प्रकृति को समझने के श्रम के साथ ही अपने अस्तित्व और प्रकृति से अपने संबन्ध के प्रति भी मनुष्य हमेशा सचेत रहा है । इस प्रकार जगत-संबन्धी और जगत के साथ अपने संबन्ध के प्रति मनुष्य की समाकलित धारणा ही दर्शन है[1] । दर्शन चिंतन और "बीइंग", वस्तु और मन आदि के परस्पर संबन्धों और उनकी नींवाधार समस्याओं के प्रति भी अवगत हैं । क्या इस विशाल ब्रह्माण्ड की सृष्टि ईश्वर ने की है ? क्या इसका रूप यों ही शाश्वत रहा था ? वस्तु और मन में तथा "बीइंग" और चिंतन में किसकी प्राथमिकता है ? क्या यह प्रकृति हमारे चिंतन में ही उपस्थित है ? या इसका अलग अस्तित्व है ? इन मूलभूत समस्याओं की धारणा के आधार पर मनुष्य दो वर्गों में बंटे हुए हैं । जो मन और चिंतन की

---

1. अ. "What is philosophy? It is an integrated conception of the world we live in and of our relations to this world." - Indian Thought, A Critical Survey - K. Damodaran - p-7
   आ. "जीवन के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण ही दर्शन है जो व्यक्ति व्यक्ति के लिए भिन्न हुआ करता है" - सर्वदर्शन संग्रह: पूर्वपीठिका - प्रो. उमाशंकर शर्मा ऋषि - पृ.26

प्राथमिकता पर विश्वास रखते हैं, वे आशयवादी (प्रत्ययवादी) हैं और जो प्रकृति एवं बीइंग की वरीयता की बुलन्दी लगाते हैं वे भौतिकवादी हैं[1]।

आशयवाद

आशयवादियों की यह धारणा है कि यह प्रकृति सदा ऐसी ही रही है जो अब दिखती है[2]। ये भौतिक जगत से परे किसी परम अखण्ड तत्व में विश्वास रखते हैं[3]। उनके विचार में यह परम तत्व ही एकमात्र सत्य एवं शाश्वत है और संपूर्ण भौतिक जगत माया है। "हम जिन वस्तुओं के संबन्ध में चिंतन और मनन करते हैं, या हमारे मस्तिष्क में वस्तुओं और पद्धतियों के जो चित्र बनते हैं वे यथार्थ वस्तुओं का प्रतिफलन नहीं है बल्कि वे सृष्टि के पहले ही उपस्थित किसी "आशय" या परम तत्व के यथार्थ चित्र हैं"[4]। अत: बाह्य जगत का आधार स्वयं बाह्य जगत न होकर मनुष्य का मनोजगत है या मनुष्य निरपेक्ष और कोई जगत है।

---

1. "Those who asserted the primacy of spirit to nature comprised t camp of idealism. The others regarded nature as primacy belon to the various schools of materialism." - Feurbach and end of classical german philosophy - Engels. Marx-Engels selected works - p. 594.
2. "About the first period of natural science Marx says that what especially characterised this period is the elaboration of a peculiar general outlook in which the central point is the vie of the absolute immutability of nature.... The stars remained ever fixed and immovable in their places, keeping one another there in by 'universal gravitation'. The earth had persisted without altoration from all eternity or if you prefer from the day of its creation. - Introduction to Dialectis of Nature - Engels - Ibid. p.341.
3. (a) Every where it sought and found as the ultimate thing an impulse from outside that was not to be explained from nature itself - Engels - Ibid. p.342.

   (आ) सबसे पहले केवल परमात्मा वा हिरण्यगर्भ थे। उत्पन्न होने पर वे सारे प्राणियों के अद्वितीय अधीश्वर थे। उन्होंने इस पृथ्वी और आकाश को अपने अपने स्थानों में स्थापित किया।

   हिन्दी ऋग्वेद - सूक्त - 121 - पृ॰1412

4. Socialism - Utopian and Scientific - Engels - Marx-Engels Selected works - p. 407.

आशयवादियों के अनुसार परमेश्वर से ही यह ब्रह्माण्ड, नाम रूप और अन्न की उत्पत्ति हुई है । वे सर्वज्ञ तथा सर्वविद हैं[1] । केवल उनके प्रकाश से यह सारा ब्रह्माण्ड प्रकाशित है[2] । उनकी यह भी धारणा रही है कि आत्मा का शरीर से अलग अस्तित्व है । शरीर मिट जाता है, लेकिन आत्मा मिटती नहीं । वह विभिन्न वेष धारण करती हुई अनेक योनियों में भटकती रहती है[3] ।

आशयवादी भी दो वर्गों में बँटे हुए हैं - आत्मनिष्ठ आशयवादी और वस्तुनिष्ठ आशयवादी । दोनों अलौकिक सत्ता या मनुष्य निरपेक्ष परम अखण्ड तत्व में विश्वास रखते हैं और भौतिक जगत को उनके अधीन समझते हैं, लेकिन इनमें भिन्नता यह है कि आत्मनिष्ठ आशयवादी मनुष्य - चेतना की प्राथमिकता पर विश्वास रखते हैं तो वस्तुनिष्ठ आशयवादी मनुष्य निरपेक्ष किसी अखण्ड परम तत्व पर[4] ।

भौतिकवाद

भौतिकवादियों को किसी अखण्ड परम तत्व में विश्वास नहीं है[5] । उनकी मान्यता है कि भौतिक जगत मनुष्य चेतना से अलग अस्तित्व रखता है । वह नित्य तथा सत्य है । उसका अस्तित्व पूर्व नियोजित नहीं है[6] ।

---

1. यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः
   तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ।। मुण्डकोपनिषद् - पृ॰112
2. तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
   तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । वही - पृ॰121
3. "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपरा णि
   तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही" ।।
   - श्रीमद्भावद्गीता - स्वामी चिदभावनानंदा - पृ॰14।
4. सर्वदर्शन संग्रह: - प्रो॰ उमाशंकर शर्मा - "ऋषि" - पूर्वपीठिका - पृ॰
5. "Materialism explains what takes place in the material wor from the material world itself. It does not recognize in cable happenings, divine interventions and control of mat world events by non-material supernatural events -" Dialectical materialism - Maurice Conforth. p-143.
6. Engels - Ibid. p.35.

मनुष्य भी इस भौतिक जगत का अंग है । मनुष्य की चेतना जिसे आत्मा कहते हैं, वह भौतिक तत्व से स्वतंत्र एक अस्तित्व नहीं है बल्कि भौतिक जगत की प्रतिक्रिया का परिणाम मात्र है । या वह भौतिक वस्तु का गुण है । उसकी उत्पत्ति तथा नाश भौतिक सापेक्ष है[1] । वस्तु अपने विकास के उच्चतम अवस्था में मन का रूप धारण कर लेती है और उससे विचार निसृत होते हैं । अत: वस्तु से मन की उत्पत्ति होती है, मन से वस्तु {भौतिक तत्व} की नहीं[2] ।

भौतिकवाद के भी दो पक्ष हैं । यांत्रिक भौतिकवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिक वाद । यांत्रिक भौतिकवादी प्रकृति की चलनात्मकता और परिवर्तन को मानते हैं, लेकिन उनका परिवर्तन एक परिक्रमा की तरह है । प्रकृति उसके आरंभ से अब तक किसी भी गुणात्मक परिवर्तन के बिना यों ही निरंतर चलती आ रही है । एक बिंदु से इस चलनात्मकता की शुरुआत होती है, उसी बिंदु से वह लगातार गुजरती रहती है । प्रकृति में कोई नयी घटना नहीं होती । सिर्फ प्रत्यावर्तन होता रहता है[3] । द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मान्यता है कि इस भौतिक जगत की हर एक वस्तु स्वंय और परस्पर द्वन्द्व में है[4] । हर वस्तु निरंतर विकास-मानता की स्थिति में रहती है या वह परिवर्तन के अधीन है । इस परिवर्तन का आधार उसमें ही वर्तमान द्वन्द्व है[5] । और यह परिवर्तन परिमाणात्मक ही नहीं गुणात्मक भी है । मारिस कार्नफोर्थ ने पानी के भाप बनने की प्रक्रिया द्वारा इस परिवर्तन को समझाया है - एक विशिष्ट तापमान में पहुंचकर सहसा पानी भाप बनने लगता है । यह परिवर्तन पानी के विपरीत तत्वों के संघर्ष का फल है[6] ।

---

1. Stalin - Dialectical and Historical Materialism. Quoted by Maurice Conforth - Dialectical Materialism - p.19.
2. "Matter is not a product of mind but mind itself is the highest product of matter -" Marx Engels - Selected works - Volume I - p. 435.
3. Dialectical Materialism - Maurice Conforth. P.51.
4. "The key conception of dialectics is the conception of contridiction inherent in the very nature of things." Ibid. p.84.
5. "Contridiction within a thing is the basic cause of its development -" Ibid. p.91.
6. Ibid. pp. 77 - 78.

अस्तित्ववाद का स्थान

उपर्युक्त विवेचित किसी भी पक्ष के अंतर्गत हम संपूर्ण अस्तित्ववादी दर्शन को सम्मिलित नहीं कर सकते क्योंकि प्रत्येक अस्तित्ववादी दार्शनिक की अपनी निजी विशिष्टतायें हैं जिनसे प्रत्येक दार्शनिक ढांचे के बाहर हो जाता है ।

अस्तित्ववादी दर्शन के प्रणेता कीर्केगार्ड[1] ने हेगल की वस्तुगत-चिंतन पद्धति या शुद्ध-चिंतन के विरुद्ध आवाज़ उठायी थी । वास्तव में शुद्ध चिंतन की इस "एब्सेर्डिटी" के विरुद्ध उठी इस आवाज़ के साथ ही अस्तित्ववादी दर्शन की शुरूआत होती है[2] । कीर्केगार्ड के विचार में हेगल का दर्शन मनुष्य तथा उसके अस्तित्व को वरीयता नहीं देता है । हेगल की परम-प्रत्यय की उद्भावना से कोई मार्ग-निर्देश नहीं मिलता । उनकी वस्तुगत-चिंतन पद्धति में सैद्धान्तिक कथन मात्र होता है जबकि आत्मनिष्ठ चिंतन पद्धति में हम सत्य में निवास करते हैं । चिंतन करना एक बात है और चिंतन में जीना दूसरी बात है[3] । और कीर्केगार्ड की राय में वस्तुगत दृष्टिकोण से मनुष्य का अस्तित्व अथवा अनस्तित्व अत्यन्त उदासीन बन जाता है[4] । कीर्केगार्ड ने ईश्वर के अस्तित्व पर भी गहरी आस्था प्रकट की है । ईश्वर व्यक्ति के अंतकरण में प्रेरक-शक्ति के रूप में विद्यमान हैं । असल में मनुष्य-जीवन का ईश्वर विहीन प्रत्येक क्षण व्यर्थ है[5] ।

---

1. "It is generally agreed that the true father of existentialism is the Danish Soren Kierkegaard (1813-55) and that the impact of his personality influence has been the greatest single cultural influence operating upon the modern developments." - Existentialist Thought - Introduction - Ronald Grimslay.
2. "Existentialism begins as a voice raised in protest against the absurdity of Pure Thought, a logic which is not the logic of thinking but the immanent movements of Being" - Six existentialist Thinkers - H.J. Blackham - p.2.
3. Concluding unscientific post-script - Soren Kierkegaand - p.228.
4. "Always it leads away from the human being whose existence or non-existence quite rightly from the objective point of view, becomes infinitely indifferent-" - Soren Kierkegaard - Ibid. p.27
5. "Every moment is wasted in which he does not have God." Ibid. p.179.

कार्ल जास्पर्स ने भी आत्मनिष्ठता को प्रश्रय दिया है । साथ ही आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ दुनिया के आंतरिक संबन्ध के प्रति भी वे सचेत हैं । वे स्पष्टत: कहते हैं कि न तो मुझे जाननेवाले के बिना संसार है और न संसार के अभाव में, मैं जो कुछ हूँ, हो सकता हूँ[1] । ईश्वर के संबन्ध में उनका विचार है कि ईश्वर हमेशा हमारे सामने प्रकट होते रहते हैं, यदि उन्हें पकडने का श्रम करें तो वे तुंरत अंतर्धान हो जाते हैं । उनका अस्तित्व प्रामाणिक नहीं है । वस्तुत: प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया हुआ ईश्वर, ईश्वर नहीं है । असल में जगत से परे कोई ईश्वर नहीं है और यह जगत भी ईश्वर नहीं है । ईश्वर जगत में उपस्थित हैं, लेकिन वे निगूढ रहते हैं । उनका दर्शन अंतत: संभव है, असंभव भी है[2] ।

गेब्रियल मार्शल ने मनुष्य के चिंतन करने की शक्ति पर ज़ोर दिया है । मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो अपने अस्तित्व का अनुभव करते हुए चिंतन में प्रवृत्त होता है । उसके चिंतन का विषय मनुष्य और उससे संबन्धित संसार है[3] । ईश्वर के प्रति उन्होंने गहरी आस्था प्रकट की है । कीर्केगार्ड और जास्पर्स के समान उनकी भी राय है कि ईश्वर का अस्तित्व बौद्धिक प्रमाणों से सिद्ध नहीं किया जा सकता । उनका अस्तित्व तो मनुष्य अस्तित्व से घनिष्ठ रूप में बंधा हुआ है[4] ।

अस्तित्ववादी दार्शनिकों में नित्शे ने ही सबसे पहले खुले आम घोषणा की थी कि "ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है । हम ने ईश्वर को मार डाला"[5] ।

---

1. Six existentialist Thinkers - H.J. Blackham - p.59. (2)Ibid. p
3. Metaphysical Journal - Gabriel Mareel. Tr. Bernard Wall - p.2
4. Ibid. p.210.
5. Existentialism - For and Against - Paul Roubiczek - p.40.

उन्होंने शाश्वत प्रत्यावर्तन सिद्धान्त की उद्घोषणा भी की । इस सिद्धान्त के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु उसी रूप में पुन: लौटकर आएगी और यह क्रम निरंतर चलता रहेगा[1] । व्यावहारिक दृष्टि से सामान्य व्यक्ति को यह सिद्धांत भयावह प्रतीत होगा, इसलिए उन्होंने अतिमानव की उद्भावना की है जो इस सिद्धांत को स्वीकारने में सक्षम रहेगा[2] ।

नित्शे ने आत्मनिष्ठता की भी महत्ता स्वीकार की है । उनके विचार में आत्मगत संसार ही सच्चा है । इसे वे मानव-परिप्रेक्ष्य कहते हैं । नियम और मूल्य पूर्वनिश्चित या पूर्व आयोजित नहीं है, क्योंकि उनके सृजनकार ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है । मानव स्वयं अपने मन में मूल्यों की रचना कर उन्हें बाहर की ओर प्रसारित करता है ।

सार्त्र भी नास्तिक हैं । उन्होंने गतिशीलता के सिद्धान्त को मान्यता दी है । लेकिन उन्होंने मनुष्य को अन्य वस्तुओं से अलग करके देखा है, क्योंकि मनुष्य की विशेष भाव सत्ता है, वह जड़ या कीडे मकौडे नहीं । इसके साथ सार्त्र ने अपने द्वन्द्वशास्त्र का भी आविष्कार किया है ।

उपर्युक्त विवेचन से हम चाहें तो कीर्केगार्ड, कार्ल जास्पर्स, गेब्रियल मार्शल आदि को आत्मनिष्ठ आशयवादी दार्शनिक और नित्शे को यान्त्रिक भौतिकवादी कह सकते हैं । लेकिन इन अस्तित्ववादी दार्शनिकों को परंपरागत दार्शनिक-पद्धतियों के कटघरे में सीमित करके देखना उचित नहीं है क्योंकि कोई भी किसी भी पद्धति की संपूर्ण विशिष्टतायें अपने में समेटकर नहीं चलते । इनकी सामान्य

---

1. This new idea then turns out to be that of 'eternal occurance', the belief that everything which has ever existed or happened must return again and again unchanged - Existentialism - For and Against - Paul Roubiczek - p.44.

2. Ibid. p.45.

विशिष्टता यह है कि इनके दर्शन का केन्द्र मनुष्य-अस्तित्व है । उनका गन्तव्य बंदु मनुष्य हैं । उनकी प्रकृति संबन्धी व्याख्या भी मानव सापेक्ष या मानव न्द्रित हैं[1] ।

स्तित्ववाद - तात्त्विक विवेचन

अस्तित्व शब्द की दार्शनिक व्याख्या - "धर्म तथा नैतिकता" के कोश में स्तित्व को बीइंग का समानार्थी माना गया है[2] । एनसैक्लोपिडिया ब्रिटानिका अनुसार "अस्तित्व" अतनकीकी भाषा में पत्थर, मछली आदि प्रत्येक "उपस्थिति" ो सूचित करनेवाला शब्द है[3] । इसके साथ सामाजिक विधि निषेधों से आबद्ध ोजमर्रा की ज़िंदगी को भी अस्तित्व कहा गया है[4] ।

"अस्तित्व" - इस संप्रत्यय का प्रयोग प्राचीन यूनानी दार्शनिक भी रते थे, जो इसे "एटारोक्सिया" कहते थे । डेमाक्राइटस, एपीक्यूरस और ्युक्रेटिस के अनुसार यह एक अवस्था है जिसमें रहते हुए मनुष्य संदेह से मुक्त था भय पर काबू पाकर ब्रह्माण्ड का ध्यान करने में समर्थ बन जाता है[5] ।

---

1. "The various philosophies that have referred to by the term existentialism have in common an interpretation of human existence in the world that stresses its concreteness and its problematic character" - Eneyelopaedia Britanica - p.73.
2. Encyclopaedia of Religion and Ethics - James Hastings - Volume II - p.454.
3. "In non-technical language anything actual may said to exist whether it may be a man or fish or stone -" - Encyclopaedia Britanica - volume 17 - p.964.
4. "It is true that people call existence - loving the life of daily routine confronting the social norms that others have established for them." - A History of western philosophy - Kant and the 19th Centuary - p.214.
5. A Critical History of Greek Philosophy - W.T. Stace - p.354.

अस्तित्ववादी दर्शन ने "अस्तित्व" शब्द को पूर्णत: आत्मसात् किया । सबसे पहले कीर्केगार्ड ने इसे दार्शनिक अर्थ प्रदान किया । उनकी राय में "अस्तित्व" मनुष्य के बाह्य अस्तित्व, जो इन्द्रियों से अनुभूत है, से भिन्न एक आंतरिक आत्मा है जो सामान्य परिस्थितियों में बोधगम्य नहीं है बल्कि चरम संकट के क्षणों में क्षण मात्र के लिए प्रकाशित हो उठती है । और अस्तित्व की विशिष्टता केवल निर्वाचन में है, जो केवल मनुष्य के पास है, मनुष्येतर प्राणियों में नहीं[1] ।

सभी अस्तित्ववादी दार्शनिक मनुष्य की उपस्थिति को ही "अस्तित्व" कहते हैं । जास्पर्स के अनुसार वस्तुओं की सत्ता अपना अस्तित्व नहीं जानती । लेकिन मनुष्य चिंतनशील होने के नाते अभिज्ञ है कि "वह है" । अत: मनुष्य के अस्तित्ववान् होने की अभिज्ञता उसे अन्य जीवियों से अलग करता है[3] । हेडगर के अनुसार केवल मनुष्य का ही अस्तित्व है । चट्टानें, वृक्ष, घोडे, फरिश्ते आदि वर्तमान हैं, लेकिन उनका अस्तित्व नहीं । मनुष्य अस्तित्ववान है । इसलिए वह सभी वस्तुओं और चीज़ों का प्रतिनिधित्व करता है । और सबके प्रति सचेत भी रहता है[4] ।

"अस्तित्व" शब्द सक्रियता तथा चलनात्मकता को भी द्योतित करता है । इस दृष्टि से इसका मूल रूप लाटिन शब्द "एक्सस्टर" सार्थक है । इसका मतलब है - एक स्थिति से दूसरे उन्नत स्थिति की ओर गति[5] । अर्थात् मनुष्य सदैव अपनी वर्तमान स्थिति से वर्तमान अस्मिता {सेल्फ} से परे की ओर उन्मुख एवं गतिशील रहता है । कीर्केगार्ड कहते हैं -"मनुष्य है नहीं, "हो रहा है" की स्थिति में रहता है । अत: उसका कोई अंतिम रूप नहीं । उसमें निरंतर विकासमानता क

---

1 - अस्तित्ववाद - कीर्केगार्ड से सार्त्र तक - योगेन्द्र शर्मा - P.41.

3. Six existentialist Thinkers - P.49.

4. "Existential nature of man is the reason why man can represent being as such and why he can conscious of them." - Existentialism from Dostoevsky to Sarte - Walter Kaufmann - p. 215.

5. A dictionary of Philosophical terms - J.A. Cuddon - p.246.

स्थिति रहती है। यह परे-मुखे गति केवल मनुष्य में है । यह सदैव अपूर्ण है और प्रतिक्षण पूर्णता की ओर जा रहा है । इस दृष्टि से अस्तित्व का अर्थ है, वर्तमान से निरंतर परे जाने की स्थिति ।

सार्त्र के अनुसार यह गत्यात्मकता या अस्मिता परे गति का मतलब है कि मनुष्य को किसी नियम के शिकंजे में (चरम प्रत्ययों के ढांचे में) रखा नहीं जा सकता । क्योंकि वह सतत विकासशील या परिवर्तनशील है । उनके विचार में "परे-गति" परिवर्तनशीलता को द्योतित करती है[2] ।

सार और अस्तित्व

सार और अस्तित्व की भिन्नता के उन्मीलन से अस्तित्व का अर्थ और निखर आएगा*। सार अवस्था है । सार यह सूचित करता है कि किसी विशेष वस्तु कैसे बनती है ? वस्तु क्या है ? मेज़ या मनुष्य ? मनुष्य है तो मनुष्य होने की अवस्था ही सार है । सार अमूर्त या कल्पना है । जब इससे अस्तित्व जुड़ता है, तब कल्पना यथार्थ बन जाती है । मसलन, पुष्पा दस बरस की लड़की है । जब वह बडी होकर शादी करेगी तब सोने जैसे बच्चे की मां बन जाएगी । "यहां सोने जैसा बच्चा" सार है जो केवल कल्पना है । जब पुष्पा मां बनेगी तब यह कल्पना (सार) यथार्थ (अस्तित्व) में बदल जाएगी । और "मैं मनुष्य हूँ" कहते वक्त "मनुष्य" सार और "हूँ" अस्तित्व है[3] । सार प्रत्यय (आशय) है जो अमूर्त है । अस्तित्व यथार्थ है जो मूर्त है । सार काल्पनिक होते हुए भी उसका अस्तित्व से दूरस्थ संबन्ध है । उदाहरण केलिए, "सेन्टयर" एक काल्पनिक पशु है । यह घोड़े और मनुष्य का मिश्रित रूप है । ऐसा एक जीव इस दुनिया में नहीं है, फिर भी मनुष्य और घोड़ा ज़रूर हैं । अत: सार का

---

2. Existentialism - Paul Foulquie - p.11.
* Perhaps it is easier to understand what existentialism means when, as is often done, we introduce the distinction between essence and existence - Existentialism - For and Against - Paul Roubiczek p.11
3 Existentialism - Paul Foulquie - p.11
. Existentialist Thought - Ronald Grimsley - Introduction.

अस्तित्व से अवश्य संबन्ध है । सेन्ट्यर से संबन्धित सत्य, इस सत्य को विचलित नहीं करता कि आधे मनुष्य और आधे घोड़े का मिश्रित जीव इस दुनिया में नहीं है ।[1]

अस्तित्ववादी दार्शनिक मनुष्य को इस प्रकार कल्पित करने के विरुद्ध हैं। क्योंकि उनके विचार में मानव का सार उसके अस्तित्व में ही निहित है ।[2] और सभी अस्तित्ववादी दार्शनिक सार के बदले अस्तित्व को ही प्रार्थमिकता या वरीयता देते हैं । कारण यह है कि चेतन-वस्तुओं का पूर्व-निश्चित या प्रदत्त सार नहीं है । उनका एक आन्तरिक हृदय के अलावा और कुछ नहीं । चेतन वस्तुएं पहले अस्तित्व में आती हैं, फिर पारिभाषित होती हैं, यह नहीं कि उसकी परिभाषा बना दी जाए और उसकी नींव पर अस्तित्व निर्मित किया जाए । हेड़ार कहते हैं कि डेसिन {मनुष्य के अस्तित्व-रूप} कतिपय गुणों से युक्त कोई वस्तु नहीं है । उसका सार उसके अस्तित्व में निहित है । अर्थात् मानवीय यथार्थ परिभाषा के अधीन नहीं । वह पहले अस्तित्व में आता है, फिर स्वयं परिभाषित होता है । वह कभी पूर्ण भी नहीं है । वह सिर्फ संभावना या निरन्तर होते रहने की प्रक्रिया है ।[3] सार्त्र ने भी खुल्लम-खुल्ला उद्घोषणा की है कि अस्तित्व सार का पूर्ववर्ती है । उदाहरण द्वारा उन्होंने यह स्पष्ट भी किया है - एक कुर्सी के बनाने के पहले कारीगर के दिमाग में उसके संबन्ध में "क्या की एक धारणा" रहती है और उसी के अनुसार वह कुर्सी बनाता है । यहां सार पहले निश्चित होता है और उसी के अनुसार अस्तित्व बनता है । सृष्टि-प्रक्रिया में अब तक ईश्वर को ऐसा ही कारीगर और मनुष्य को ईश्वर की सृष्टि माना जाता रहा है । लेकिन, अस्तित्ववादी दार्शनिक अस्तित्व को पहले और सार को बाद की प्रक्रिया मानकर पूरी प्रक्रिया को ही बदल देते हैं ।[4]

---

1. Existentialist Thought - Ronald Grimslay - Introduction.
2. Ibid.
3. Heidegger - Through Phenemenology of thought - William J. Richardson - S.J. p. 36.
4. Existentialism and human emotions - Jean Paul Sartre - pp.13-14.

अस्तित्व और "बीइंग"

बीइंग का इतिहास - हम ने देखा कि बीइंग को अस्तित्व का समानार्थी या अस्तित्व को बीइंग का विकासमान स्थिति माना गया है । लेकिन, अस्तित्वव दर्शन अस्तित्व और बीइंग में भिन्नता देखता है । अस्तित्ववाद की शुरुआत ही अस्तित्व और बीइंग में नीवाधार भिन्नता से होती है[1] । इसके संपूर्ण अध्ययन केलिए बीइंग के इतिहास का विश्लेषण करना ज़रूरी है ।

दर्शनशास्त्र के उद्भव के साथ ही दार्शनिकों द्वारा बीइंग का विवेचन भी होने लगा । सबसे पहले इसका प्रयत्न चीन में ताओवाद का प्रवर्तक लाओ-त्सी द्वारा हुआ । ताओ (प्रकृति) के अन्तर्गत उन्होंने बीइंग की तत्वमीमांसीय धारणा पर प्रकाश डाला । प्रकृति शून्य है - जैसे चिकनी मिट्टी के बरतन की या दरवाज़े के खुले स्थान की शून्यता है । लेकिन, इस शून्यता से ही सारी वस्तुओं तथा जीवों की उत्पत्ति हुई है[2] ।

हिन्दू-दर्शन में बीइंग संबन्धी धारणा अधिक बौद्धिक है । उपनिषदों में विश्व-एकता की बात कही गई है[3] । अद्वैतवाद में प्रकृति और पुरुष को अभिन्न माना गया है । एक ही वस्तु में सब वर्तमान हैं[4] । छान्दोग्योपनिषद में कहा गया है कि वही सूक्ष्म सारभूत तत्व जिसमें सब कुछ निहित हैं, वही सत्य है । तुम भी वही हो । तत्वमसि[5] ।

यवन दार्शनिकों में परेमेनिडिस ने चिन्तन और बीइंग को अभिन्न माना ।

---

1. Existentialism begins as we seen with a fundamental distinction between being and existence, true and proper" - Existentialism - Guido Ruggiero - p.48.
2. Encyclopaedia of Religian and ethics - James Hastings - Vol.2 p. 454.
3. लोकस्य निधयेत्वमा आहता असमणी ब्रह्मणी ब्रह्मणः ।
   पदमोमेन ओमत्तमं आत्तो भेदेत न ब्रतः ॥ इति - सर्वदर्शनसंग्रहः P.802
4. छान्दोग्योपनिषद् - अध्याय 2 खण्ड - P.141 - 108 उपनिषदें - पं - श्रीरामशर्मा ।

वास्तव में बीइंग ही होता है - नोण् बीइंग नहीं । और यह बीइंग सदा चिन्तन में निहित है[1]। बीइंग एक आभास मात्र है जो केवल प्रत्यक्ष में ही रहता है

प्लेटो के अनुसार चिन्तन (आशय) शाश्वत है, इसलिए वह बीइंग से भी संपन्न है । लेकिन, विशेष वस्तु अयथार्थ है क्योंकि वह निरन्तर परिवर्तनशील है[2] ।

"देकार्ते" ने भी चिन्तन और बीइंग के आपसी संबन्ध का विश्लेषण किया है । चिन्तन का आधार संदेह है । हम जो भी विश्वास रखते हैं, वे क्या गलत नहीं हैं ? वास्तव में, दुनिया में कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है, लेकिन यह शाश्वत है कि मैं संदेहशील हूँ या विचारवान् हूँ । संदेहशील होने का मतलब सोचना है, सोचने का मतलब होना या वर्तमान रहना है । मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ[3] ।

कान्ट बीइंग और चिन्तन को एकत्रित करने के विरुद्ध हैं । उन्होंने युक्ति एवं यथार्थ तथा चिन्तन एवं बीइंग के बीच द्वैतता की सृष्टि की है और स्थापित किया है कि वस्तुओं को केवल "उन्हीं" से नहीं समझा जा सकते[4] ।

हेगल ने चिन्तन और बीइंग को एक सूत्र में बाँधने का श्रम किया । उनकी दृष्टि में चिन्तन स्वयं विषय बनता है, इसलिए विषय के संबन्ध में सोच भी सकता है, जैसे कि मैं जानता हूँ कि "मैं क्या बन गया हूँ ?[5] उनकी दृष्टि में

---

1. Encyclopaedia of Religion and Ethics - James Hastings - Vol.2 p. 455.
2. The New Book of Knowledge - Grolier - Vol. 15 p.192.
3. History of Philosophy - Frank Thilly - p.305.
4. Ibid. p. 315.
5. "Hegel tried to show that thought is able to think its object because all nature and all history are in themselves the means by which thought becomes an object to itself - just as I know myself by what I have become" - Six existentialist thinkers - H.J. Blackham - p.7.

यथार्थ को सार और प्रत्यक्ष रूप, अन्दर और बाहर, वस्तु और गुण, शक्ति और उसकी अभिव्यक्ति, अनन्त और अन्त, मन और भूत, ईश्वर और ब्रह्माण्ड, इस प्रकार का विवेचन गलत है । वास्तव में, सार ही उसका प्रत्यक्ष रूप है, मन ही शरीर (भूत) है, ईश्वर ही ब्रह्माण्ड है । यों उन्होंने एक प्रकार की सामंजस्य पद्धति अपनाई[1] ।

अस्तित्ववादी दार्शनिकों की बीइंग संबन्धी धारणा

कीर्केगार्ड - अस्तित्ववाद के प्रणेता कीर्केगार्ड के अनुसार "अस्तित्व" (ह्यूमन बीइंग) "थिंग इन इट्सेल्फ" है जो विचाराधीन नहीं है । लेकिन चिंतन आशय है, शुद्ध बौद्धिकता तथा संभावना है । इसलिए ही अस्तित्व से अलग और कुछ है । फिर भी चिंतन का अस्तित्व के साथ संबन्ध है । अस्तित्ववान् व्यक्ति ही सोचने केलिए सक्षम है - मैं हूँ, इसलिए सोचता हूँ । यह देकार्त के चिंतन के ठीक विपरीत है । यह सोच उसके अस्तित्व का सबूत है । "अत: सोचनेवाले के वैयक्तिक अस्तित्व से संबन्धित रहना ही चिंतन का प्रथम एवं प्रमुख कार्य है"[2] ।

गब्रियेल मार्शल - मार्शल ने बीइंग और स्वत्व में भिन्नता दिखाते हुए बीइंग संबन्धी अपनी धारणा व्यक्त की है । बीइंग का प्रतिभास स्वत्व का प्रतिभास नहीं है । स्वत्व में अधिकारी और अधिकृत का संबन्ध बाह्य है । लेकिन बीइंग में यह संबन्ध आंतरिक है और मार्शल ने उदाहरण सहित इसको व्यक्त भी किया है । किसान का भूमि से और नाविक का सागर से संबन्ध मात्र संबन्ध नहीं है । इस संबन्ध का लक्ष्य केवल उपभोग नहीं है । भूमि किसान की संपत्ति ही नहीं बल्कि उसकी उपस्थिति और व्यक्तित्व का भी अभिन्न अंग है ।

---

1. Encyclopaedia Britanica - Volume 17 - p. 455.
2. "The prime and proper business of thought is with the thinkers personal existence" - Six existentialist thinkers - H.J. Blackham - p.8.

भूमि से उसका अलगाव उसकी उपस्थिति का ही नहीं बल्कि उसके व्यक्तित्व का भी नाश है । बुनियादी स्तर पर व्यक्ति का बीइंग से संबन्ध भी इस प्रकार है । मार्शल ने यहां "बीइंग" को आत्मा या चेतना का स्वरूप दे दिया है[1] ।

बीइंग और शरीर के संबन्ध के विश्लेषण करने पर यह बात और व्यक्त होगी । अनुभव के स्तर पर शरीर "मेरा अपना" है । शरीर एक भौतिक वस्तु है जो मुझसे जुडा हुआ है । और वह मुझे परिभाषित करता है । शरीरयुक्त आत्मा । लेकिन अनुभव के गहनतम स्तर पर मैं (अपना) शरीर हूं, मेरी उपस्थिति शरीर के रूप में है[2] । मैं ऐसा एक अक्तरित बीइंग हूं जिसे आत्मा और शरीर का अनुभव संप्राप्त है । यों शरीर को अस्तित्ववान् किया गया है । शरीर कभी भी एक विषय नहीं रहा है जिसका कोई विषयी है । शरीर आत्मनिष्ठता का निर्णायक रूप है ।

कार्ल जास्पर्स - जास्पर्स बीइंग के तीन रूप मानते हैं - (1) तत्र बीइंग (2) स्व बीइंग (3) स्वतंत्र बीइंग[3] ।

तत्र बीइंग - "तत्र" शब्द देशकाल से संबद्ध इकाई को सूचित करता है । तत्र-बीइंग प्रदत्त है । इसका निर्माण मनुष्य-चेतना नहीं करती है । लेकिन इसका अनुभव उसे होता है । यों वह अनुभूत्यात्मक है । इस अवस्था में मनुष्य-चेतना को चुनाव करने का अधिकार नहीं है । वह भौतिक परिवेश से आबद्ध है । वास्तव में उसका जन्म ही उसकी इच्छा से नहीं होता । उसे विशेष आकृतिवाला शरीर प्राप्त होता है । और शरीर से संबद्धित तत्वों को (शारीरिक तथा मानसिक) अनायास और अनिश्चित रूप में स्वीकार करने के लिए भी वह विवश है ।

---

1. World philosophy in summary - p. 1123.
2. Ibid. p. 1124.
3. Being there, Being oneself, Being in itself - Six existentialist thinkers - H.J. Blackham - p.44.

वह इन वस्तुओं को सोद्देश्य नहीं लेता । वह जन्मजात या प्रदत्त है । संक्षेप में इस अवस्था में मनुष्य अन्य वस्तुओं के समान केवल वस्तु है । "मनुष्य" नहीं बन पाया है । मनुष्य को अन्य वस्तुओं से अलग करनेवाली विशिष्टता - "स्वतंत्रता" - इस अवस्था में उसे संप्राप्त नहीं[1] ।

स्व बीइंग - इस स्थिति में मनुष्य तत्र बीइंग की अवस्था में रहते हुए मानसिक, शारीरिक तथा भौतिक परिवेशों के उल्लंघन करने का परिश्रम करता रहता है । वह अपनी स्वतंत्र सत्ता के निर्माण में संलग्न रहता है । जास्पर्स ने इसे आत्मा या आत्मचेतना कहा है[2] । वह केवल मेज़ {भौतिक अस्तित्व} या केवल विचार {मानसिक अस्तित्व} ही नहीं है, बल्कि वह वही है जो वह स्वयं चुनता है, वरण करता है, या निश्चित करता है । इस चुनाव में किसी बाह्य आदेश का बिलकुल प्रभाव नहीं है । अत: चुनाव और निश्चय के लिए उत्तरदायी स्वयं मनुष्य है । और यह भी द्रष्टव्य है कि तत्र-बीइंग में मनुष्य और भौतिक दुनिया का संबन्ध भी व्यक्त होता है[3] ।

स्वतंत्र बीइंग - यह अवस्था सूक्ष्म है । यह विषय और विषयी के द्वैत से स्वतंत्र एवं अतीत किंतु उन्हीं में परिव्याप्त तत्व है । लेकिन यह प्रक्रिया पूर्णता तक पहुंचती नहीं । वह पूर्णता की राह में, निरंतर पूर्णता तक पहुंचने की प्रक्रिया में है[4] । इसकी यह विशिष्टता है कि इसकी वैचारिक धारणा नहीं बनायी जा सकती बल्कि अनुभव प्राप्त कर सकता है । लेकिन यह स्व-बीइंग की प्राप्ति के बाद ही संभव है । यह तर्कातीत है कि यह बुद्धि का विषय नहीं हो सकता । इसका आत्मपक्षीय पक्ष ही प्रमुख है । अत: इसका अनुभव व्यक्ति-सापेक्ष है[5] ।

---

1. Six existentialist Thinkers - H.J. Blackham - pp. 48-49.
2. World Philosophy in Summary - p. 1004.
3. Ibid.
4. "There is indeed a sense in which spirit expresses the synthesis of empirical existence and consciousness as such. But this is a synthesis.which is never completed. It is always on the way an incessant striving which is never finished" - World Philosophy - p. 1006.
5. Ibid.

सार्त्र - सार्त्र के विश्लेषण में बीइंग की प्रकृति अतिप्रातिभासिक है । उसकी किसी प्रातिभासिक विशेषता से उसे पूर्णत: नहीं समझ सकते । कोई भी विशेष स्वरूप उसकी संपूर्ण विशिष्टता प्रकट नहीं करता । यह मूलभूत बीइंग दो रूपों में प्रकट होता हैं - (1) बीइंग फोर इट्सेल्फ* (चेतना) (2) बीइंग इन इट्सेल्फ** (वस्तु)

चेतना इस दुनिया में नहींत्व के रूप में प्रकट होती है और खुद उससे अवगत भी है । वह शुद्ध संभावना है । इसकी परिभाषा उलटबांसी जैसी है "यह वह है जो नहीं है और वह नहीं है जो है"[1] । यह अपूर्ण एवं अनिश्चित है । इसकी उत्पत्ति वस्तु से नकार की क्रिया द्वारा होती है । "चेतना बीइंग के अंदर एक कीडे के समान सर्पिलाकार पड़ी रहती है"[2] ।

हमेशा चेतना किसी भी तथागत वस्तु से अलग होती हुई दिखायी पड़ती है । मसलन "मैं चपरासी हूँ", कहते वक्त पूर्णत: चपरासी की अवस्था से अलग होने के भ्रम में हूँ । या मैं चपरासी होते हुए भी चपरासी नहीं हूँ । अर्थात् अब मैं जो हूँ, अगले निमिष में वह नहीं हूँगा । और अब मैं वह नहीं हूँ जो पूर्व निमिष में था । "मैं भूखा हूँ, मैं अकबर हूँ, मैं असंतुष्ट हूँ । इन अवस्थाओं से गुजरते हुए या इनसे सचेत होते हुए मैं इन से परे हो जाता हूँ । लेकिन इनसे अलग होकर भी ये वर्तमान रहती हैं । ये बार बार मुझे स्मृति में कचोटती रहती यों चेतना भूत, वर्तमान और भविष्य में उपस्थित रहती है"[3] ।

---

* Pour-soi (consciousness)
** En-soi (object)

1. "It is what it is not; it is not what it is" - Being and Nothingness - Sartre - p.399.
2. "Being for itself makes its appearance as a nothingness which lies coiled in the heart of being like a worm" - Ibid - p.56.
3. Six existentialist thinkers - H.J. Blackham - p.112.

"बीइंग इन इट्सेल्फ" अपने में स्वयं संपूर्ण है । वह बृहत् एवं स्थिर है । बाहर किसी से उसका कोई भी संबन्ध नहीं । चेतना को इससे अलग नहीं किया जा सकता । लेकिन वस्तु को चेतना से अलग किया जा सकता है । यह इसलिए नहीं कि चेतना पूर्ववर्ती एवं स्वतंत्र है बल्कि इसलिए कि चेतना नहीत्व के रूप में प्रकट होती है और वस्तु ज्यों का त्यों रहती है । एक उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट की जा सकती है । दर्पण के अन्दर कोई घटक नहीं होता, किन्तु उसके पास रखी हुई वस्तु दर्पण के अन्दर दिखाई देती है । दर्पण में दिखाई देनेवाली वस्तु दर्पण की वस्तु नहीं है । वह केवल वस्तु का प्रतिबिम्ब है । अत: चेतना किसी वस्तु की चेतना होती है, जैसे प्रतिबिम्ब किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब होता है[1] । संक्षेप में चेतना और वस्तु बीइंग के दो स्वरूप हैं जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता[2] ।

मार्टिन हेड़गर - हेड़गर की राय में बीइंग की समस्या को समझने केलिए हमें पहले शून्यता की समस्या से जूझना है । बीइंग की अभिव्यक्ति "जो वह नहीं है" का निषेध करके ही होती है । "जो वह नहीं है" को "नण्-बीइंग" या "शून्य कह सकते हैं[3] । बीइंग अपनी अभिव्यक्ति "नण-बीइंग" के साथ अपना संबन्ध सीमित करके ही कर सकती है । इसके विपरीत नण-बीइंग का निषेध करके बीइंग तक पहुंचा जा सकता है । अर्थात् नण्-बीइंग से बीइंग प्राप्त होता है । अत: हेड़गर ने बीइंग की समस्या को सुलझाने केलिए नण्-बीइंग की उद्भावना की है[4] ।

---

1. World Philosophy - pp. 1006-7
2. The ensoi and the poursoi are therefore modes of being related by an unbridgeable separation - Six exisstentialist Thinkers - H.J. Blackham - p.111
3. Existence and Being - Martin Heideggar - p.370.
4. Ibid. p. 377.

अस्तित्ववादी दर्शन के संघटक तत्व

(1) विसंगति (फूहड़ता, एब्सेर्ड़िटी)

विसंगति अस्तित्ववादी दर्शन का नियामक संघटक है । यह निर्वासन की भावना से उद्भूत होती है[1] । इसलिए विसंगति के विश्लेषण के पहले निर्वासन का विवेचन अवश्यंभावी है ।

वस्तुनिष्ठ रूप में निर्वासन उस संबन्ध-भंग की भावना है जो मानव और उसकी वस्तुओं के बीच होता है । ये वस्तुएं अन्य आदमी, वस्तुजगत या उसकी ही कलात्मक रचना या विज्ञान कोई भी हो सकती हैं । आत्मनिष्ठ रूप में यह मनुष्य की असंतुलित, अजनबीपन तथा उत्सुकता की अवस्था को सूचित करता है । असल में निर्वासन एक प्रतिभास है और इसका संबन्ध व्यक्ति तथा दल से होने की वजह से इसके विभिन्न आयाम भी हैं - जैसे मनोवैज्ञानिक, सामूहिक आदि[2] ।

पहले आध्यात्मिक क्षेत्र से संबद्ध करके इसका विश्लेषण हुआ । हेगल ने भी यही किया । उनकी राय में यथार्थ आध्यात्मिक है, इसलिए निर्वासन भी आध्यात्मिक तथा मन से संबन्धित है । उनका निर्वासन आत्मनिर्वासन है । वस्तुजगत अपने अनुरूप न होने के कारण मानव उससे विच्छिन्न रहता है । यों विच्छिन्न मानव अपनी अस्मिता का तादात्म्य अपने उस ईश्वर सदृश्य रूप से करने लगता है जिसमें वह हार जाता है । तादात्म्य के अभाव में उसकी अस्मिता विच्छिन्न अनुभव करने लगती है । फलत: उसका व्यक्तित्व विभाजित हो जाता है और अलगाव की भावना महसूस करने लगता है । यही आत्मनिर्वासन है ।

---

1. Myth of Sisyphus - Albert Camus - p.13.
2. Existentialism and Modern Predicament - F.H. Heinmann - p.9

इस आत्मनिर्वासन से तभी मुक्ति संभव हो सकती है जब व्यक्ति की अस्मिता वस्तुजगत से मिल जाय या उनमें परस्पर विरोध न रह जाय[1]।

सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्र में व्याप्त निर्वासन का भी हेगल ने विश्लेषण किया है। संस्कृति और संस्कार हमारे मन की सृष्टि हैं। धर्म, कला, दर्शन, विज्ञान और नियम भी हमारे मन से ही निःसृत हैं। इन सबकी सृष्टि करते हुए मानव अपनी आत्मा खो बैठता है और एक काल्पनिक दुनिया में जीने लगता है। अतः "मानवसृष्टियां जो उसके मन की ही अभिव्यक्ति हैं, उसे अपनी अस्मिता से अलग करती हैं और वे उसकी अस्मिता के भाग बन जाती हैं। यों मानव का आत्मनिर्वासन होता है और यह निर्वासन संस्कृति के हर आयाम में बना रहता है"[2]।

हेगल की राय में भाषा आत्मनिर्वासन का उत्तम उदाहरण है। भाषा मानव की सृष्टि है। लेकिन उसके कारक, प्रश्न-चिह्न, विराम-चिह्न, विभक्ति-प्रत्यय आदि भाषा बोलनेवाले या लिखनेवाले से विच्छिन्न रहते हैं। इनका संबन्ध उनसे है और नहीं भी है[3]।

हेगल के बाद मार्क्स ने हेगल के इस आध्यात्मिक निर्वासन को ठोस भौतिक आधार पर प्रस्तुत किया। उन्होंने हेगल के आशयवाद को भौतिकवाद में कायापलट करने के साथ आध्यात्मिक निर्वासन को उत्पादनात्मक निर्वासन में भी बदल दिया। मार्क्स केलिए यह निर्वासन सामाजिक विकास की एक विशिष्ट स्थिति का द्योतक था। उन्होंने सूचित किया है कि आदिम समाज में मनुष्य और उनके श्रम सामूहिक थे। सुपरिगठन-नींवाधार अभेदक थे। श्रमिक, कलाकार ही था। उस अवस्था में मानव आत्मनिवासित नहीं थे। आधुनिक समाज में

---

1. Existentialism and Modern Predicament - F.H. Heinmann - p.10.
2. Ibid.
3. Ibid. p.11

सुपरिगठन के आविर्भाव के साथ कला और अर्थतत्व में अन्तर्विरोध हो गया । श्रम के विभाजन से श्रमिक विशेषज्ञ हो गया । और औद्योगिक परिवेश में इस विशेषज्ञ ने कारखाने में मज़दूर बनकर अपनी विशेषज्ञता खो दी और मशीन का गुलाम बनकर माल में परिणत हो, अपनी अस्मिता से निर्वासित हो गया[1] । अत: आत्मनिर्वासन गुलामी की दशा है जिसमें मनुष्य कार्य की प्रक्रिया तथा श्रम की प्रपत्ति दोनों से अपना अधिकार तथा अनुराग खो देते हैं । इस दृष्टि से कलाकार भी आत्मनिर्वासन महसूस करता है । कलाकार कला-माध्यमों की पद्धति तथा विषय-वस्तु के विवेकशील निष्कर्ष का ज्ञान खोकर फूहड़ता का अनुभव करने लगता है[2] । वह इस अन्धी दुनिया में संत्रास और व्यथा भोगता है, अपने ही परिवेश में एकांकी हो जाता है ।

मार्क्स के अनुसार इस आत्मनिर्वासन से मुक्ति सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में क्रांति द्वारा सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन से ही संभव है क्योंकि इस त्रासद-निर्वासन को समाज का प्रतिनिधि वर्ग सर्वहारा ही बुरी तरह महसूस करता है[3] । इसके लिए कलाकार को भी उन सामाजिक संस्थाओं तथा गतिविधियों से संबन्ध रखना है जो सामाजिक व्यवस्था को बदलने में कटिबद्ध तथा प्रतिबद्ध हैं । अत: कलाकार को अनुबद्ध से प्रतिबद्ध होना है । यों प्रतिबद्धता तथा संघर्ष से ही आत्मनिर्वासन से मुक्ति संभव हो सकती है[4] ।

हेगल और मार्क्स को निर्वासन संबन्धी धारणाओं की तुलना से यही समझ में आता है कि यद्यपि दोनों में पर्याप्त अंतर है फिर भी इनके विश्लेषण और अवलोकन की रीति में समानता है । हेगल ने जिस प्रकार अस्मिता के परिप्रेक्ष्य में निर्वासन का विश्लेषण और अवलोकन किया था, यही प्रणाली वर्ग संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में मार्क्स ने भी अपनायी । मूलत: दोनों आशावादी थे[5] ।

---

1. Early writings - Marx (Economic and Philosophical Manuscripts) pp.323-24
2. क्योंकि अमय एक अशब्द है । - अंधेरे कुलन्त मेघ - पृ- १८
3. The proletariat represents the complete loss of man and can only regain itself, therefore by the complete resurrection of man - Marx's introduction to the criticism of Hegalian philosophy of the right.
4. Early writings - Marx - pp.323-24
5. Kant and the 19th Centuary - W.T. Jones - pp.233-34.

अस्तित्ववादियों की धारणा - अस्तित्ववादियों में सर्वप्रथम कीर्केगार्ड ने ही निर्वासन की अनुभूति महसूस की थी । सामूहिक और बौद्धिक परिप्रेक्ष्य में कीर्केगार्ड की यह अनुभूति, मार्क्स और हेगल की तुलना में गहरी और [illegible] त्रासद थी । उनका विचार था कि "अहं" "इदं" के द्वैत की समस्या के लिए कोई विवेक सम्मत निदान नहीं है क्योंकि मनुष्य अनित्य और मरणशील है, उसकी रचना में ही अन्तर्विरोध है । उसकी परिस्थितियां उसकी सक्षमता से परे हैं । अपनी अस्मिता में जो विभागीयता उन्होंने महसूस की थी वह बिलकुल असहनीय थी । इसके अलावा अपने ही अनुभव से वे समझ गये थे कि अस्मिता के अंदर और अस्मिता तथा वस्तुगत दुनिया के बीच जो निर्वासन है उसे पाटने, कोई युक्तिक वैज्ञानिक या आर्थिक प्रणाली सक्षम नहीं है । विश्वास की ओर प्लुति ही इसे समाप्त कर सकता है । वह विश्वास है, ईश्वर[1] ।

सार्त्र के अनुसार आत्मनिर्वासन व्यक्ति की प्रतिक्रिया की परिणति है । विश्वजनीन उपकरणपरकता में व्यक्ति स्वयं एक उपकरण मात्र है । पर व्यक्ति की कामना होती है कि सबको अपने लिए उपयोगी बनाये । और स्वयं उपयोगी बनने का प्रतिषेध करे । यह संकटपूर्ण स्थिति ही अंततोगत्वा आत्मनिर्वासन का कारण बन जाती है । "अन्य" की व्याख्या करते वक्त भी सार्त्र ने आत्मनिर्वासन [illegible] का उल्लेख किया है । अन्य की उपस्थिति स्वतंत्रता का अपहरण करती है । इससे आत्मनिर्वासन का बोध और तीव्र हो जाता है । फिर वरण के क्षण में ही इसकी समाप्ति होती है और उसे अपने स्व का बोध होता है[2] ।

कामू ने निर्वासन और उससे उद्भूत विसंगति का सर्वांगीण विश्लेषण किया है असल में कामू की वजह से ही अस्तित्ववादी दर्शन में विसंगति का समायोजन हो गया है । उन्हें "एब्सेर्ड दार्शनिक" कहा गया है[3] ।

---

1. Kant and the 19th Centuary - W.T. Jones - pp.233-34.
2. Six existentialist Thinkers - pp.134-135.
3. आस्तित्ववाद - कीर्केगार्ड से कामू तक - योगेन्द्र शर्मा - P.184.

कुन की राय में विशाल अर्थ में जो कोई निरर्थक हैं वे सब एब्सेर्ड है । "वह एब्सेर्ड हैं - इसका मतलब यह है कि वह असंभव तथा अंतर्विरोधी है । कोई आदमी केवल तलवार के सहारे मशीन बन्दूक धारण किये दल पर आक्रमण करता है । मेरी दृष्टि में उसकी यह प्रवृत्ति एब्सेर्ड है"[1] । इसका यह मतलब नहीं है कि विसंगति वस्तुनिष्ठ प्रवृत्ति तथा यथार्थ की तुलना से उद्भूत होती है । असल में विसंगति एक विच्छिन्नता है । वह द्वन्द्वता से उद्भूत होती है[2] ।

दुनिया में जीते हुए मनुष्य सदा प्रसन्न एवं सुखी रहने की कामना करता है । वह अनिश्चित समय तक जीना चाहता है । इसके लिए वह प्रकृति तथा अन्य मानवीय अस्तित्वों से निकट संबन्ध रखता है । लेकिन उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे विश्व की अवधारणा तथा अतार्किकता का मुकाबला करना पड़ता है । वह महसूसता है कि यह दुनिया अयुक्तिक है । वह अपनी सारी कामनाओं को नष्ट होते देख दु:खी बनता है और इसी कारण उसमें विसंगति जागृत होती है । संक्षेप में एब्सेर्ड मानवीय इच्छा तथा दुनिया के अयुक्त सन्नाटे की द्वन्द्वता से उद्भूत होती है । अयुक्तिकता, मानवीय नोस्टालजिया और एब्सेर्ड ये तीनों चेतना और अयुक्ति की द्वन्द्वता की सृष्टि है[3] ।

यों विसंगति मानव-मन के भीतर ही है । वह अगोचर, वैयक्तिक तथा अनुभूत्यात्मक है । लेकिन संप्रेषणीय नहीं है । यांत्रिक जीवन के हर क्षण या हर मोड पर इसकी अनुभूति हो सकती है - किसी गली के कोने में खडे होते हुए किसी "काफी हाऊस" के घूमद्वार में घुसते हुए या कभी भी[4] । वास्तव में हमारी रोज़मर्रा-ज़िंदगी का हर पल इसी विसंगति भावना से गुज़र रहा है - प्रात: उठना, गाड़ी पकड़ना, चार घण्टे कार्यालय या कारखाने में काम, भोजन करना, पुन: चार घण्टे

---

1. The Myth of Sisyphus - Albert Camus - p.33.
2. "The absurd is essentially a divorce. It lies neither of the elements compared. It is born of their confrontation." - The Myth of Sisyphus - p.33.
3. The absurd is born of this confrontation between the human need and the unreasonable silence of the world. ... The irrational, the human nostalgia and the absurd that is born of their encounter - Myth of Sisyphus - p.32.
4. Great works are often born on a street-corner or in a restaurant's revolving door. So it is with absurdity - The Myth of Sisyphus - pp.18-19.

काम, भोजन, नींद और सोमवार, मंगलवार, बुधवार - ज़िंदगी यों ही गुज़र जाती हैं - कुछ भी अर्थ नहीं रखती[1]। कभी कभी कतिपय क्षणों की मानवीय चेष्टाएं तक एब्सेर्ड लगती हैं। एक आदमी "ग्लास पानेल" के अंदर फोण पर बातें कर रहा है। हम उसकी आवाज़ सुन नहीं सकते। उसकी चेष्टाएं ही देख सकते हैं और हम महसूस करते हैं कि यह कैसी निरर्थकता है ?[2]

और यों जीते जीते हम महसूस्ते हैं कि समय हमारा शत्रु है। वह हमारी अभिलाषाओं तथा आकांक्षाओं को अवरुद्ध करता है। हम अपने भविष्य के करोड़ों सपने संजोए रहते हैं। कल या अगले बरस या नौकरी मिलने के बाद उन अभिलाषाओं की पूर्ति की संभावना में हर दिन गुज़ारते रहते हैं। लेकिन इंतज़ार करते करते हमारी जवानी कहीं खो जाती है और अचानक मृत्यु दरवाज़ा खटखटाने लगती है। यह कैसी विडंबना है। ऐसी ज़िंदगी जीने की क्या ज़रूरत है ?

अत: पूंजीवादी समाज का यांत्रिक जीवन व्यक्ति को इस समस्या का अहसास करा देता है कि उसका अपना कुछ मूल्य नहीं है। उसके अस्तित्व की उपादेयता के आगे प्रश्न चिह्न लगाया गया है। और वह यह भी महसूस्ता है कि वह अकेला, असहाय है, इस एकांत दुनिया में छोड़ दिया गया है। अपना परिवेश भी उसे अपरिचित लगता है। यों वस्तुगत दुनिया से अलगाव {निर्वासन} उसमें एक प्रकार की "नौसिया" {वमनेच्छा} उत्पन्न कराता है जिसकी वजह से परिचित प्राकृतिक वस्तुएं - पत्थर और पेड भी - अपरिचित लगती हैं।[3]

विसंगति का विश्लेषण करते हुए कामू ने इस एब्सेर्ड स्थिति को स्वीकार कर उसे अर्थपूर्ण बनाने की आवश्यकता पर भी ज़ोर दिया है क्योंकि यह कर्म का गोता जख्ता है जो मानव में स्वतंत्रता तथा इच्छा के भाव जाग्रत कराता है।[4]

---

1. The Myth of Sisyphus - Albert Camus - p.19.
2. Ibid. p.21
3. The absurd - Arnold P. Hinchliffe - p.36
4. Ibid. p.36

और जीने का मतलब भी इस एब्सेर्ड को जीवित रखना है[1]। पर उनकी राय में इसका यह मतलब नहीं कि हम इस एब्सेर्ड से बचने का प्रयत्न न करें। हमें ज़रूर इस निरर्थकता से बचना है। अतार्किकता से घिरी मानवीय नियति को अपनी प्रकृतिस्थता बनाए रखनी है। निरर्थक जीवन को सार्थक बनाना है। इसमें ही जीवन की सार्थकता है। तो यह कैसे संभव हो सकता है? कामू की राय में इसके दो ही उपाय हैं - आत्महत्या और विद्रोह। कामू का दार्शनिक ग्रंथ "सिसिफस के मिथक" (मिथ ओफ सिसिफस) का प्रारंभ ही आत्महत्या की समस्या से शुरू होता है - "असल में आज एक ही गंभीर दार्शनिक समस्या है-आत्महत्या की"[2] क्योंकि जीवन निरर्थक हो गया है, निरर्थक जीवन जीने का मतलब ही क्या है? इसलिए आत्मघात ही एकमात्र विकल्प रह गया है[3]। और जीवन के बारे में गंभीरता और गहराई से सोचनेवाला हर व्यक्ति रोज़मर्रा ज़िंदगी के किसी न किसी क्षण में आत्महत्या की इस गंभीर समस्या से ज़रूर टकराया होगा क्योंकि यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता को प्रमाणित करने का प्रयत्न है।

लेकिन कामू ने आत्महत्या के विरुद्ध तर्क भी प्रस्तुत किये हैं। वे कहते हैं कि पहले यह समस्या थी कि यह जीवन जीने योग्य है या नहीं, जीवन कोई अर्थ रखता है या नहीं? आज यह समस्या नहीं है और यह विचार प्रबल हो गया है कि यद्यपि जीवन का कोई अर्थ नहीं है, फिर भी उसे जीना है। जीने का मतलब एब्सेर्ड को जीवित रखना है। और उसके जीवित रखने का मतलब श्रद्धा से उसका निरीक्षण करना है[4]। अत: ज़िन्दा रहने के लिए एब्सेर्ड को निपटाना नहीं चाहिए इसलिए ही वे आत्मघात को अस्वीकारते हैं क्योंकि उसमें एब्सेर्ड निपट जाती है जैसे मृत्यु में होती है[5]।

---

1. 'Living is keeping the absurd alive'-The Myth of Sisyphus - Albert Camus - p.53.
2. There is one truly serious philosophical problem and that is suicide -The Myth of Sisyphus - Albert Camus - p.11.
3. One kills oneself because life is not worth living, that is certainly a truth" - Ibid. p.15.
4. Ibid. p.53
5. In its way, suicide settels the absurd. It engulfs the absurd in the same death. But I know that in order to keep alive, the absurd cannot be settled - Ibid. p.54.

तो एब्सेर्ड से बचने का एक ही उपाय रह गया है - विद्रोह । कामू की मान्यता है कि दार्शनिक व्यवस्थाओं में विद्रोह ही केवल एक युक्तियुक्त है[1] । प्रामाणिक अस्तित्व का सबूत है विसंगति का स्वीकार और उसके प्रति विद्रोह भाव[2] । यहाँ स्वीकार करने का मतलब विसंगत स्थिति का अहसास और वस्तु स्थितियों का स्वीकार है। जो वस्तुस्थितियों को स्वीकार करके विद्रोह करता है, वही सच्चा विद्रोही है ।

विसंगति का सही बोध ही मानव मन में विद्रोह भाव जगाता है । कामू लिखते हैं - "विसंगति का सही बोध मेरे मन में तीन सत्यों को जन्म देता है - जीवन के प्रति मेरी संसक्ति, मेरी स्वाधीनता और मेरा विद्रोह भाव[3]" । रेबल में उन्होंने लिखा है कि अयुक्तिकता का अनौचित्य तथा अपर्याप्त स्थिति से मुकाबला होने से ही विद्रोह प्रकट होता है[4] । आगे उन्होंने विद्रोही की परिभाषा यों दी है - "जो निषेध करता है, लेकिन जिसका निषेध संपूर्ण आत्मपरित्याग तक नहीं पहुंचता, और विद्रोह के क्षण से ही जिसका निषेध स्वीकार में बदल जाता है"[5]

कामू सच्चे विद्रोही के रूप में सिसिफस को प्रस्तुत करते हैं । सिसिफस विसंगति का प्रतिनिधि नाटक है । "सिसिफस देव लोक का शक्त एवं विद्रोही मज़दूर था[6]।" एसोपस की लड़की एजिना का देवता ज़ूपिटर ने अपहरण किया । एसोपस ने सिसिफस से सहायता मांगी और सिसिफस ने बेटी को छुडाने में मदद दी । फलत: देवताओं ने सिसिफस को कठोर दण्ड दिया । दण्ड यही था कि अधघाटी में एक भारी चट्टान को पहाडी के नीचे से ऊपर चोटी तक पहुंचाना ।

---

1. One of the only coherent philosophical positions is thus revolt Myth of Sisyphus - Albert Camus - p.54.
2. In order to exist man must rebel - Rebel, Albert Camus - p.22.
3. Myth of Sisyphus - Albert Camus - p.
4. Rebellion is born of the spectacle of irrationality confronted with an unjust and incomprehensible condition - Rebel - p.10.
5. What is a rebel ? A man who says, No, but whose refusal does not imply a renunciation. He is also a man who says yes from the moment he makes his first gesture of rebellion - Ibid. p.13
6. Myth of Sisyphus - Albert Camus - p.109.

ऊपर पहुंचकर वह चट्टान फिर नीचे आ जाती है । सिसिफस को उसे फिर ऊपर पहुंचाना होगा । यों यह काम अनवरत करते रहना होगा । सिसिफस को देवताओं ने काफी सोचकर ही दिया था कि निरर्थक श्रम से अधिक कठोर दण्ड और क्या हो सकता है[1] ? लेकिन सिसिफस यह काम करता रहता है, यह जानते हुए भी कि वह निरर्थक है । उसका यह श्रम विद्रोह है - विसंगति का स्वीकार और उसके प्रति विद्रोह । आधुनिक मानव की भी यही नियति है - इस निरर्थक ज़िंदगी को ढोते रहना, अनजान क्षणों में आ धमकनेवाली मृत्यु के इंतज़ार में ।

कामू विद्रोह पर इतना बल देते हैं कि विद्रोह को अस्तित्व की अनिवार्य शर्त मानते हैं । वे कहते हैं कि अस्तित्ववान् रहना है तो ज़रूर विद्रोह करना है[2] । विसंगत और विद्रोह स्थिति की तुलना करते हुए विद्रोह की विशिष्टता उन्होंने व्यक्त की है - "विसंगत स्थिति में हमारी विषमताएं वैयक्तिक होती हैं, विद्रोह के शुरू होते ही ये सामूहिक बन जाती हैं । विद्रोही मूल्यों का आधार एवं लक्ष्य समाज ही है - "मैं विद्रोह करता हूँ । इसलिए हम है"[3] । सामूहिकता को अपने में समेटते हुए भी विद्रोह की अनिवार्य शर्त मानव की एकप्राणता है और इसकी वजह से विद्रोह को औचित्य भी मिल जाता है[4] । और जिस पल से इस एकप्राणता का निषेध या नाश होने लगेगा तभी से वह विद्रोह कहने योग्य नहीं रह जाएगा ।

कामू ने विद्रोह और क्रांति की तुलना करते हुए विद्रोह को स्वीकार करने का उपदेश दिया है । वे कहते हैं कि क्रांति का लक्ष्य बलपूर्वक या सायास एक नये अस्तित्व की संरचना का प्रयत्न है जिसमें नैतिक बंधनों की कोई मान्यता नहीं है । उस में मानव का कोई मूल्य नहीं है, वह इतिहास का खिलौना मात्र रह जाता है[5]

---

1. Myth of Sisyphus - Albert Camus - pp.107-8
2. "In order to exist, man must rebel " - Rebel - Albert Camus -p.2
3. In absurdist experience, suffering is individual. But from the moment when a movement of rebellion begins suffering is seen as collective experience. Rebellion founds its first value on the whole human race - I rebel, Therefore we exist. - Ibid. p.22.
4. "Man's solidarity founded upon rebellion and rebellion, in its turn can only find its situation in this solidarity" - Ibid.
5. Ibid. p.250.

क्रांति द्वारा मानव उच्च स्तर पर पहुंचना चाहता है । लेकिन कामू पूछते हैं कि यदि सब कहीं निरर्थकता का घटाटोप है तो उच्च-स्तर की कामना से क्या होता है ? और यदि ज़िंदगी बीभत्स तथा दारुण है तो अमरत्व की उपादेय ही क्या है ?[1]

कामू ने "फाज़िसम" और साम्यवाद को एक ही धरातल से आंका है । वे कहते हैं कि "फाज़िसम" का लक्ष्य अधिकतम मानवों को बलात गुलाम बनाके न्यूनतम की सुरक्षा एवं स्वतंत्रता है । लेकिन साम्यवाद तत्काल सभी को गुलाम बनाके संपूर्ण मानव-जाति की मुक्ति का सपना देखता है । असल में हमारी क्रांति धारणाएं झुकने तथा समझौते की हो गयी हैं; विद्रोह की नहीं रह गयी हैं । और वर्तमान युग निजी एवं सार्वजनिक हत्याओं के तकनीक का युग हो गया है[2] ।

कामू की राय में अस्तित्ववादियों की धारणा है कि विद्रोह से क्रांति की ओर परिणति संभव है और यदि विद्रोही क्रांतिकारी नहीं बनता है तो उसके विद्रोही रहने से कोई मतलब नहीं है । लेकिन कामू स्वयं इस धारणा के विरुद्ध तर्क पेश करते हुए कहते हैं कि क्रांतिकारी, क्रांतिकारी होने के साथ विद्रोही भी है । यदि वह विद्रोही नहीं है तो वह क्रांति-कारी भी नहीं बनेगा बल्कि विद्रोह का निषेध करनेवाला पुलीस या ब्यूरोक्राट बन जाएगा[3] । क्रांति का निषेध करनेवाला ही सच्चा विद्रोही है ।

विद्रोह किसी भी ऐतिहासिक धारणा को मान्यता नहीं देता । उसकी मांग एकता की है, लेकिन ऐतिहासिक क्रांति सम्राता की मांग करती है ।

---

1. Man wants to reign supreme through revolution. But why reign supreme of nothing has any meaning ? Why wish for immortality if the aspect oflife is so hideous - Rebel - Albert Camus - p.247
2. Ibid. p.247.
3. The revolutionary is simultaneously a rebel or he is not a revolutionary but a policeman and a burecrat who turns against rebellion. Ibid. p.248.

एक सक्रिय है तो दूसरा शून्यवादी । विद्रोह सृजन की ओर उन्मुख हो, संपूर्णता की ओर बढता है तो क्रांति निषेधात्मकता की चरम स्थिति की ओर गति-शील है[1] । और विद्रोह की मान्यता है कि एक नये अस्तित्व की संरचना के लिए जो हम नहीं है, हत्या तथा मृत्यु को अपनाने के बजाय, हमारी अंतर्निहित शक्ति को उभारने तथा अपने को बनाने केलिए जीना है और जीने देना है[2] ।

आत्मनिष्ठता (वैयक्तिकता) - दर्शन शास्त्र के प्रारंभ से ही व्यक्ति, व्यक्ति का वस्तुजगत तथा समूह के साथ संबन्ध आदि बातों पर दार्शनिक विचार करते आये हैं*। पश्चिमी दर्शन के महत्वपूर्ण दार्शनिक प्रोटोगेरस ने सबसे पहले समष्टि को अस्वीकार कर व्यक्ति को ऊपर उद्‌भासित कर दिया । उन्होंने व्यक्ति की परिभाषा यों दी है - व्यक्ति सविशेष, अपरिवर्तनशील एवं घटनात्मक है[3] । इसके बाद "एपिक्यूरस" ने व्यक्ति का शांत एवं सुखमय जीवन पर ज़ोर देकर सबसे पहले व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता को वरीयता दी । लाइबनीज़ ने व्यक्ति-महत्ता पर ज़ोर देकर "लाक" के इन्द्रियानुभव तथा देकार्त के सहज प्रत्यय का अपने ज्ञान-सिद्धान्त द्वारा खण्डन किया । उनका सिद्धान्त है कि आत्मा में अनंतकाल से विभिन्न प्रत्यय उपस्थित रहते हैं और बाह्य परिस्थिति उन्हें उद्‌दीप्त करके धरातल पर लाती है[4] । हेगल भी व्यक्ति की गरिमा का आकांक्षी थे । उन्होंने घोषणा की थी कि एक सभ्य समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने आप एक उद्‌देश्य रखता है । अन्य उसके लिए कुछ भी नहीं होते । फिर भी वह अन्यों से संबन्ध रखता है कि इसलिए कि अन्य उसके विशेष उद्‌देश्यों की प्राप्ति का माध्यम होते हैं[5] ।

आधुनिक युग में औद्योगिक एवं मशीनीकरण की सामाजिक व्यवस्था की वजह से व्यक्ति की वैयक्तिक सत्ता क्षीण पड़ती गयीं । व्यक्ति केवल यंत्र का पुर्जा

---

1. Rebel - Albert Camus - p.252.
2. Ibid.
* "Man is the measure of all things, of the existence of things that are and the non-existence of things that are not." The Concise Encyclopaedia of Western Philosophy and philosophers - Ed. by J.O. Urmson - p.243.
3. A critical study of Greek Philosophy - W.T. Stace - p.354.
4. The Concise encyclopaedia of Western Philosophy and Philosopher pp. 153-54.
5. History of Philosophy - John Levis - pp. 142-43.

मात्र बन गया । मार्क्सवाद के प्रभाव से सामूहिकता अपनी सीमा में पहुंच गयी । इन सबकी प्रतिक्रिया भी हुई । 1944 में मैक्स स्टिर्नर के ग्रंथ "दि ईगो एन्ड हिस ओण" का प्रकाशन हुआ । इसमें उन्होंने उद्घोषणा की कि केवल मैं ही मूल तत्व हूँ, मैं जब उन सबसे अपने आपको मुक्त कर लेता हूँ, जो मैं नहीं हूँ तो क्या बचा रहता है ? और कुछ नहीं, मात्र मैं बहुत सारे मैं से कुछ नहीं हूँ । मैं केवल एक और एकमात्र मैं हूँ ।

अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने मानव की इस त्रासद स्थिति के विरुद्ध आवाज़ उठायी । अपने उन्मेषकाल में ही उन्होंने व्यक्ति को गरिमा और महत्व का प्रतिपादन किया । भीड़ में गुमराह हो गए अकेला मानव मौन शहादत केलिए विवश है । उसकी रक्षा करनी है । और घड़ी के टिक-टिक पर चलनेवाली औद्योगिक समाज की रोजमर्रा ज़िंदगी की भौतिक ज़रूरतें के संकुचित दायरे से बाहर निकालकर मानव को सत्व के क्षेत्र में पुनः स्थापित करना है*। यही उनके ध्येय एवं आग्रह थे । अतः अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने व्यक्ति सत्ता के सम्मान का पुनः समाकलन करना चाहा और इसके लिए सदा कटिबद्ध रहे ।

इसकी शुरुआत की थी कीर्केगार्ड ने**। वे हमेशा व्यक्ति का हिमायती रहे थे । उनकी दृष्टि में समूह हमेशा एक दानव रहा । उन्होंने समूहवाद का सख्त विरोध किया । उनकी धारणा थी कि इस प्रक्रिया में मनुष्य की वैयक्तिकता का ह्रास होने की संभावना है । समाज हमेशा बिना सोचे समझे बेपरवाह व्यक्ति को हमवार करने सन्नद्ध रहता है । अपनी इसी व्यक्ति निष्ठता के कारण ही कीर्केगार्ड ने चर्च के निमंत्रण और बंधनकारी व्यवस्था का विरोध किया था । उनकी दृष्टि में असली ईसाई सभ्यता व्यक्तिगत आत्म-सकाइयों का समूह है और इसलिए ही वे चर्च के आतंक एवं कट्टरता के होते हुए भी ईसाई आस्था पर कटिबद्ध रहे[2] ।

---

1 प्रस्तुत दीक्षित द्वारा उद्धृत - आस्तित्ववाद और नयी कविता - पृ. 34.

* A History of Modern Philosophy - Frederick Mayer - p.500.

** Subjectivity is the obivious starting point for such a doctrine and here again the ancestor is Kierkegaard - Age of reason - Sartre - Tr. by Eric Sutton.

2. Existentialism For and Against - Paul Roubiczek - pp. 70-71.

उनका दर्शन तीन धुरियों के आस-पास घूमता है - सत्य, निर्वाचन और ईश्वर । सत्य हमेशा आंतरिक और वैयक्तिक होता है । अर्थात् हमारी आंतरिकता ही सत्य है[1] । या आंतरिकता को पहचान सकनेवाला ही सत्य से भी अभिज्ञ हो सकता है । और सत्यं, शिवं और सुन्दरं से बड़ा नहीं है, पर सत्यं, शिवं और सुन्दरं निश्चित रूप से अस्तित्व के बुनियादी तथ्य हैं और एक अस्तित्ववान व्यक्ति में ही ये तीनों समन्वित हो सकते हैं[2] ।

कीर्केगार्ड की दृष्टि में ईश्वर भी वैयक्तिक है, इसलिए व्यक्ति की आंतरिकता में ही उनकी उपलब्धि हो सकती है । यों कीर्केगार्ड ने "व्यक्ति की आंतरिकता" का जो दस्तावेज़ प्रस्तुत किया वह बाद में विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्ति गरिमा की प्रतिष्ठा का अद्भुत माध्यम हो गया ।

जास्पर्स ने भी कीर्केगार्ड के "व्यक्ति की आंतरिकता" को मान्यता दी । उनके अनुसार मनुष्य की आत्मचेतना उसकी निजी एकांतिकता तथा स्वतंत्रता ही है[3]। मनुष्य के समस्त कार्य व्यापार किसी न किसी रूप में "उसके" स्व को सीमित करते हैं । आत्मचेतना पर बल देते हुए बाह्य जगत से न कट जाने की बात भी उन्होंने कही है । इसके लिए जास्पर्स ने "संपर्क संचार" की उद्भावना की है । मनुष्य की स्वतंत्र्य चेतना उसकी अंतरात्मा को अस्तित्व के स्तर पर जाग्रत तो करती है पर साथ ही उसी चेतना से यह बोध भी होता है कि मनुष्य का अस्तित्व जगत् की अनेक स्थितियों से भी जुड़ा है । ऐसी स्थिति में व्यक्ति-जीवन और सार्वजनिक जीवन में टकराव होने की संभावना है । इससे बचने के लिए दोनों के बीच संपर्क आवश्यक है ।

---

1. To Kierkegaard truth was not an objective standard but an unending search, a subjective awareness - A History of Modern Philosophy - Frederick Mayer - p.467.
2. Introduction to Philosophy - H.Gene Blocker, William Hannabord - pp. 246-47.
3. "Self consciousness when it is thoroughly awakened is consciousness of my solitude and my liberty" - quoted in Six existentialist thinkers - H.J. Blackham - p.48.

हेडगर की राय में मानव-जीवन का अर्थ ही "व्यक्ति का होना" है*। अर्थात् भौतिक जगत् तथा अन्य व्यक्तियों के संपर्क से पैदा होनेवाली स्थितियों में मनुष्य अस्तित्व को बनाये रखना । व्यक्ति जिस तरह सोचता है, कर्म करता है, संबन्ध स्थापित करता है, ये सभी उसके अस्तित्व के विविध पहलू हैं**। और अस्तित्व संभावना, अनियत, अनिर्मित तथा अपूर्ण है । व्यक्ति अपने अस्तित्व निर्माण की ओर आगे बढने के साथ व्यक्तित्व भी उद्भासित होने लगता है ।

पूर्ववर्ती दार्शनिकों के प्रभाव से व्यक्ति की आत्मनिष्ठता में जो कमी हो गयी थी उसकी पुन:स्थापना ही नित्शे का लक्ष्य था । वे डार्विन के सिद्धांत से प्रभावित थे, पर मानव और पशु की बुनियादी भिन्नता से भी अवगत थे । उन्हें डर भी था कि डार्विन के प्रभाव से व्यक्ति मानव की विशिष्टता की क्षति होने की गुंजाइश है । अत: वे व्यक्ति मानव को महत्ता देने लगे और इस श्रम में "अतिमानव" की कल्पना तक पहुंच गए । नित्शे के अतिमानव की यह विशिष्टता है कि उसके लिए सत्ता के भद्र या अभद्र रूप की परवाह नहीं है क्योंकि वही यह निश्चय करता है कि वह क्या बनना चाहता है ? इस निश्चय के बाद वह स्वयं अपने रूपायन में लग जाता है । और उनकी राय में जो अपने मनुष्यत्व, शक्ति, आशा, आकांक्षा और दुर्बलता पर विजय प्राप्त करने में सक्षम होता है वही अतिमान के स्तर पर पहुंचा जा सकता है[1]। मनुष्य की दृष्टि में जैसा बंदर है, वैसा अतिमानव की दृष्टि में मनुष्य है । लेकिन उसमें मानव, पशु और अतिमानव के बीच की खाई पाटने की क्षमता होनी है । असल में मनुष्य स्वयं मंजिल नहीं, मंजिल तक पहुंचने का साधन है । या मनुष्य, पशु और अतिमानव के बीच तनाया गया एक रस्सी है[2]। मनुष्य अतिमानव की मंजिल की ओर बढ भी सकता है और पीछे हट भी सक ता है । और अतिमानव की मंजिल तक मनुष्य का ऊर्ध्वगमन

---

* Human existence, thus understood, Heidegger also calls 'transcendence' - Heidegger - Through Phenomenology of thought William J. Richardson S.J. - pp. 35-36.

** Six existentialist thinkers - H.J. Blackham - p.101.

1. Overman in fact are just those rare individual who become masters by mastering themselves and their powers and their passions and their weaknesses - Kant and the 19th Century -pp.2!

2. Quoted in History of Philosophy - Will Durant - p. २५६

उसके अपने प्रयासों तथा उसके प्रभुत्व की इच्छा पर निर्भर रहता है ।

नित्शे का विश्वास है कि हम अति-मानव की सृष्टि कर सकते हैं । अतिमानव में बल, बुद्धि और गर्व का समन्वय रहता है । इस समन्वय केलिए श्रेष्ठ-पुरुषों का श्रेष्ठ नारियों के साथ विवाह होना है । और उनसे उत्पन्न स्वस्थ बालकों को विशेष प्रशिक्षण देकर विकास करना है*। निश्शे का विचार है कि मनुष्य जीवन का लक्ष्य ही श्रेष्ठ व्यक्तियों को जन्म देकर विकास करना है । उनकी राय में व्यक्ति ही प्रमुख है । समाज व्यक्ति की शक्ति और व्यक्तित्व को बढाने का साधन मात्र है । स्वयं समाज साध्य नहीं हो सकता ।

यों सृजित मानव की विशिष्टताओं पर भी नित्शे ने प्रकाश डाला है । उसमें तूफान और बिजली की शक्ति होती है । वह सत् और असत् से परे रहता है । यदि वह चाहे तो असत् भी बन सकता है । उसका मुख्य उद्देश्य शक्ति संचय और निडर रहना है । उसमें खतरों से मुकाबिला करने का ही नहीं, आमन्त्रित करने का भी शौक रहता है । वह किसी भी संकट में पडने से भी नहीं डरता । इसका यह मतलब नहीं कि अतिमानव सिर्फ शक्ति प्रदर्शक है । वह हमेशा ईमानदार एवं सभ्य व्यवहार ही करेगा । इसका कारण भी है कि कभी भी दुरुस्त मनुष्य दूसरों को हानि पहुंचकर शक्ति-प्रदर्शन करना नहीं चाहेगा । कभी रचनात्मक प्रक्रिया के संदर्भ किसी की हानि होना स्वाभाविक है । नित्शे का यह भी मत है कि जिनमें अतिमानव बनने की क्षमता नहीं है उन्हें अतिमानवों की सेवा एवं सहायता करनी चाहिए[1] ।

नित्शे का अतिमानव प्रेम के भोगवादी रूप को ही स्वाभाविक मानता है । मदिरा, संगीत और शत्रु पर विजय यही उसके मनोरंजन के साधन हैं । उसकी एक

---

*. Existentialism - For and Against - Paul Roubiczek - p.35.

1. Kant and the 19th Century - Ramakant Sinari - pp.256-57..

विशिष्ट गुण है - सर्जनात्मकता । सोचिए अतिमानव एक राजनीतिज्ञ है, तो वह एक उच्च स्तरीय एवं गरिमामय समाज के लिए वर्तमान समाज को तहस-नहस करेगा, जैसे सिकन्दर और सीज़र ने एक नये साम्राज्य की संरचना के लिए ग्रीक नगर और रोमन जनतंत्र का नाश किया था । नित्शे के अतिमानव की सूचि में इनके नाम आते हैं - सिकन्दर, सीज़र, नेपोलियन आदि[1] ।

नित्शे नैतिक मान्यताओं को भी व्यक्ति - केन्द्रित ही मानते हैं । उनकी राय में अब तक की नैतिक मान्यताएं ईश्वर के आधार पर समष्टि केलिए रचित थीं । नित्शे इन्हें मान्यता नहीं देते । वे कहते हैं कि नैतिक मान्यताओं का आधार व्यक्ति है और इसलिए वे व्यक्ति सापेक्ष ही हो सकती हैं । जो समष्टि को लेकर चलती हैं वे झूठी एवं अव्यवहारिक है*।

नित्शे की मान्यता है कि मानव-समूह का विकास भी अतिमानव द्वारा ही हो सकता है । समग्र मानव-जाति विकास नहीं कर रहा है । विकास अतिमानव द्वारा ही संभव है ।

सार्त्र ने भी व्यक्ति की आत्मनिष्ठता पर ज़ोर दी है । व्यक्ति का अपना अस्तित्व है । उसे वरण करने की स्वतंत्रता है । पूरी संचेतना और जिम्मेदारी के साथ अपने भविष्य के सृजन के लिए भी वह स्वतंत्र है । अत: अपने व्यक्तित्व तथा भविष्य का वह स्वयं जिम्मेदार है । लेकिन सार्त्र की यह भी मान्यता है कि व्यक्ति अपने प्रति जिम्मेदार होने के साथ समाज के प्रति भी जिम्मेदार है[2] । अत: व्यक्ति द्वारा सामाजिक परिवर्तन या विकास संभव है । इस पर ध्यान आकृष्ट करते हुए डा॰ श्याम सुन्दर मिश्र यह दावा करता है कि

---

1. Existentialism - For and Against - p. 33.
* Story of Philosophy - Will Durant - p.436.
2. Existentialism and human emotions - Sartre - pp.13-14.

अस्तित्ववाद को व्यक्तिवादी चिंतन-धारा से बढ़कर वैयक्तिकतावादी चिंतन-धारा मानना ही उचित है । व्यक्तिवाद में व्यक्ति समाज-सापेक्ष इकाई के रूप में प्रकल्पित न होकर अहं परक व्यक्ति के रूप में व्यंजित है । वैयक्तिकतावादी तत्वचिंतन व्यक्ति पर आस्था व्यक्त करते हुए भी उसकी आंतरिकता पर बल देता है और उसके सामाजिक एवं ऐतिहासिक परिवेश तथा अर्जित संस्कार आदि की भी तथ्यात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है । अस्तित्ववाद में भी व्यक्ति समाज से अलग नहीं है, वह अपने व्यक्तित्व की अवधारणा और उसके निर्माण में समाज के साथ संबन्ध जोड़ता है ।[1] और डा॰ बलभद्र तिवारी ने अस्तित्ववाद में परिलक्षित घोर व्यक्तिवाद को उभारकर दिखाया है - अस्तित्ववादी दर्शन मनुष्य की स्वतंत्र सत्ता पर ज़ोर देता है । और यही कार्य व्यक्तिवाद अपनी चरम सीमा में करता है । इसी कारण अस्तित्ववादी दर्शन को घोर व्यक्तिवादी दर्शन की भी संज्ञा दी जाती है[2] ।

अस्तित्ववाद को जो भी संज्ञा दी जाय, यह बात निर्विवाद है कि वह व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता और समाज के साथ उसके संबन्ध पर ज़ोर देता है । मार्क्स की यह दृष्टि रही है कि मनुष्य अपनी अद्वितीयता के कारण ही एक यथार्थ व्यक्तित्व से युक्त सामाजिक जीव बनता है । इसका सामाजिक रूप अद्वितीय होने पर भी वह अपने आप समग्रता भी है । व्यक्ति समाज का आत्मनिष्ठ रूप या सामाजिक अस्तित्व का यथार्थ प्रतिनिधि है । उनकी यह भी मान्यता है कि व्यक्ति-अस्तित्व स्वयं एक सामाजिक प्रवृत्ति है । वह विघटित, अपूर्ण एवं विकल मनुष्य को पूर्ण बनाने केलिए सक्षम है । लेकिन यह समाज के द्वारा और उसके विकास के साथ ही संभव है[3] । पर अस्तित्ववादी दार्शनिक समाज के माध्यम को नहीं मानेंगे । सार्त्र ने खुली घोषणा की है कि अस्तित्ववाद का पहला तथ्य यह है कि मानव वही है जो स्वयं बनाता है । आत्मनिष्ठता का मतलब भी यही है[4]

---

1 आस्तित्ववाद और द्वितीय आमरेतर हिन्दी साहित्य - P-P-10-11
2 आधुनिक साहित्य की मार्क्सवादी भूमिका - P-35.
3. ~~Existentialism and human emotions - Sartre - p.~~
4. ~~Ibid. p.~~

3. Nevertheless historical development is not determined by exceptional individuals but the movement classes, and the exceptional individuals play their role as representatives or leaders of classes-
4. Existentialism and Human emotions- Sartre- P.12. Dialectical Materialism - Maurice Cornforth - P. 152

स्वतंत्रता

स्वतंत्रता मानवत्व का नींवाधार मूल्य है । प्रत्येक युग में मानव ने इस मूल्य के लिए प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश से संघर्ष किया था, और आज भी यह ज़ारी है । आधुनिक युग में वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास की वजह से एक ऐसी त्रासद स्थिति मौजूद हो गयी है कि स्वयं मानव द्वारा निर्मित उपादान उससे महत्वपूर्ण ही नहीं बल्कि उसका स्वामी हो गया है । विश्वगत उपकरणपरकता अपनी चरम परिणति में स्वयं मानव-विरोधी और अमानवीय बन गयी है । उसके समक्ष प्रत्येक व्यक्ति उपकरण मात्र है । उसका अपना व्यक्तित्व कहीं खो गया है । उसकी यह त्रासदी हो गयी है कि वह जिस परिवेश से घिरा है, उसके लिए उसका कोई कसूर नहीं, फिर भी उसी की वजह से उसकी स्वतंत्रता जकड़ रही है । जटिल यांत्रिक व्यवस्था ने उसके मानवत्व का हनन किया है, मृत्यु भी आज सहज नहीं रह गयी है ।

अस्तित्ववादी दार्शनिक एवं साहित्यकारों ने व्यक्ति की इस त्रासद-स्थिति को गहनतम रूप में महसूस किया और उसे इस परिवेश से उबारना चाहा । उन्होंने व्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक हैसियत की बुलन्दी लगा दी । उन्होंने यह भी समझाया कि आधुनिक युग के इस विद्रूप और संकट से उबारने का एक ही तरीका है कि हम परिवेश के परिवर्तन के लिए चेष्टाशील रहें । सार्त्र ने कामू को लिखा था कि आज इसके सिवाय हमारी कोई स्वतंत्रता नहीं है कि हम स्वतंत्र होने के लिए संघर्ष हेतु स्वतंत्रता का वरण करें[1] ।

अस्तित्ववादी स्वतंत्रता - अस्तित्ववाद के अनुसार स्वतंत्रता मनुष्य अस्तित्व का बुनियादी संघटक है[2]। अस्तित्ववादी, दार्शनिक होने के साथ साहित्यकार भी थे ।

1. Our liberty today is nothing except the free choice to fight in order to become free - Situations - Sartre - p.90.
2. The Age of Reason - Jean Paul Sartre - Introduction by Henri Peyr

इसलिए भी उन्हें स्वतंत्रता जीवन-मरण की समस्या रही, साधन ही नहीं साध्य भी रही । मार्शल ने कहा है कि मेरा अस्तित्व मेरी स्वतंत्रता है । अपनी मर्जी से रखने या अलग करने की स्वतंत्रता । ज़िंदगी के हर मोड़ पर न या हां की स्वतंत्रता[1] । जास्पर्स के अनुसार, मनुष्य के पास कोई निर्धारित बंधी बंधाई तत्व या मूल प्रकृति नहीं है, फिर भी उसकी स्थितियां तथा सही वरण एवं स्वतंत्रता उसे असली अस्तित्व का बोध कराती हैं । अस्तित्व का वास्तविक अर्थ व्यक्ति की अपनी मौलिक स्वतंत्रता और उसके आधार पर अभीष्ट वरण की पूरी छूट है[2] । सार्त्र का विचार है कि मनुष्य अपनी सभी स्थितियों के लिए स्वयं उत्तरदायी है, इसलिए अस्तित्व का मुख्य अर्थ है - स्वतंत्रता[3] ।

यह स्वतंत्रता कोई बाहरी वस्तु नहीं है । यह मानव की अंतरात्मा की देन है । मानव में यह अपने आप निसृत होती है । सार्त्र कहते हैं कि स्वतंत्रता मूल रूप में व्यक्ति-मानस में निहित चेतना है और यह भविष्योन्मुख रहती है[4] । जास्पर्स की मान्यता है कि स्वातंत्र्य चेतना अंतरात्मा के वैयक्तिक स्तर पर जाग्रत होती है । वे लिखते हैं - "बिना निर्णय के वरण नहीं, बिना इच्छा के निर्णय नहीं, बिना कर्म के इच्छा नहीं और बिना अस्तित्व के कर्म संभव नहीं[5] ।" अत: स्वतंत्रता अस्तित्व की नियामक प्रवृत्ति है ।

अस्तित्ववादी दार्शनिकों केलिए स्वतंत्रता सिर्फ स्वतंत्रता नहीं है । स्वतंत्रता वरण (चयन) करने की स्वतंत्रता है[6] । मनुष्य अपने स्वतंत्र चयन द्वारा अपने अस्तित्व को सार्थक बना देता है । जब तक मनुष्य स्वतंत्र रहकर चयन नहीं

---

1. "The I is so, to ~~see~~ speak, defined by its liberty, the possibility in the face of life to accept or to refuse it - Quoted in - Six existentialist thinkers - H.J. Blackham - p.71.
2. Existence for me is the active choice of myself in liberty - Ibid. p.48.
3. Existentialism and human emotions - Sartre - p.28.
4. Being and Nothingness - Sartre - pp.618-19.
5. "No choice without decision, no decision without will, no will without duty, no duty without being." - Six existentialist thinkers - p. 50.
6. Ibid. p.50.

करता और इस चयन के अनुसार कार्य नहीं करता तब तक वह अस्तित्वहीन रह जाता है । इसलिए ही जास्पर्स कहते हैं कि चयन में ही मैं हूँ, यदि मैं चयन से निकल जाता हूँ तो मैं नहीं रह जाता हूँ[1] । सार्त्र कहते हैं कि स्वतंत्रता चयन करने की स्वतंत्रता है, न कि न चयन करने की । वास्तव में न चयन करना भी एक प्रकार का चुनाव है[2] । मैं चाहूं तो यह या वह चुन सकता हूँ, लेकिन मुझे चयन से छुटकारा नहीं मिल सकता । अत: चयन, चुनी गयी वस्तुओं का आधार है, न कि चयन की प्रक्रिया का ।

चयन करने की स्वतंत्रता मनुष्य को अन्य जीवों से अलग कर देता है । जिस वस्तु या जीव को चयन करने की स्वतंत्रता नहीं है, उसका अस्तित्व हो ही नहीं सकता । "यह पत्थर है" - यों कह सकते हैं, लेकिन "यह पत्थर अस्तित्व है", इस प्रकार कह नहीं सकते क्योंकि पत्थर को चयन करने की स्वतंत्रता नहीं है । अत: अस्तित्व जड नहीं, चलनात्मक है । यह चलनात्मकता उसे स्वतंत्रता की वजह से ही प्राप्त होती है । संक्षेप में चयन करने की स्वतंत्रता अस्तित्व का बाहरी रूप मात्र नहीं, बल्कि स्वयं अस्तित्व है[3] ।

चयन करने की स्वतंत्रता मनुष्य की महान् उपलब्धि है । यदि पेड पर बैठी चिड्या पर पत्थर फेंक दे तो वह चिड्या तुरंत उड जाएगी । लेकिन पार्क में बेंच पर बैठे मनुष्य पर पत्थर फेंक दे तो, वह क्या करेगा ? हम भविष्यवाणी नहीं दे सकते । मनुष्य के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि विशेष संभाव्य परिस्थिति में वह उसी विशेष संभाव्य प्रकार से व्यवहार करेगा जैसा कि वैज्ञानिक जल के विषय में कह सकता है कि संभाव्य विशेष तापमान में जल संभाव्य विशेष बाष्प में परिवर्तित हो जाएगा । अत: मनुष्य पूर्णत: स्वतंत्र है । उसके भविष्य के

---

1. Six existentialist thinkers - H.J. Blackham - p.56.
2. "In addition freedom is the freedom of choosing but not freedom of not choosing. Not to choose is in fact, to choose not to choose" - Being and Nothingness - Sartre - pp.618-19.
3. Existentialist Thought - Ronal Grimslay - p.4.

संबन्ध में भविष्यवाणी नहीं दे सकते । पत्थर मार मिलने पर चिड़िया के समान पलायन करने के लिए बेबस नहीं है वह, क्योंकि उससे बचने की क्षमता उसमें है । और अपनी इच्छा के अनुसार प्रवृत्त होने के लिए भी वह स्वतंत्र है । वह वेदना सहकर बेंच पर बैठ सकता है, कहीं शांत होकर जा सकता है या पत्थर फेंकनेवाले पर क्रुद्ध होकर आक्रोश के साथ हमला कर सकता है । यही चयन की स्वतंत्रता मनुष्य को अन्य जीवों से अलग कर, शीर्षस्थ स्थान पर बिठाती है । अत: मनुष्य का ही अस्तित्व है, अन्य जीव केवल ज़िन्दा या वर्तमान है[1] ।

मनुष्य स्वयं अपनी सृष्टि करता है*। उसकी इच्छाएं कभी पूरी नहीं होतीं । वह कभी भी संतुष्ट नहीं रहता । वह पूर्णत्व का आकांक्षी है । उसे प्राप्त करने केलिए वह कृतसंकल्प है**। इसलिए उसे बार बार वरण करने का अवसर प्राप्त होता है । मृत्यु पर्यन्त उसे चयन करना पड़ता है । ज़िंदगी चयन की एक लंबी कतार बन जाती है । अत: चयन की स्वतंत्रता एक प्रवाह है जो अपने आपको ढकेलती हुआ आगे बढता है । वह कभी रुकता नहीं, किसी एक रूप को अपनाकर शांत होता नहीं ।

चयन के संदर्भ में यह समस्या उद्भूत होती है कि हम कैसे चयन करेंगे ? चयन का आधार क्या है ? मैं क्या होने को हूं (होनेवाला हूँ) यह मैं कैसे निश्चित करूंगा ? जास्पर्स की राय में चयन का आधार हमारे भीतर की विवेक-चेतना है जो व्यक्ति को ईश्वर के उपहार के रूप में मिली है[2]। लेकिन नास्तिक अस्तित्ववादी यह मानते नहीं । उनके लिए तो ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है, अत: चयन की राह दिखानेवाला कोई नहीं रह गया है । उनका विचार है कि मनुष्य का भविष्य उसके अपने चयन पर निर्भर है, इसीलिए चयन करते वक्त वे नरक-यातना भोगते हैं,

---

1. Existentialism - Paul Foulquie - p.63.

*. Man is nothing else but what he makes of himself. Such is the first principle of existentialism - Existentialism and Human emotions - Sartre - p.12.

**. "The existentialist will never consider man as an end because he is always in the making - Sartre - Ibid. p.50.

2. Six existentialist thinkers - H.J. Blackham - p.48.

भय और शंका से गिडगिड़ाते हैं । और मनुष्य के सम्मुख राह एक या दो नहीं है, हज़ारों की तादाद में है । वे अपने इच्छानुसार कोई भी राह चुन सकते हैं । इस संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि चयन का दूसरों के साथ क्या संबन्ध है ? वास्तव में व्यक्ति के चुनाव की स्वतंत्रता दूसरे पर आश्रित नहीं है, किसी द्वारा नियंत्रित भी नहीं है, लेकिन प्रवृत्त होते वक्त व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता के साथ दूसरों की स्वतंत्रता की भी इच्छा प्रकट करते हैं * । अत: चुनाव का संबन्ध व्यक्ति में सीमित नहीं है, संपूर्ण मानवता से उसका संबन्ध है । व्यक्ति जो चुनता है, वह दूसरों के लिए भी है । सार्त्र ने उदाहरण प्रस्तुत करते हुए व्यक्त किया है - "मैं शादी करना चाहता हूँ । वास्तव में यह मेरा व्यक्तिगत मामला है । मेरी इच्छा पर निर्भर है । फिर भी जाने या अनजाने सारा समाज इसमें भाग लेता है । इसकी वजह से नये रिश्ते बनते हैं । और यह व्यक्तिगत मामला नहीं रह जाता है । व्यक्ति अपने लिए उत्तरदायी है, साथ ही साथ दूसरों के लिए भी । उसका अपने लिए चुनाव दूसरों के लिए भी हो जाता है । यह तथ्य उसमें दायित्व और परिताप की भावना जगाता है । अत: हम कभी भी अशिव का चयन नहीं करेंगे क्योंकि जो हमारे लिए शिव नहीं है, दूसरों के लिए भी हो नहीं सकता[2] ।

स्वतंत्रता और परिवेश

अस्तित्ववादी दार्शनिक मनुष्य पर परिवेश के प्रभाव को मानते हैं । साथ ही उनकी यह भी राय है कि परिवेश के प्रति कोई भी रुख रखने केलिए भी मनुष्य स्वतंत्र है । परिस्थितियाँ व्यक्ति को भले ही शासित या नियंत्रित करें किंतु उसकी स्वतंत्रता अविचलित रहती है ** । सार्त्र का अभिमत है कि दुर्घटनाओं से अंग-भंग होना, परिस्थितियों का परिणाम हो सकता है किंतु उस विकलांग स्थिति को स्वीकारना या नकारना व्यक्ति की अपनी स्वतंत्रता पर निर्भर रहता है । अत: मनुष्य-जीवन का आधार मनुष्य का अपना स्वतंत्र निर्णय ही है[3] ।

---

1. Existentialism and Human emotions - Sartre - p.16.
* My liberty posits and requires the liberty of everybody else - Six existentialist thinkers - p.56.
2. Existentialism and Human emotions - p.15.
** "Choice always remains a choice in a situation." - Existentialism and human emotions - Sartre - p.43.
3. Ibid.

मृत्यु

अस्तित्ववादी दर्शन का अनिवार्य संघटक तत्व है मृत्यु । सभी दार्शनिकों ने इसकी गहरी विवेचना की है । इनका जीवन - परिवेश ऐसा था कि सभी ने मृत्यु की विकरालता एवं आकस्मिकता का अनुभव किया और प्रत्येक के दर्शन के रूपायन में मृत्यु ने महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि प्रस्तुत की ।

अस्तित्ववाद का प्रथम प्रणेता कीर्केगार्ड का जीवन जोखिम और खतरों से भरा था । पीडा और उदासी जैसे बचपन से ही उनकी चिरसंगिनी हो गयी थीं । बाद में उन्होंने इनको अपने व्यक्तित्व के अविभाज्य अंग के रूप में स्वीकार कर लिया मृत्यु से वे सदा सतर्क रहे थे । अपनी मृत्यु के करीब चार महीने पहले 2, जुलाई, 1885 की डायरी में उन्होंने यों लिखा है - "मनुष्य हमेशा मृत्यु से भयभीत है । पर सच्चा ईसाई वह है जो मृत्यु में ही जीता है । तुम्हें जीने के पहले मरना होगा, अपने से घृणा करनी होगी और फिर जीना होगा, जीवित रहना होगा, शायद अगले चालीस वर्षों तक" [1] ।

कीर्केगार्ड की राय में मृत्यु मानव के सम्मुख एक चुनौती है । यह उसके अस्तित्व का अंग नहीं, पर उसे जीवन के संबन्ध में एक धारणा रूपायित करने का अवसर प्रदान करती है [2] । उनके कहने का यही मतलब है कि मनुष्य को मृत्यु की चुनौती स्वीकार करके भी उसे सुन्दर बनाने का प्रयत्न करना चाहिए । मृत्यु हमें अशरीर तो ज़रूर बनाती है, लेकिन हमारा अस्तित्व बचा रहता है ।

---

1. Kierkegaard's Diary - Ed. Walter Lourie (Princeton University Press).
2. Existentialism for an Against - Paul Robuiezek - p.14
3. ~~Six existentialist thinkers - H.J. Blackham - p.52.~~

कार्ल जास्पर्स के मत में मृत्यु अनुभुत्यात्मक वस्तु का अनुभुत्यात्मक तथ्य है[1]। वह मानवीय अस्तित्व की सीमा या उसकी स्वाभाविक परिणति है। लेकिन मृत्यु में केवल शरीर का नाश होता है, चेतना की स्वतंत्रता बनी रहती है। यह स्पष्ट करने केलिए जास्पर्स उदाहरण प्रस्तुत करते हैं - मुझसे निकट संबन्ध रखनेवाले दोस्त की मृत्यु जब होती है, तो तत्काल उससे मेरा संबन्ध ज़रूर होता है, पर उसकी उपस्थिति का पूर्णत: नाश नहीं होता। उससे मेरी ईमान्दारी बनी रहती है और वह मुझे निरंतर प्रभावित करता रहता है। अत: मृत्यु एक परीक्षण है जो कभी कभी छलनी बनती है[2]।

गब्रियेल मार्शल ने भी समान उदाहरण प्रस्तुत करते हुए जास्पर्स के मत का समर्थन किया है। उनकी राय में मृत्यु के बाद भी दोस्त की उपस्थिति उसी रूप में सक्रिय रहती है जैसे पहले थी। इस सक्रियता का आधार हमारी ईमान्दारी है। एक व्यक्ति द्वारा मृत व्यक्ति के अस्तित्व का निषेध सिर्फ उसके अस्तित्व का निषेध नहीं, बल्कि अपने आपका निषेध है, कभी संपूर्ण रूप से। वे कहते हैं - "मैं ने जिसे प्यार किया था, मृत्यु के बाद उसे मिटा देना, सारे बीइंग को मिटा देने के समान है[3]। मृत्यु के बाद भी जीवित व्यक्ति से मृत व्यक्ति का संबन्ध रहता है और उसे निरंतर प्रभावित करता रहता है - "मैं अपने को तुम्हारेा साथ जोड़ता हूँ ताकि तुम्हें न छोड सकूं। जब मैं न तुम्हें छु सकूंगा न देख सकूंगा, तब भी हमेशा तुम मेरे साथ होगे, मैं तुम्हारे साथ होऊंगा"[3]।

हेडगर के विचार में मृत्यु एक धनात्मक एवं सर्वव्यापि संभावना है जो व्यक्ति - अस्तित्व को स्थायित्व प्रदान करती है[4]। यह प्रामाणिक ज़िंदगी का संकेत भी है। मृत्यु कोई आकस्मिक घटना नहीं बल्कि बरसों से पालती आयी एक संभावना है। मृत्यु मानव के अस्तित्व में ही समाहित है।

---

1. Six existentialist thinkers - H.J. Blackham - p.52.
2. Ibid. p.53.
3. Ibid. pp.76-77
4. Six existentialist thinkers - H.J. Blackham - p.96

Martin Heidegger.
Reason in Existentialism - _ _ - p.112.

उसे हटाया नहीं पा सकता, बल्कि प्रामाणिक रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है । मृत्यु की विशिष्टता यह है कि वह अस्तित्वगत संभावना है जो अन्य सभी संभावनाओं को मिटाती है और साथ ही साथ उनकी नश्वरता और अनिश्चितता भी सिद्ध करती है ।

हेडगर मानते हैं कि वैयक्तिक अस्तित्व शून्यत्व के बीच ही रूपायित होता है । शून्यत्व यथार्थ है, बाकी सब एब्सेर्ड हैं । अत: अस्तित्व का असंभव ही संभव है[1] । जन्म के साथ मृत्यु संलग्न है । जो जन्म लेता है, उसे मरना ही पड़ता है । कभी ऐसा लगता है कि हमने मरने केलिए ही जन्म लिया है । कभी कभी महसुस होनेवाला संत्रास यही द्योतित करता है[2] । और मृत्यु की वजह से यदि हमारी सारी संभावनाओं का हनन होता है तो हमारे सम्मुख दो ही विकल्प रह जाते हैं - मृत्यु का स्वीकार या अस्वीकार । अस्तित्व की चरम संभावना के रूप में मृत्यु की स्वीकृति जागतिक वस्तुओं से धोखा खाने तथा व्यक्ति की भविष्योन्मुखी प्रवृत्तियों का पुर्वाधिकृत रूप में न पहचानने की अस्वीकृति है[3] ।

मृत्यु व्यक्तिगत अस्तित्व की यथातथ्यता की गारण्टी है, क्योंकि वह हर वस्तु, तत्व या धारणा का पूर्ण अवमूल्यन कर देती है । मृत्यु की वास्तविकता को समझकर जब जीने लगता है तभी नयी शक्ति, नयी गरिमा और सहनशीलता का उदय होता है । इस के साथ मृत्यु हममें यह अवधारणा भी जगाती है कि सांसारिक कार्यों में ही न डूबे रहें, उन्हें योग्य मान्यता मात्र दें । ज़िंदगी में मृत्यु की उपादेयता इस तथ्य की पहचान में है ।

---

1. Six existentialist thinkers - H.J. Blackham - p.96
2. Ibid.
3. Ibid.

आधुनिक काल में दो महायुद्धों की दुर्दनीय विभीषिका की वजह से सारे यूरोप ने मृत्यु की विकरालता तथा अनिश्चितता का अनुभव किया । सारे चिंतन-क्षेत्र में मृत्यु-भय छा गया । सार्त्र और कामू के चिंतन पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा । सार्त्र ने सारे बुद्धिजीवियों को प्रभावित करते हुए उद्घोषणा भी की "जन्म के साथ मृत्यु संलग्न है जिसपर मनुष्य का कोई वश नहीं और मरणोपरांत ही इस जीवन से उसे मुक्ति मिलती है, जीवनकाल में उसके व्यक्तित्व की मान्यता तक नहीं"[1] ।

मृत्यु संबन्धी सार्त्र की धारणा हेज़ार के विरुद्ध है । उनकी राय में मृत्यु संभावना नहीं, वह संभावना के बाहर पड़ती है या उसका निरसन है । वह आकस्मिक है, इसलिए एब्सेर्ड भी । और वह ज़िंदगी को सार्थक बनाने के बजाय संदेहशील तथा "सस्पेन्सयुक्त" बना देती है ।

व्यक्ति के द्वारा मृत्यु की परियोजना में जैसे आत्महत्या करना, शहीद बनना, मृत्यु बोधगम्य रहती है । लेकिन अनिश्चित संभावना के रूप में मृत्यु बोधगम्य नहीं है क्योंकि वह भोजना सारी योजनाओं का नाश करती है । इसीलिए सार्त्र खुल्लम-खुल्ला व्यक्त करते हैं कि मृत्यु कभी भी मेरी विशिष्ट संभावना नहीं हो सकती, वह मेरी संभावनाओं का एक भी नहीं हो सकती"[2] ।

मार्शल और जास्पर्स के समान सार्त्र भी मानते हैं कि मृत्यु मानव अस्तित्व का सत्यनाश नहीं है । मृत्यु के बाद वस्तुगत दुनियां में आत्मनिष्ठता का अभाव रहता है, लेकिन मृत व्यक्ति दुनियां में ऐसे अर्थ और निशान छोड जाते हैं

---

1. Modern Novel - Sartre - p.165.
2. Six Existentialist Thinkers - H.J. Blackham - p.135.

जिनका दूसरों द्वारा संशोधन होता रहता है । यों मृत व्यक्ति के निशान जीवित के पास सुरक्षित रहता है या बर्हिमुखता के आयामों में मृत व्यक्ति का अस्तित्व बनाये रहता है ।

सार्त्र की राय में मृत्यु की दृष्टि से व्यक्ति जीवन की विवेचना, दूसरों की दृष्टि से उसकी आत्मनिष्ठता की विवेचना के समान है जो असंभव है । मृत्यु आकस्मिक है, लेकिन जन्म के समान अनिवार्य तत्व है, वास्तव है । वे लिखते हैं - "मैं मरने के लिए स्वतंत्र नहीं हूँ बल्कि एक स्वतंत्र बीइंग हूँ जो मरता है । मैं मृत्यु को मेरी आत्मनिष्ठता की कल्पनातीत सीमा मानता हूँ जैसे कि दूसरों की स्वतंत्रता को मेरी स्वतंत्रता की सीमा मानता हूँ"[1] ।

कामू ने मानवीय दृष्टि से तथा व्यावहारिक रूप में मृत्यु-संबन्धी विचार प्रस्तुत किये हैं । उन्होंने आत्महत्या और मृत्यु को विसंगति से जोड़कर ही विवेचना की है । निरर्थकता से बचने की एक राह है आत्महत्या । यदि आदमी आत्महत्या नहीं करता है तो भी वह मरने केलिए अभिशप्त है[2] । मृत्यु दुर्निवार है । इस दुर्निवारता ही विसंगति की कुंजी है[3] । और उनकी दृष्टि में हत्या, मौते और विसंगतियां जीवन के मूल्य को बढाती ही है । वे मनुष्य को अपनी जिदगी और भी अधिक गहराई से जीने के बलिए अपेक्षित करती है[4] ।

---

1. सिक्स एक्सिस्टेनेष्यलिस्ट थिंकर्स - एच.जे. ब्लेकहाम - पृ.136
2. द्दिमिथ आफ सिसिफस - कामू - पृ.78
3. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद - डा. इन्द्रनाथ मोदी - P.124.
4. चार्लस रोलो का कथन-वही- पृ.125

संत्रास

अस्तित्ववादी दर्शन में संत्रास कोई क्षणिक अनुभूति नहीं है । वह मानव की बीजभूत भावावस्था है जो उसके संरचनात्मक पक्ष-मानव-अस्तित्व की समीपता पतनावस्था और क्षणिकता को व्यक्त करती है[1] ।

पहले कीर्केगार्ड ने ही, इस पर भी सर्वांगीण विचार प्रस्तुत किया था । उनके विचार में संत्रास जागरण और चेतना की प्रारंभिक अनुभूति है । प्रामाणिक वरण तथा मानवीय अस्तित्व का प्रवेश-द्वार है । संत्रास के उद्भूत होते ही हमारी आंखों के सामने से पर्दा हट जाता है और हम अपना यथार्थ रूप देख पाते हैं । संत्रास मानव को स्वतंत्रता की ओर उन्मुख करता है और हमारी सारी संभावनाओं को भी जाग्रत कर देता है[2] ।

कीर्केगार्ड ने संत्रास और भय के सूक्ष्म अंतर का भी विश्लेषण किया है । भयभीत होते वक्त भय उत्पन्न करनेवाली वस्तुओं जैसे बीमारी, युद्ध- आदि का ज्ञान तो रहता है लेकिन संत्रस्त करनेवाली वस्तुओं का बिलकुल पता नहीं रहता ।[3] विपदा की आशंका तक न रहती । अनजाने ही संत्रास का भाव हमें चारों ओर से घेर लेता है । सहसा सुखद वातावरण कहीं विलीन हो जाता है, जीवन का रंग फीका पड जाता है और अकेलापन महसूस होने लगता है । ऐसा भी लगता है कि अनजान और विच्छिन्न वस्तुओं ने हमें घेर लिया हो, अपने और इस संसार के बीच सहसा एक पर्दा खिंच गया हो । यही संत्रास-भावना अवसाद में बदल जाती है । इसे हम दु:ख नहीं कह सकते । यदि कोई पूछे कि क्या बात हुई तो हम जवाब नहीं दे सकते । हमारी ऐसी स्थिति हो जाती है कि दैनिक

---

1. Dr. G. Sreenivasan - The existentialist concepts and the Hindu Philosophical system - p.80.
2. Six existentialist Thinkers - H.J. Blackham.
3. 'Kierkegaard's concept of dread, therefore is not a matter of understandable and specific fears, but the feeling that the ground beneath one's own feet has given away, that all security and certainty have gone, and that one can be trusted [illegible]

कार्य करना भी मुश्किल हो जाते हैं । हम इस दुनिया से ही विच्छिन्न सा अनुभव करने लगते हैं । संत्रास कभी कभी निराशा में भी परिणत हो जाता है । इस निराशा की कोई निश्चित सीमा या दिशा नहीं होती । वह संपूर्ण जीवन को अपने में समाहित कर लेती है[1] ।

हेडगर ने भी संत्रास का विस्तृत विश्लेषण किया है । उनकी दृष्टि में संत्रास, मानव की अपने जगत से संबन्धहीनता की अनुभूति है । उन्होंने भी कीर्केगार्ड के समान त्रास को भय से भिन्न माना है । भय का एक निश्चित कारण होता है जैसे सांप से डर लगता है । लेकिन संत्रास का कोई निश्चित कारण नहीं होता । इसका किसी वस्तु से संबन्ध ही नहीं रहता और कोई राह भी नहीं दिखती जहां इसकी खोज की जा सके । लेकिन यह सारा संसार ही ऐसा संत्रास-युक्त लगता है जिसके सम्मुख होने पर व्याकुलता उत्पन्न होती है[2] ।

संत्रास आत्मपरक है याने मन में उद्भूत होता है । यह सर्वविद् भी है । संत्रास व्यक्ति को सारे पूर्वाधिकारों से मुक्त करा कर उसके स्वत्वों पर अपना अधिकार जमा लेता है और उसे एकांत में फेंक देता है । इस दुनिया के साथ उसका जो संबन्ध है, जो दिलचस्पी है, उन सबसे अलगाकर एकांकी बना देता है । संत्रास पहले अस्पष्ट और निरर्थक प्रतीत होता है, लेकिन बाद में इसका इतना प्रभाव होता है कि वह व्यक्ति के अस्तित्व की प्रामाणिकता के लिए भी खतरा बन जाता है ।

हेडगर ने संत्रास की स्थान संबन्धी धारणाओं को नकारते हुए भी उसे मृत्यु से जोड दिया है । मृत्यु - संत्रास मनुष्य में यह अपराध भाव जगाता है कि अब तक वह अपने दायित्व को भूलता रहा । यह पहचान उसमें दायित्व

---

1. Six existentialist thinkers - H.J. Blackham - p.231.
2. Being and Time - Martin Heidegger - p.231.

की भावना जाग्रत कर देती है, भविष्य के प्रति उत्तरदायी बना देती है और वह अपने अस्तित्व को सार्थक बनाने कटिबद्ध निकलता है[1]।

हेडगर की यह भी मान्यता है कि संत्रास से शून्यता (नतिंगनस) उत्पन्न होती है। शून्यता की अनुभूति दो प्रकार संभव है। जब मनुष्य यह महसूस करने लगता है कि संसार नश्वर, क्षणिक और मूल्यहीन है, सारी वस्तुएं उससे दूर खिसकती जा रही हैं, संसार की किसी भी वस्तु पर उसका कोई हक नहीं है, वह नगण्य है, तो शून्यता एक डरावनी सांप सी उसे घेरने लगती है। और जब मनुष्य स्वयं संसार से उदासीन एवं निरासक्त रहने लगता है तब उसका मन वस्तुओं से दूर भागने का श्रम करता है और शून्यता की अनुभूति से अभिभूत होता है[2]।

संक्षेप में हम यही कह सकते हैंकि संत्रास वह भय है जिसका कोई कारण या स्रोत नहीं होता। यह एकांत भय की, सुन्न हो जाने की गुमराह होकर कहीं प्राण भय से छिपकर बैठ जाने की स्थिति है। लेकिन यह मानवीय अस्तित्व का उन्मीलन करता है। मनुष्य को इस उन्मीलित अस्तित्व का एहसास के लिए सक्षम बना देता है। और इसी संत्रास से ही अवसाद, निराशा और शून्यता के भाव उद्भूत हो जाते हैं।

---

1. Dr. G. Sreenivasan - The existentialist concepts and the Hindu Philosphhical system - p.77-78.
2. "Dread is the experience of nothing." - Quoted in Existential thought - Ronald Grimslay - p.104.

अस्तित्ववादी दर्शन की मूल्य एवं नैतिक मूल्य संबन्धी धारणा

मानव-समूह के नियामक तत्व हैं, सभ्यता और संस्कृति । इन नियामक तत्वों की संचालक शक्ति है - मूल्य । अत: प्रत्येक सभ्य एवं संस्कृत समाज में अवश्य कतिपय मूल्य एवं नियम रहते हैं और उसका संचालन इनके आधार पर होता है[1] । व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में भी इनका महत्वपूर्ण योगदान है[2] ।

मूल्य-प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है । मानव-समाज के विकास के साथ-साथ मूल्यों का भी विकास या विकार होता गया है । इसलिए ही सार्वकालिक एवं सार्वलौकिक मूल्यों का निर्धारण असंभव है ।

मूल्यों के स्रोत के संबन्ध में दार्शनिकों में, अस्तित्ववादी दार्शनिकों में भी मत-भेद हैं । प्राचीनकाल में समस्त मूल्यों का स्रोत किसी अलौकिक सत्ता को माना जाता था । समस्त मध्यकाल में भी इस निखिल सृष्टि एवं इतिहास क्रम का नियंता किसी मानवोपरि अलौकिक सत्ता ही था । समस्त मूल्यों का स्रोत वही था और मनुष्य की एकमात्र सार्थकता यही थी कि वह अधिक से अधिक इस सत्तासे तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा करें[3] । अस्तित्ववादी दार्शनिक मार्शल का विचार है कि जिस प्रकार संसार ईश्वर का अवतार है वैसे ही मूल्य भी अवतरित होते हैं । उन्होंने मूल्य को सत्य के साथ जोड़ते हुए कहा है कि मनुष्य अपनी बुद्धि से सत्य का जितना पकड़ पाता है, वही मूल्य है । सत्य की रक्षा से ही मूल्यों की रक्षा होती है और उसकी रक्षा तभी होती है जब मनुष्य अपने अस्तित्व को स्वीकार करता है[4] ।

---

1. Every society carries on some set of values and rules - Sociology and Social life - Ed. Young and Mack (1959) p.85.
2. Values and Value Systems define and govern the structure of personality - The development of social thought - Mukergee, Bogardas - p.638.
3. Human Values and Literature - Dharmaveer Bharti - p.9
4. Ibid.

आधुनिक युग में इस धारणा में परिवर्तन हुआ है । वैज्ञानिक उपलब्धियों के फलस्वरूप मूल्यों का आधार आध्यात्मिक न रहकर भौतिक नियम बन गए हैं । यह स्थापित किया गया है कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, या ईश्वर झूठा है । ईश्वर की अस्तित्वहीनता के साथ उस पर आश्रित धर्म तथा मूल्य भी निराधार सिद्ध किया गया । मानव के आचार-विचार, व्यवहार, संस्कृति और सभ्यता में सर्वत्र नवीनता आ गई ।

अस्तित्ववादी दार्शनिकों में नित्शे ने सबसे पहले ईश्वर की मृत्यु की घोषणा करके मनुष्य को स्वतन्त्र कर दिया*। नित्शे का विचार है कि संसार और मानव के संदर्भ में शाश्वत नियम-निर्माता नाम की कोई अवान्तर सत्ता नहीं है । मूल्यों की संरचना मनुष्य ने की है और मूल्यों के चयन में अपने सिवा किसी के प्रति उसे दायित्व भी नहीं है । लेकिन यह ध्यान रखना है कि नित्शे वर्तमान मनुष्य को मूल्यों का उद्गम स्रोत नहीं मानते । वर्तमान मनुष्य निरर्थक है । वह अखिल सृष्टि के विकास का लक्ष्य नहीं है । वह तो एक सेतु-मात्र है । पिछली जीव-सृष्टि और आगे आनेवाले एक महामानव के बीच का सेतु ।

वैज्ञानिक विकास से प्रसूत औद्योगिक क्रान्ति ने पूंजीवादी समाज का प्रोद्घाटन किया और यही पूंजीवादी राजनीति धीरे-धीरे साम्राज्यवाद में बदल गई । इसकी वजह से दो विश्वमहायुद्ध फूट निकले और उनकी करालता से सारा विश्व विकंपित हो गया । अनेक मूल्य चकनाचूर हो गए और नए मूल्यों की स्थापना भी हो गई ।

सेना में भर्ती होकर सार्त्र ने युद्ध के संत्रस्त परिवेश का प्रत्यक्ष अनुभव पाया था उन्होंने मूल्य संबन्धी धारणा में अपने अनुभवों के प्रकाश में ईश्वर को निष्कासित कर

---

* "God is dead, we have killed God; God has died". Quoted in Existentialism For and Against - Paul Roubuizsoek - p.39.

१. मानव मूल्य और साहित्य - धर्मवीर भारती - पृ.24

उसके स्थान पर मनुष्य को प्रतिष्ठित किया । मनुष्य ही मूल्यों का निर्माता है । मनुष्य - निरपेक्ष मूल्यों की कोई प्रामाणिकता नहीं है । और मनुष्य द्वारा चुने गए मूल्य ही सार्थक एवं प्रामाणिक हैं । यह चयन स्वतंत्रता के आधार पर होता है । अत: स्वतंत्रता ही मूल्यों का आधार है[1] । उनकी यह भी मान्यता है कि मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र होने के नाते मूल्यों के परिवर्तन में भी उसका अधिकार है । और मनुष्य-चेतना से पृथक् मूल्य का कोई स्थान नहीं है । अर्थात् मूल्य तथ्यात्मक की अपेक्षा एक क्रियात्मक धारणा है[2] ।

नैतिक मूल्य

प्रत्येक समाज सामाजिक सुरक्षा एवं कल्याण केलिए एक आचरण पद्धति बनाता है । जब यह पद्धति व्यवस्थित तथा सुनिश्चित हो जाती है तभी नैतिकता की संज्ञा प्राप्त होती है । इस व्यवस्था के अनुरूप किया जानेवाला आचरण नैतिक कहलाता है[a]

मूल्यों का संबन्ध जीवन के एक पहलू से होता है । लेकिन नैतिक मूल्य संपूर्ण जीवन से संबन्ध रखता है । इसका लक्ष्य मनुष्य को सन्मार्ग की ओर अग्रसर करना है । यही सत् और असत्, उचित और अनुचित को स्पष्ट करता है । आचरण संबन्धी शिक्षा भी यह देता है[3] ।

कीर्केगार्ड ने मानव के नैतिक अस्तित्व को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है । उनकी दृष्टि में सत्यं, शिवं और सुन्दरं एक ही दर्जे के तथ्य हैं । हर मानव अस्तित्व का इन तीनों से संबन्ध रहता है या एक अस्तित्ववान् व्यक्ति के अस्तित्व में अवश्य इन तीनों का संग्रन्थन रहता है[4] । कीर्केगार्ड ने नैतिकता को आत्मकेन्द्रित माना है

---

1. Existentialism and human emotions - Sartre - p.38.
2. Being and Nothingness - Sartre - p.38.
3. Encyclopaedia of Religion and Ethics - p.
4. Concluding Unscientific post-script - ~~p.343~~ Kierkegaard - p.313

a- The new Encyclopaedia Britanica in 30 volumes- Volume-No.6.
William Benton Inc- Chicago-1973-74. - P.976.

आत्मगत चिन्तन पद्धति से ही उसे प्राप्त किया जा सकता है । नैतिकता का उद्देश्य आत्मोत्थान है और इसे लक्ष्य माननेवाली नैतिकता ही सर्वोच्च है[1] ।

कीर्केगार्ड की राय में नैतिक - जीवन गंभीर है क्योंकि उस अवस्था में कोई भी नैतिक नियमों के आधार पर ही जी सकता है । उसकेलिए चुनाव करना, एक गंभीर समस्या बन जाती है । कीर्केगार्ड ने अब्रहाम और ब्रूटस का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इस त्रासद परिस्थिति का विश्लेषण किया है कि ब्रूटस और अब्रहाम दोनों ने इस सार्वलौकिक नैतिक तथ्य का निराकरण किया था कि पिता सदा पुत्र का सहारा दे, उसकी रक्षा करे । ब्रूटस का यह काम एक हद तक नैतिक कहा जा सकता है क्योंकि एक राजनीतिक नेता का कर्तव्य देश को सुरक्षित रखना है । उसने अपने पुत्र की हत्या की आज्ञा इसलिए दी थी कि वह रोमन-जनतन्त्र के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा था । लेकिन अब्रहाम की परिस्थिति इससे भिन्न है । उसका निर्णय पूर्णत: आत्मकेन्द्रित है*। फिर भी कीर्केगार्ड कहते हैं कि उसे विशेष दृष्टिकोण से देखना है । अब्रहाम का ईश्वर से कोई संबन्ध नहीं था । नैतिकता ही उसका देवता था ।

वास्तव में अब्रहाम की त्रासद स्थिति है । उसका निर्णय एकदम बेधनेवाला है । वह एक सार्वलौकिक नैतिक तत्व का कुरबान कर, दूसरे का अभिलाषी है । यदि उसकी गलतफहमी हो गई तो, उसकी क्या दशा होगी ? उसे क्या पता है कि देवता ने ही पुत्र की बलि की आज्ञा दी है[2] ? अब्रहाम ही नहीं यदि अन्य कोई है तो भी इस बात पर पूर्ण विश्वास नहीं रखेगा कि वह ईश्वर की आज्ञा का पालन कर रहा है**। कीर्केगार्ड स्वयं ऐसी ही परिस्थिति में थे । उन्हें भी

---

1. The journals of Kierkegaard, Translated and Edited by A-dru.

* "In the final analysis Abraham acts entirely alone, and the responsibility is all his" - Introduction to Philosophy - Titus, Smith - pp. 247-48.

2. Ibid.

** Existentialism For and Against - pp.58-59.

ईश्वर और रेगिना में एक को चुनना था । वे रेगिना से इसलिए संबन्ध-विच्छेद करते हैं कि उससे "बोर" हो चुके थे, उसके साथ यौन - संबन्ध नहीं रखना चाहते थे । अत: उनकी राय में अब्रहाम के निर्णय में, उस काम के प्रति उसकी गहरी आन्तरिक प्रतिबद्धता ही झलकती है[1] ।

इस आत्मनिष्ठता के कारण ही कीर्केगार्ड की नैतिकता संबन्धी धारणा में स्वार्थता का आरोप लगाया गया है । इस आरोप के विरोध में कीर्केगार्ड का कथन है कि सर्वप्रथम हमारा कर्तव्य अपना उत्थान करना है । अपने अस्तित्व के संबन्ध में भी हम संदिग्ध हैं, इसलिए हमें स्वयं सुधार करना चाहिए । यदि स्वयं सुधार करने में समर्थ होंगे तो अन्य लोग भी हमारे आदर्श का अनुकरण करेंगे और हमारी नैतिकता से अवश्य लाभान्वित होंगे । फिर इस नैतिकता को कैसे स्वार्थपूर्ण कहा जा सकता है[2] ? नित्शे ने भी नैतिकता को आत्म केन्द्रित माना है । उनकी राय में समाज में रहते हुए अपने विकास का ध्यान रखना और अपने को परिपूर्ण बनाना ही, नैतिकता है । प्राचीन काल में यूनानी दार्शनिकों ने मित्रता को एक नैतिक गुण माना था*। नित्शे ने इसमें आत्मोत्थान का सिद्धान्त ढूंढ निकाला है उनके विचार में दो व्यक्तियों के बीच मित्रता आत्मोत्थान के उद्देश्य से ही स्थापित होती है । और सच्ची मित्रता वही है जिसमें मित्र एक दूसरे को संपूर्णता प्राप्त करने में सहायता करें और एक दूसरे का मार्ग प्रशस्त करें[3] । लेकिन बाद में उन्होंने अपने "महामानव" की मान्यता केलिए मानवीय अन्तरात्मा को व्यर्थ सिद्ध किया । उन्होंने घोषणा की कि "नैतिक मूल्यों के निर्धारण में मानवीय अन्तरात्मा का कोई स्थान नहीं है । महामानव की सृष्टि अन्तरात्मा और

---

1. Kant and the 19th centuary - p.227.
2. Six existentialist Thinkers - p.31
* A Critical History of Greek Philosophy - W.T. Stace - p.353.
3. The Story of Philosophy - Will Durant - p.420.

नैतिक मूल्यों की व्यर्थता मांगती है । यों उन्होंने मानवीय यथार्थ एवं गौरव का निषेध किया है[1] ।

सार्त्र नैतिकता को स्वतंत्र चयन के साथ जोड़कर विश्लेषण करते हैं । सार्त्र का विचार है कि मनुष्य अपने चयन के प्रति पूर्णत: स्वतंत्र है, वह जो चयन करता है, नैतिकता पर आधारित रहता है । मनुष्य के इस नैतिक चयन को स्पष्ट करने केलिए उन्होंने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है । एक दिन एक विद्यार्थी उनके पास एक समस्या का समाधान पूंछते हुए आया । समस्या यही थी कि उसके परिवार में वृद्ध मां के अलावा और कोई नहीं है । बाकी सब युद्ध में भाग लेकर चल बसे । उसे भी सेना में भर्ती पाकर देश की सेवा करने की इच्छा है । लेकिन यदि वह भी युद्ध में चला जाय तो मां बेसहारा हो जाएगी । सार्त्र ने उसे कोई सलाह नहीं दी । सिर्फ इतना कहा कि तुम स्वतंत्र हो, स्वयं चुनाव करो, सामान्य नैतिकता का कोई नियम तुम्हें यह बता नहीं सकता कि तुम्हें क्या करना चाहिए । संसार में तुम्हें ऐसा कोई अधिकृत नियम नहीं दिखाई पड़ेगा जो इसकेलिए सलाह दे कि अमुक चयन ही सही है, उपयुक्त है[2] । सार्त्र के उपर्युक्त उदाहरण से यही समझ में आता है कि वे भी नित्शे और कीर्केगार्ड के समान नैतिकता को आत्मकेन्द्रित मानते थे उनकी यह भी मान्यता है कि प्रत्येक मानव का पूरे समाज के प्रति दायित्व है । वह जो चुनाव करता है, सिर्फ अपनेलिए नहीं होता, सारे समाज केलिए होता है । इसलिए वह कभी भी अनैतिक का चयन नहीं करेगा । वह अपना निर्माण नैतिक चयन द्वारा ही करता है और वह परिवेश की जबरदस्ती की वजह से नैतिकता के अतिरिक्त और कुछ चुन भी नहीं सकता[3] ।

---

1. मानवीय मूल्य और साहित्य - धर्मवीर भारती - पृ॰24-25
2. Existentialism and Human Emotions - Sartre - p.38.
3. Ibid. p.50.

प्रेम संबन्धी धारणा

अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने प्रेम की यथार्थपरक व्याख्या की है । गब्रियेल मार्शल प्रेम को समस्त मानवीय संबन्धों के केन्द्र में एक धनात्मक मूल्य के रूप में स्थान देते हैं । उनकी पूरी विचारधारा ही मैं - तुम (I-Thou) के संबन्धों पर आधारित है जो मानव - मुक्ति केलिए आवश्यक है । इसे वे तीन चरणों में विभाजित करते हैं । आस्था, आशा और प्रेम । प्रेम एक प्रकार का आत्मसमर्पण है, एक - दूसरे को जोडनेवाली प्रक्रिया का आधार है, या बीइंग के परस्पर संप्रेषण का माध्यम है[1] ।

सार्त्र की दृष्टि में प्रेम एक निरर्थक प्रक्रिया है । उसमें व्याक्ति - स्वतंत्रता की हानि होने की संभावना है । प्रेम-प्रक्रिया में एक व्यक्ति दूसरे की दृष्टि में हमेशा एक वस्तु बनता है - वैसे ही वस्तु जैसे मेज़, कुरसी या प्याला । जब हम दूसरों की दृष्टि में वस्तु बनते हैं तो हमारी आन्तरिकता (Subjectivity) घटने लगती है । दूसरे हमें वस्तु बनाने की कोशिश में रहते हैं तो हम "स्व" के रूप में अपनी रक्षा में लगे रहते हैं । सार्त्र इसी कारण दूसरों के साथ हमारे संबन्ध को एक मौलिक द्वन्द्व के रूप में देखते हैं । प्रेम-संबन्ध भी इससे भिन्न नहीं है । वह वास्तव में एक के द्वारा दूसरे की स्वतंत्र दुनिया में अनधिकार छलांग है[2] ।

सार्त्र के अनुसार स्वतंत्रता ही सबसे बडा मानवीय मूल्य है । मानव किसी भी कीमत पर अपनी मौलिक स्वतंत्रता सुरक्षित रखना चाहता है । लेकिन प्रेम इस मौलिक स्वतंत्रता का अपहरण करता है, इसीलिए ही पूर्ण प्रेम कभी संभव नहीं हो सकता । प्रेम में आबद्ध व्यक्ति की कामना होती है कि दूसरे की स्वतंत्रता

---

1. Six existentialist thinkers - H.J. Blackham, p.77.
2. Introduction to existentialism - Marjorie Greene - p.79. - 'आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना' में उद्धृत विजयमोहन सिंह, p.34.

चेतना के स्तर पर प्रेम में परिणत हो जाय और वह उसकेलिए समूचा विश्व बन जाय । प्रेमी स्वयं प्रेमिका केलिए अपनी स्वतंत्रता को प्रेम के रूप में परिणत करता है और उसकेलिए समूचा विश्व बनने की कोशिश करता रहता है । यों प्रेम एकनिष्ठ और आत्यन्तिक होता है । प्रेम में आबद्ध व्यक्ति परिवेश से विमुख होकर प्रिय की ओर उन्मुख तथा उसे उपलब्ध करने के श्रम में लगा रहता है । यों प्रेम में एक दूसरे की स्वतंत्रता को हड़पने की प्रवृत्ति ही चलती है । अत: प्रेम एक प्रवंचना है ।

प्रेम में आत्मसमर्पण की बात, सार्त्र की राय में आत्मपीड़नके अलावा और कुछ नहीं हैं । वे कहते हैं कि प्रेम में पूर्ण दासता प्रेम करनेवाले के प्रेम की हत्या कर देती है । यदि प्रेमिका स्वचालित यंत्र की तरह व्यवहार करती है तो प्रेम की तीव्रता घट जाती है और प्रेमी अकेलापन महसूस करने लगता है । प्रेमी प्रेमिका पर अवश्य स्वामित्व चाहता है, लेकिन इस रूप में नहीं जैसे कि हम वस्तुओं पर स्वामित्व चाहते हैं । एक विशिष्ट प्रकार का संबन्ध ही वह चाहता है । लेकिन अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने की आकांक्षा अवश्य इसमें रहती है[1] ।

प्रेम की अनुभूति विशुद्ध भावनात्मक स्तर पर है । किसी स्त्री के प्रति प्रेम भी ईश्वर-प्रेम से कम अनुभूत्यात्मक नहीं है । इस संदर्भ में सार्त्र कहते हैं कि प्रेम और ईर्ष्या को किसी स्त्री पर स्वामित्व प्राप्त करने की अदम्य इच्छा के रूप में कम नहीं किया जा सकता, बल्कि इन भावनाओं का प्रधान लक्ष्य उन्हें उनकी समग्रता में स्त्री के माध्यम से प्राप्त करना होता है[2] ।

सार्त्र ने यौन-संबन्ध को भी विशेष महत्व दिया है । उनकी दृष्टि में व्यक्ति एक यौन-जीव है । प्रेम चेतना स्वरूप है, काम में ही वह पूर्ण बनता है[3] ।

---

1. Being and Nothingness - p.367.
2. Ibid. p.562.
3. Ibid. p.213.

प्रेम में स्वतंत्रता के अपहरण का डर है, लेकिन संभोग में इसका डर नहीं है ।[1] लेकिन, संभोग में, वह भी क्रूर संभोग में संभोगी अन्य शरीर को उपकरण समझकर उपभोग करता है और इस सारी संभोग - प्रक्रिया में उसकी कामना अपने प्रिय को उपकरण के रूप में निर्जीव कर देने की होती है - निर्जीव इसतरह कि उसका सहभोगी स्वयं उसे उपकरण न समझे और उपभोग करे क्योंकि स्वयं उपभोग्य बनना स्वतंत्रता को खोना है और यह व्यक्ति को व्याकुल भी कर देता है । इसमें असफलता तभी होती है जब प्रेमी चाहता है कि प्रेमिका उसे प्यार करे या उसे वस्तु समझकर उपभोग करे । अत: यौन संबन्ध किसी भी रूप में पूर्णत: पारस्परिक नहीं है । हमेशा एक, वस्तु के रूप में भोग्य बना रहता है ।

– शर्मा:

---

1 Introduction to existentialism- Majorie Greene- 'आधुनिक हिंदी आलोचना में प्रेम की पारिभाषा' में उद्धृत. विजयबहादुर सिंह द्वारा उद्धृत - P.39.

निष्कर्ष

अस्तित्ववाद मानव का अपना दर्शन है, पूर्णत: मनुष्य-अस्तित्व का दर्शन । परंपरागत दार्शनिक पक्षों से हटकर अपने विशिष्ट तेवर और लिबास के साथ, दार्शनिक क्षेत्र में वह अलग खडा है ।

मनुष्य-अस्तित्व की वरीयता की समस्या को लेकर ही उसकी शुरुआत हुई । और शुरू से ही उसकी चिंतन-पद्धति आत्मनिष्ठ रही, क्योंकि उसके अनुसार वस्तुनिष्ट पद्धति में मनुष्य-अस्तित्व का ह्रास होने की गुंजाइश है ।

अस्तित्ववाद में "अस्तित्व" शब्द का विशेष अर्थ है । इसका प्रयोग सिर्फ मनुष्य के लिए और मनुष्य के साथ ही होता है ।

परंपरागत रूप में "अस्तित्व" को "बीइंग" का समानार्थी माना गया है । अस्तित्ववादी दार्शनिक दोनों में भिन्नता देखते हैं । गेयडो रुगिरिओ के अनुसार अस्तित्ववाद की शुरुआत ही अस्तित्व और बीइंग की नींवाधार भिन्नता से ही होती है ।

पूर्ववर्ती दार्शनिकों के विरुद्ध अस्तित्ववादियों के बीइंग के विश्लेषण का आधार मानव है । उनका "बीइंग" "ह्यूमन बीइंग" है । पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने चिंतन या आशय को प्राथमिकता देकर, उसके भीतर ही बीइंग की परिकल्पना की थी । लेकिन अस्तित्ववादियों ने शुद्ध चिंतन को "फैंटसी" और चिंतन (चेतना) को बीइंग (वस्तु) का अंग मानकर बीइंग को ही प्राथमिकता दी ।

कीर्केगार्ड ने चिंतन को बीइंग से अलग मानकर चिंतन और बीइंग के परस्पर संबन्ध का विश्लेषण किया । मार्शल ने बीइंग को चेतना का स्वरूप माना । जास्पर्स ने बीइंग को एक निरंतर प्रक्रिया मानकर उसके विविध सोपानों की अभिव्यक्ति दी । सार्त्र ने बीइंग को चेतना संपन्न वस्तु माना । और हेडगर ने बीइंग की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए नण्-बीइंग की उद्भावना की ।

अस्तित्ववाद की समस्यायें संत्रस्त परिवेश से जूझते मानव की विशेषत: व्यक्त मानव की समस्यायें रही हैं । और उसके संघटक तत्व हैं - निर्वासन, स्वतंत्रता आत्मनिष्ठता, शून्यता और मृत्यु ।

कीर्केगार्ड का विसंगति - विश्लेषण व्यक्ति-केन्द्रित है । व्यक्ति अनित्य और मरणशील है । उसकी परिस्थितियां उसकी सक्षमता से परे हैं । इसलिए उसकी अस्मिता विभाजित एवं निर्वासित है । ईश्वर पर विश्वास ही इन्हें समाप्त कर सकता है । सार्त्र के अनुसार आत्मनिर्वासन विश्वजनीन उपकरणपरकता के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया का परिणाम है । कामू ने विसंगति का सर्वांगीण विश्लेषण किया है । उनके विचार में विसंगति मानवीय इच्छा तथा दुनिया के अयुक्तिक सन्नाटे की द्वन्द्वता से उद्भूत होती है । विसंगति मानव के भीतर ही है और ज़िंदगी के हर मोड पर उसका अनुभव हो सकता है । इससे बचाव भी संभव है - विद्रोह के ज़रिए । कामू के अनुसार विद्रोह मानव-अस्तित्व की अनिवार्य शर्त है । वे क्रांति और विद्रोह में विद्रोह को ही मान्यता देते हैं क्योंकि विद्रोह मनुष्य में अंतर्निहित शक्ति को उभार कर लाता है ।

अस्तित्ववाद हमेशा व्यक्ति का हिमायती रहा । हम ने सूचित किया कि वस्तुनिष्ठ चिंतन पद्धति के विरुद्ध आत्मनिष्ठता का दावा करते हुए ही इसका प्रारंभ हुआ था । कीर्केगार्ड की दृष्टि में समूह दानव है । अत: उन्होंने समूहवाद

सख्त विरोध किया । और चर्च का विरोधी हो गये । जास्पर्स ने भी व्यक्ति की आंतरिकता को प्रश्रय दिया । हेडगर के लिए मानव-जीवन का अर्थ ही "व्यक्ति" का होना" है । नित्शे ने व्यक्ति की आत्मनिष्ठता को इतना महत्व दिया कि उनके चिंतन ने अतिमानव के आविष्कार के लिए ज़मीन तैयार कर दिया । सार्त्र ने तो खुली घोषणा की कि अस्तित्ववाद का पहला तत्व ही आत्मनिष्ठता है । अर्थात् मानव वही है जो स्वयं अपना रूपायन करता है ।

अस्तित्ववाद के अनुसार स्वतंत्रता मनुष्य-अस्तित्व का बुनियादी संघटक तत्व है । अस्तित्ववादी दार्शनिकों के लिए स्वतंत्रता जीवन-मरण की समस्या रही, साधन ही नहीं साध्य भी रही । मार्शल के लिए अस्तित्व का मतलब ही स्वतंत्रता है जास्पर्स के अनुसार स्वतंत्रता मानव-अस्तित्व की नियामक प्रवृत्ति है । सार्त्र के विचार में स्वतंत्रता मानव-अंतरात्मा की देन है । उनके लिए स्वतंत्रता चयन करने की स्वतंत्रता है । मानव-अस्तित्व की सार्थकता इस स्वतंत्र चयन में है या यह मानव की महान उपलब्धि है ।

अस्तित्ववादियों ने मृत्यु की गहरी विवेचना की है । उनके दर्शन के परिप्रेक्ष्य में मृत्यु की गहरी छाया है । • कीर्केगार्ड की राय में मृत्यु मानव के सम्मुख एक चुनौती है । यह उसके अस्तित्व का अंग नहीं । मृत्यु के बाद भी मनुष्य-अस्तित्व बचा रहता है ।

जास्पर्स के अनुसार मृत्यु मनुष्य - अस्तित्व की सीमा या उसकी नैसर्गिक परिणति है । मृत्यु में केवल शरीर का नाश होता है । चेतना बनी रहती है । मार्शल की भी यही राय है । हेडगर के विचार में मृत्यु सकारात्मक संभावना है जो अस्तित्व को स्थायित्व प्रदान करती है । सार्त्र की धारणा इसके विरुद्ध है । उनकी राय में मृत्यु संभावना नहीं बल्कि उसका निरसन है । मृत्यु आकस्मिक है, इसलिए निरर्थक भी ।

अस्तित्ववाद ने "शून्यत्व" का भी विश्लेषण किया है । हेनरी पिरे के अनुसार अस्तित्ववादी दर्शन की प्रथम अभिव्यक्ति ही शून्यत्व की है । दार्शनिकों में हेडगर और सार्त्र ने ही इसकी विशिष्ट अभिव्यक्ति दी है । हेडगर कहते हैं कि ण्-बीइंग की शून्यता का अनुभव करते हुए ही हम अस्तित्व के सोपान पर कदम रखते हैं । सार्त्र के अनुसार जगत में शून्यत्व-धारणा का प्रवेश मनुष्य द्वारा ही होता है । "नथिंगनस्" बीइंग के अंदर सर्पिलाकार पडी रहती है ।

अस्तित्ववाद ने मूल्यों, नैतिक मूल्यों और प्रेम तथा काम पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं । नित्शे की अपनी विशिष्टता होते हुए भी अस्तित्ववादी दार्शनिकों की मूल्य संबन्धी धारणा मानव पर आधारित है । मूल्यों के सृजन एवं परिवर्तन की नियामक शक्ति मानव ही है । उसमें ईश्वर या अन्य कोई अलौकिक सत्ता का बिलकुल हाथ-बंटाव नहीं । नैतिक-मूल्यों को ये आत्मकेन्द्रित मानते हैं । पर उनके आत्मनिष्ठ स्वभाव में सामूहिकता अपने आप समाविष्ट है ।

अस्तित्ववादियों ने प्रेम की यथार्थपरक व्याख्या की है । मार्शल ने प्रेम को मानवीय संबन्धों के केन्द्र में स्थित एक धनात्मक मूल्य माना है । सार्त्र के अनुसार प्रेम एक निरर्थक प्रक्रिया है, क्योंकि उसमें व्यक्ति-स्वतंत्रता की हानि होने की संभावना है । वे स्वतंत्रता को ही सबसे बडा मानवीय मूल्य मानते हैं । लेकिन उन्होंने संभोग को महत्व दिया है । इसमें स्वतंत्रता के अपहरण का डर नहीं है ।

यों अस्तित्ववाद ने मानवीय अस्तित्व की नींव पर मानव की समस्याओं और संभावनाओं के आकलन का महान् कार्य किया है । इसकी पद्धति अवश्य आत्मनिष्ठ रही है । मानवीय अस्तित्व, स्वतंत्रता और आत्मनिष्ठता पर सभी अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने समान विचार प्रकट किये हैं, लेकिन ये अवश्य दो खेमों में बंटे हुए हैं । सार्त्र के ही शब्दों में "दो प्रकार के अस्तित्ववादी हैं । पहला जो ईसाई (आस्तिक) जिसके अंतर्गत जास्पर्स और गेब्रियल मार्शल आते हैं, दूसरा जो नास्तिक जिसके अंतर्गत हेडगर, फ्रेंच अस्तित्ववादी और मैं खुद समाहित हूँ" । इसमें कीर्केगार्ड का नाम सार्त्र ने छोड दिया है, वह हम जोड़ सकते हैं ।

---

1. Existentialism and human emotions - Sartre - p.10.

दूसरा अध्याय

अस्तित्ववाद और अन्य दर्शन

दूसरा अध्याय

अस्तित्ववाद और अन्य दर्शन

अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद

अस्तित्ववादी दर्शन का आधुनिक रूप सार्त्र की देन है । उन्होंने अस्तित्ववाद को मार्क्सवाद के साथ जोडने का ऐतिहासिक कार्य किया । "द माडेर्न टाइम्स" नामक अपनी पत्रिका में सार्त्र ने अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद शीर्षक पर एक लेख लिखा था । इसमें उन्होंने मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी विचारों के अंतर दूर करने केलिए एक दार्शनिक प्रणाली प्रस्तुत की थी । फलत: संसार भर में अस्तित्ववादी - मार्क्सवादियों की एक नयी पीढ़ी उभर कर आयी। आगे हम मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद की तथ्यों की पृष्ठभूमि में विश्लेषण करके एकता और संघर्ष के क्षेत्रों का उन्मीलन करेंगे ।

स्वतंत्रता संबन्धी विचार

मानवीय स्वतंत्रता का प्रकरण अस्तित्ववादी दर्शन का सबसे आकर्षक पहलू है । इसका प्रभाव सारे विश्वसाहित्य में और समकालीन चिंतन पर ज़ोरदार रूप

।· अस्तित्ववाद - कीर्केगार्ड से कामू तक - योगेन्द्र शाही - पृ·।50

पड़ा है । विशेषत: विश्व के युवा वर्ग में सार्त्र के "मैं और मेरी स्थिति" से "मैं और मेरी स्वतंत्रता"का चिंतन-क्रम गहरा प्रभाव डाला है । सार्त्र ने जहां भी व्यक्ति की स्वतंत्रता खंडित हुई है, वहां अपना विद्रोह प्रदर्शित किया है । इसी स्वाधीनता से प्रतिबद्ध होने के कारण ही उन्होंने बूर्जुवा संस्कृति और समूचे पूंजीवाद के विरुद्ध आक्रोश प्रकट किया है । दूसरी ओर कम्यूनिस्ट पार्टी की आवश्यकता और उसके आदर्श पर पूर्णत: बल देते हुए भी उन्होंने स्वाधीनता के नाम पर उसकी पार्टीशाही को अस्वीकार किया, उसके विरुद्ध विद्रोह भी प्रकट किया । सार्त्र ने व्यक्ति की स्वतंत्रता पर बल देते हुए एक नया आयाम भी प्रस्तुत किया । उन्होंने व्यक्ति के चयन की स्वतंत्रता को समुह के चयन के रूप में बदल दिया[1] और व्यक्ति पर सारे समाज को संजोया तथा दावा किया कि अस्तित्ववाद की इस विशिष्ट स्वतंत्रता को अपनाकर मार्क्सवाद भी अपने स्वतंत्रता संबन्धी संकुचित दायरे से, बाहर आ सकता है ।

स्वतंत्रता की दार्शनिक व्याख्या

सार्त्र की दृष्टि में स्वतंत्रता अस्तित्व का पर्याय है । मानवीय स्वतंत्रता सार के पहले आती है, उसमें {कभी} "सार" का अस्तित्व ही नहीं रहता । बीइंग की अवस्था और स्वतंत्रता में कोई अंतर नहीं है । अत: स्वतंत्र रहने का मतलब अस्तित्व में रहना है या स्वतंत्रता ही अस्तित्व है[2] ।

मानव-अस्तित्व संपूर्णत: और शाश्वत: स्वतंत्र है । वह कभी स्वतंत्र या कभी गुलाम नहीं रह सकता । वह या तो संपूर्णत: और शाश्वत: स्वतंत्र रहता है,

1. Existentialism and human emotions - Jean Paul Sartre -pp.15,39,46
2. "Thus freedom is not a being; it is the being of man"
   Being and Nothingness - p. 569.

नहीं तो बिल्कुल अस्वतंत्र रहता है*। अत: स्वतंत्रता को अस्वतंत्र रहने की स्वतंत्रता नहीं है, उसे अनस्तित्व में रहने की स्वतंत्रता भी नहीं। "न बीइंग" स्वतंत्र नहीं रह सकता, यह "न बीइंग" की वास्तविकता है और बीइंग {स्वतंत्रता के अभाव में} अस्तित्व में नहीं रह सकता, यह बीइंग की संयोगात्मक अवस्था है। असल में संयोग और वास्तविकता दोनों एक है। अत: बीइंग की स्वतंत्रता "न बीइंग" की अवस्था में रहना है[1]।

यह व्याख्या इस तथ्य पर आ टिकती है कि सुक्ष्मत: स्वतंत्रता "शून्यत्व" है जो मानव के हृदय में बना रहता है और मानवीय वास्तविकता को "होने" के बदले "बनाते रहने" की प्रेरणा देता है। मानवीय वास्तविकता केलिए "होने" का मतलब अपने का ही चुनाव है, शून्यत्व उसीसे या बाहर से आता है जिसे चाहे तो वह स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। यदि शून्यत्व मानवीय वास्तविकता द्वारा ही इस दुनिया में अस्तित्व में आता है तो यह स्पष्ट है कि मानवीय वास्तविकता इस दुनिया से और स्वयं अपने से निषेध करनेवाली तथ्य को समझने में सक्षम बीइंग है। इस तथ्य की स्थायी संभावना स्वतंत्रता सी है। अत: मानवीय स्वतंत्रता उसका अपना "शून्यत्व" है। या इन परिस्थितियों में स्वतंत्रता शून्यत्व के रूप में ही रह सकती है[2]। "मैं स्वतंत्र रहने केलिए अभिशप्त हूँ, इसका मतलब यह है कि स्वतंत्रता के अलावा स्वतंत्रता की कोई सीमा नहीं है, या स्वतंत्र रहने की अनवरत अवस्था की समाप्ति संभव नहीं है"[3]।

मार्क्सवाद के साथ संबन्ध और संबन्धहीनता

सार्त्र के अनुसार स्वतंत्रता भूत, वर्तमान का निषेध करती है और भविष्य की ओर प्रयाण भी करती रहती है। मनुष्य चेतना को, भूतकाल तथा दुनिया की

---

* "Man cannot be sometimes slave and sometimes free; he is wholly free or he is not free at all" - Being and Nothingness - Sartre - p.569

1. Ibid. p.509
2. "Freedom is precisely the nothingness which is made to be at the heart of man and which forces human reality to make itself instead of to be" - Ibid. p.568.
3. Ibid. p.567.

र्तमान स्थिति का निषेध करते हुए तथा वर्तमान में अनुपस्थित भविष्य की ओर स्वयं संप्रेषित करते हुए स्वयं परिभाषित करने की शक्ति है और इस शक्ति में स्वतंत्रता निहित है । आत्मचेतना और स्वतंत्रता की इस विशिष्टता की वजह ी ही सार्त्र दावा करते हैं कि दुनिया का सृजन व्यक्ति को केन्द्रित करके किया ाया है या दुनिया व्यक्ति के चारों ओर परिक्रमा कर रही है । वर्तमान समाज में जीते हुए तथा उससे भी बेहतर समाज की कल्पना करते हुए हमें अपने दु:खों, मुसीबतों और संकटों को एक नये दृष्टिकोण से देखने की क्षमता प्राप्त होती है । तभी हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि वर्तमान व्यवस्था बिलकुल संकटपूर्ण है । लेकिन यह तभी हमें असहनीय लगता है जब इन परिस्थितियों के परिवर्तन के लिए सिद्धांत या पद्धति रूपायित होती है । इस संदर्भ में दो प्रकार के निषेध संभव होते हैं -

(1) भविष्य में संभव होनेवाली उस आदर्शपूर्ण अवस्था को वर्तमान में अनुपस्थित होने के कारण "शून्य" के रूप में कल्पित करना है ।

(2) वर्तमान यथार्थ अवस्था को भविष्य में संभव होनेवाली अवस्था से तुलना करते हुए समझना चाहिए कि वर्तमान भी शून्य है[1] ।

यहां सार्त्र यह सत्य स्वीकार करते हैं कि स्वतंत्रता और परिवर्तन में वर्तमान का निषेध निहित है । यहां निषेध कहां से आता है ? सार्त्र के अनुसार यह मनुष्य चेतना की शुद्ध एवं आत्मप्रेरित सृष्टि है । व्यक्ति-चेतना वर्तमान का निषेध करती है और आगे बढने केलिए नयी राहों का अन्वेषण करती है ।

मार्क्सवाद चेतना की अपेक्षा प्रयोग को प्राथमिकता देता है । वर्तमान को बदलने की क्षमता मनुष्य में होनी चाहिए । यह समाज से निरंतर संघर्ष याने

---

1 Being and Nothingness- J.P. Sartre -P-435-

प्रयोग के द्वारा ही संभव हो सकती है । इन संघर्षों के ज़रिए सिद्धान्तों का रूपायन होता है, लेकिन उन्हें प्रार्थमिकता नहीं दे सकते यद्यपि वे प्रयोग के सहायक एवं मार्गदर्शक बन जाते हैं । अत: सिद्धान्त या आशय, चेतना की आत्मप्रेरित सृष्टि नहीं बल्कि प्रयोग से उद्भूत अस्तित्व है[1] ।

मार्क्सवाद की मान्यता है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु और घटना परिवर्तनशील है[2] । यह सारी प्रकृति द्वन्द्वात्मक है । प्रत्येक वस्तु और घटना में विधमान विरुद्ध शक्तियों के निरंतर संघर्ष ही गति है और यही प्रकृति का विकास एवं परिणाम की प्रेरणा-शक्ति है । प्रकृति की हर वस्तु में यह द्वन्द्वात्मकता वर्तमान है, वैज्ञानिक अनुसंधान यह सिद्ध भी करते हैं[3] । मनुष्य भी इस प्रकृति का अंग है । विकास के नियम उसके लिए भी लागू है । गतिशील प्रकृति के साथ मनुष्य का भी विकास हो गया है और विकसित हो रहा है । इस विकास में स्वयं मनुष्य एक निर्णायक शक्ति है । उसे पहले प्रयोग तथा विचार के द्वारा समाज की विरुद्ध शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । फिर उस ज्ञान का प्रयोग करके समाज को परिवर्तित करना है । परिवर्तन के इस प्रयत्न में ही उस की असली स्वतंत्रता निहित रहती है । मनुष्य समाज का विकास भी इस परिवर्तन के ज़रिए ही होता है[4] ।

---

1. Dialectical Materialism - Maurice Conforth - p. 14
2. The world is not be comprehended as a complex of readymade things, but as a complex of processes in which all things go through an uninterrupted change of coming into being and passing away - Engels Ludwig Feurbach - Chapter IV - quoted Ibid. p.35.
3. Contradiction is the driving force of change. It is the presence of contradictions, that is, contradictory tendancies of movement, or of a unity and struggle of opposites, which brings about changes of movement in the course of a process - Ibid. pp. 85-86.
4. Mao-Tse-Tunge - On Contradiction - quoted Ibid. 90.

सार्त्र की यह धारणा है कि मनुष्य चेतना से ही निषेध-भावना आ सकती है । मार्क्सवादी दृष्टि में यह उनकी, भौतिकता में समाहित द्वन्द्वात्मकता को समझने की असमर्थता से उद्भूत है । सार्त्र इस तथ्य से भी अनभिज्ञ है कि चेतना वस्तु से उद्भूत होती है, दोनों आपस में बदल सकते हैं और भौतिक परिवर्तन की निर्णायक शक्ति के रूप में चेतना काम भी कर सकती है । सार्त्र की मान्यता की कोई भौतिक नींव नहीं है । वह आशयवाद है[1] ।

सार्त्र की राय में जनता विचार करने, आशा रखने और उन्हें अमल में लाने के लिए पद्धतियां तैयार कर सकती हैं[2] । मार्क्सवाद पूछता है कि इन्हें भौतिक नींव नहीं है तो क्या होगा ? मार्क्सवाद आरोप लगाता है कि सार्त्र ज़रूरतें से भागने के श्रम को याने मानवीय ज़रूरतें के निषेध को स्वतंत्रता की संज्ञा देते हैं । उनकी स्वतंत्रता संबन्धी धारणा दुनिया के परिवर्तन केलिए सक्षम नहीं है, बल्कि परिवर्तन की आशा समाये रख सकती है । सार्त्र के निषेध और स्वतंत्रता की भावना आशयवाद पर अधिष्ठित है, चेतना की संतान है । और उनकी ये धारणाएं कि मनुष्य पूर्णत: स्वतंत्र है, वह स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है, प्रत्येक व्यक्ति को अपने मूल्यों का, अपने भविष्य का सृजन करना है, अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व का पूर्ण दायित्व अपनाना है आदि पूंजीवादी समाज की देन है । वास्तव में व्यक्ति की सत्ता के निर्णय में भौतिक परिस्थितियों का जबरदस्त प्रभाव है । व्यक्ति अपने इच्छानुसार नहीं बन सकता । उसके कुछ बनने या स्वयं सृजन करने के श्रम में सामाजिक परिवेश का घेरा है । अनुकूल परिस्थितियों के अभाव में उसकी चाह अधूरी रहेगी । अत: व्यक्ति सीमाधीन है, परिवेश से बद्ध है[3] । सार्त्र व्यक्ति को इतिहास और समाज के प्रवर्तक के रूप में देखते हैं । लेकिन मार्क्सवाद की धारणा है कि व्यक्ति का अवश्य महत्व है, लेकिन वह समाज का संचालक शक्ति नहीं[4] ।

---

1. "Matter is not a product of mind, but mind itself is merely the highest product of matter." Quoted in Dialectical Materialism - Maurice Cornforth - p.14

2. "Man is nothing else, but what he makes of himself - Such is the first principle of existentialism" Existentialism and Human emotions - Sartre - P - 11.

3. Dialectical Materialism - Maurice Cornforth - P.152

4. Ibid

व्यक्ति के समाज से अलग विशिष्ट अस्तित्व की चाह उसके अपने में समेट जाने के श्रम से उद्भूत है । उसकी अनियंत्रित स्वतंत्रता की माँग केवल वैयक्तिक निषेध है, उसकी कोई सामाजिक उपादेयता नहीं । इन सब के कारण अस्तित्ववाद व्यक्ति की एकाकिता और निराशा का साक्षात्कार बन जाता है[1] ।

व्यक्ति की महत्ता

व्यक्ति के हैसियत की बात पर सार्त्र ने मार्क्स की आलोचना की है । सार्त्र के अनुसार "मार्क्स का मूल गन्तव्य बिन्दु है मनुष्य । सार्त्र आरोप लगाते हैं कि अपने व्यावहारिक अर्थात् कम्यूनिस्ट संस्करण में "पार्टी या "वर्ग" जैसे अरूप निर्गुण शब्द-सत्तायें या प्रत्यय ही प्रधान हो उठे हैं और सगुण सजीव मनुष्य (व्यक्ति) सत्ता इस शब्दाचार का शिकार बनी है । अस्तित्व उपेक्षित किया गया है, शब्द या प्रत्यय या युटोपिया ही सब कुछ हो गया है । सार्त्र के अनुसार पहले मनुष्य को उसकी संपूर्ण सत्ता (भौतिक और चेतन) में स्वीकार करना है, फिर उसके आधार पर समूह, इतिहास या भौतिक प्रकृति को समझना और वरण करना है सार्त्र का गन्तव्य बिन्दु है मनुष्य और मार्क्स का प्रस्थान बिन्दु[2] ।

मार्क्स - भौतिक जगत और इतिहास -- मनुष्य
सार्त्र - मनुष्य - भौतिक जगत और इतिहास ।

सार्त्र की धारणा है कि मार्क्सवाद, इतिहास और समाज की व्याख्या दे सकता है, लेकिन वैयक्तिकता की व्याख्या नहीं दे सकता । एक प्रत्येक समाज में, इतिहास के एक प्रत्येक संक्रांति काल में, एक प्रत्येक वर्ग में जीवित व्यक्ति की सृष्टि करनेवाली निर्माण प्रक्रिया को समझने में मार्क्सवाद असमर्थ है[3] ।

---

1. Existentialism, Marxism and Anarchism - Herbert Read - P.13
2. विनोद योग - युरोपियन दर्शन - P.P. 167-168.
3. Ibid.

लेकिन मार्क्सवाद की मान्यता है कि मानव एक सामाजिक जीवी है । व्यक्ति-मानव की वैयक्तिकता उसकी अपनी नहीं बल्कि समाज की है । और समाज के भीतर रहते हुए भी व्यक्ति मानव अपने व्यक्तित्व के रूपायान में समर्थ एवं स्वतंत्र है । मानव-इतिहास के विकास में व्यक्ति का यथार्थ हैसियत के संबन्ध में सार्त्र ने कुछ भी नहीं कहा है । लेकिन मार्क्सवाद इतिहास की संस्चना में, प्रतिकूल परिस्थितियों के विनाश की प्रक्रिया में व्यक्ति के योगदान के प्रति पूर्णत: अवगत है[1] । इस निर्णायक एवं निर्माणात्मक क्रिया में भाग लेने में मार्क्सवाद ने व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता दी है । अस्तित्ववाद में व्यक्ति की कीर्ति की छाय लेकिन मार्क्सवाद में समूह और व्यक्ति के सही संबन्ध का विश्लेषण करते हुए व्यक्ति को सक्रिय बनाने की निरंतर प्रक्रिया है और उसकी वजह से व्यक्ति को सामाजिक परिवर्तन के नियामक एवं निर्णायक शक्ति के रूप में कायापलट करने का बोधपूर्वक श्रम भी है[2] ।

मार्क्सवाद के अनुसार समाज का संघटक तत्व है[3] व्यक्ति। वह समाज का प्रतिनिधि है । मानव श्रम, ज्ञान, संस्कृति आदि सामाजिक है, वैयक्ति नहीं । सामाजिक शक्तियाँ या समूह-मानव निर्णायक मुहूर्त में निर्णायक नियमों व संरचना करती हैं । समाज का विकास या परिवर्तन का ऐतिहासिक श्रम भी समूह मानव पर अधिष्ठित है । यह व्यक्ति का आत्मनिष्ठ या आत्मप्रेरित का नहीं । बस, इतना कि व्यक्ति इसका निमित्त बन जाता है[4] ।

गतिशीलता का सिद्धान्त और द्वन्द्वशास्त्र

अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने मनुष्य में वर्तमान परिवर्तनशीलता को मान्य दी है । स्वतंत्रता संबन्धी प्रकरण में इसकी सूचना दी गयी है । "अस्तित्व"

1. Dialectical Materialism - Maurice Cornforth - p. 152
2. Ibid.
3. ~~Ibid.~~ Dialectical Materialism - Maurice Cornforth - p. 152.
4. Dialectical Materialism - Maurice Cornforth - p. 152.

मतलब "अस्मिता परे गति" है ।[1] अर्थात् एक स्थिति से दूसरी स्थिति या अंतिम स्थिति की ओर गति । अत: मनुष्य अपने वर्तमान स्थिति में नहीं रहता । वह गतिशील है । और वर्तमान स्थिति में भविष्य का बीज है तथा उसके साथ अतीत जुड़ा हुआ भी है । प्रत्येक काल-बिंदु पर भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों एकत्र रहते हैं । आस्तिक अस्तित्ववादी कीर्केगार्ड ने कहा है कि मनुष्य सदैव हो रहा है, या बन रहा है- इसी अवस्था में रहता है । वह कभी भी संपूर्णत: खराशा - तमाशा, अंतिम रूप (finished product) नहीं बनता । अत: उसमें निरंतर विकसित होने की आशा वर्तमान है[1] । नास्तिक अस्तित्ववादी भी इस अस्मिता - परे गति को स्वीकार करते हैं, पर इसे आशावाद तक नहीं ले जाते । इस सतत अस्मिता परे गति का तात्पर्य उनके अनुसार यही है कि मनुष्य को किसी नियम के शिकंजे में कसा नहीं जा सकता, क्योंकि वह सतत विकास-शील है, या परिवर्तनशील है । वह सदैव वर्तमान पर रहते हुए भी सतत भविष्योन्मुखी रहता है[2] ।

सार्त्र ने इस गतिशीलता को मानते हुए मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की भी मान्यता दी है । उनकी राय में ऐतिहासिक भौतिकवाद मनुष्य के ऐतिहासिक विकास का प्रामाणिक भाष्य है[3] । साथ ही उन्होंने मत-भेद भी प्रकट किया है । मनुष्य जड़ वस्तु नहीं, कीड़े मकौडे भी नहीं । सार्त्र के मत में मार्क्सवादी व्यवहार में मनुष्य को मात्र वस्तु (object) मानते हैं और उसकी भाव सत्ता (subjectivity) को तिरस्कृत करते हैं । उनकी मान्यता है कि वह भावक (subject) भी है और उसका संपूर्ण अस्तित्व इसी वस्तु और भावक के परस्पर संबन्ध से उत्पन्न होता है[4] ।

---

1 Existence is a perpetual transcendence, that is to say a passing beyond that which one is. We only exist with the progress towards a further stage of being, realised by free choice." Existentialism - Paul Foulquie-p.6

2. कीर्केगार्ड के दार्शनिक - योगेन्द्र शाही- p.41.

3. 'विषादयोग' में मुक्तिबोध द्वारा उद्धृत - p.167.

4. Critic of Dialectical reason - Sartre - Quoted - Ibid.

सार्त्र ने मार्क्स के द्वन्द्वशास्त्र के बदले अपने द्वन्द्वशास्त्र का भी आविष्कार किया है । उनके मत में पूंजीवाद का प्रतिद्वंद्वी समाजवाद है । लेकिन वे वर्ग संघर्ष पर ज़ोर देते नहीं । वर्ग संघर्ष अवश्य है, पर वह मानव-इतिहास की संचालक शक्ति नहीं । सार्त्र के शास्त्रानुसार मानव-इतिहास की संचालक शक्ति है - अभाव या अपर्याप्ता (scarcity) तथा उससे उद्भूत मांग का अनुभव । उनके विचार में सदैव अभाव रहेगा, मनुष्य के सारे अभावों की पूर्ति कभी नहीं होगी, एक अभाव से द्वितीय अभाव, उससे तृतीय अभाव यों अभाव-शृंखला जन्म लेती रहेगी । फलत: इतिहास कभी भी पूर्ण विराम पर नहीं आएगा, वह निरंतर गतिमान रहेगा[1]

कामू के विचार - कामू तो मार्क्सवाद से सहमत ही नहीं, बल्कि पूर्णत: विरोधी है उनके विचार हैं कि नित्शे द्वारा ईश्वर की मृत्यु की घोषणा के बाद, ईश्वर के स्थान पर "इतिहास" की प्रतिष्ठा हो गयी । ऐतिहासिक शक्ति के नियम के आधार पर आधुनिक मानव को दो मूल्य-समूह मिल गये - नाज़ी फासिस्ट और मार्क्सवादी नये मूल्यों की स्थापना के लिए क्रांतियां लायी गयीं, जिनसे इतिहास चक्र आगे बढ गए, उसकी गति तेज़ हो गयी[2] ।

कामू ने देखा कि नाज़ीवादी और मार्क्सवादी क्रांतियां मनुष्य की हत्या पर उतारू हैं । क्रांति का अर्थ हो गया है, हत्या । हत्या को दार्शनिक एवं ऐतिहासिक लिबास मिल गया है । और मानव-मुक्ति के स्थान पर नये बंधन आ गये हैं[3] ।

कामू मानते हैं कि यह सारी दुनिया "एब्सेर्ड"[4] है और एब्सर्ड दुनिया में कोई चरम प्रत्यय या मूल्य नहीं हो सकता । मार्क्सवादी इन चरम प्रत्ययों को मूल्य

---

1. Critic of Dialectical Reason - Sartre - Quoted in निबंधमाला - कुबेरनाथ राय - p.141.
2. Rebel - Albert Camus - p.p. 245-247.
3. Ibid.
4. Man wants to reign supreme through the revolution. But why wish for immortality if the aspect of life is so hideous? Why reign supreme if nothing has any meaning?
   Ibid - p. 247.

बनाने की कोशिश करते हैं । फलत: हत्या और रक्तपात होते हैं ।

इस विसंगत दुनिया से बचने के लिए कामू ने क्रांति के बदले विद्रोह को प्रस्तुत किया है । उन्होंने क्रांति और विद्रोह के अंतर का भी विश्लेषण किया है - क्रांति एक पूर्वनिश्चित प्रत्यय या दर्शन को लेकर आगे बढती है तो विद्रोह सापेक्ष मूल्यों और सगुण स्थिति को समेटते हुए चलता है । उसमें व्यक्ति और समूह का संतुलित रूप रहता है[1] । अत: कामू की दृष्टि में क्रांति की जगह विद्रोह की श्रेष्ठता है और वही वरणीय भी है ।

अस्तित्ववाद और भारतीय दर्शन

आत्मज्ञान की तीव्र लालसा, अस्तित्व-व्यथा से संत्रस्त एवं अस्वस्थ मन की विह्वलता और निराशा तथा एब्सर्ड-बोध वेदकालीन मानव-मन में भी मौजूद थीं, इतिहास और पुराणों की कथाएं इस सत्य की बुलन्दी लगाती हैं । ऋग्वेद के कुछ सूत्र इन नर्दिवाधार समस्याओं को ऊपर उठाते हैं कि संदेहहीन ज्ञानी कौन है ? बुनियादी कारण क्या है ? सृष्टि का स्रोत कहां है ? मैं क्या हूं ? मुझे मालुम नहीं । मैं सिर्फ मानस की निगूढ शक्ति की वजह से भटक रहा हूं"[2] । कठोपनिषद् में इस दु:खात्मक सत्य को व्यक्त किया गया हैं कि वेद-सूक्तों से हम आत्मज्ञान से अवगत नहीं हो सकते । यह अन्वेषण निरर्थक है । और यह निरर्थकता-बोध अस्तित्व-समस्या की गहनता को और गहन बनाने के सिवा अन्तेषण की संकटपूर्ण एवं दुरूह राह से मानव को हटा नहीं सकता । नचिकेताकी कहानी इस अविराम अन्वेषण और उससे उद्भूत निरर्थकता-बोध का उज्ज्वल नमूना है । नचिकेता की स्तुति से प्रसन्न होकर यम ने उसे तीन वर देने का वादा किया था । तीसरे वर के रूप में नचिकेता यम से यह प्रश्न पूछता है - प्रभु । आज मृत व्यक्तियों के संबन्ध में किसी को पूर्ण ज्ञान नहीं है । कोई कहता है कि मृत्यु के बाद भी अस्तित्व

---

1. रेबल - आल्बेर कामू - पृ. २२, २८२.
2. हिंदी ऋग्वेद - पृ. १४२२.

बना रहता है, लेकिन इसका निषेध हुआ है । मृत्यु का असली सत्य क्या है, मुझे बता दीजिए । यह सुनकर यम असमंजस में पड जाते हैं । वे नचिकेता से अनुरोध करते हैं कि "प्रिय तुम किसी और वर को स्वीकार करो । यह प्रश्न दुरूह है । सुरों को भी इस विषय पर संदेह है । मुझे तकलीफ न दो । कृपया मेरेलिए ही सही इस मांग को वापस लो"[1] । यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि नचिकेता लौकिक या अलौकिक सुखों पर आकृष्ट नहीं है जिसका यम ने वादा किया था, लेकिन उसका मन उस असफल प्रयास में ही रम गया है - मानव-जीवन का अर्थ क्या है ? और वह इसी धुन में स्वयं पीडा की अग्नि में सुलग रहा है ।

कहा गया है कि नारद ज्ञानी है । भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञानी । लेकिन छान्दोग्योपनिषद् में अस्तित्व-व्यथा से संत्रस्त नारद का जो रूप उभर आया है वह आधुनिक अस्तित्ववादी दार्शनिकों की याद दिलाता है । सनिलकुमार के आगे नारद अपना हृदय खोल रखता है - भगवान्, मैं चारों वेदों का ज्ञानी हूँ । पांचवाँ वेद इतिहास पुराणों का भी मुझे गहरा ज्ञान है । लेकिन, मैं इन्हें मंत्रों के समान रट ही सकता हूँ । आत्मा के संबन्ध में मैं बिलकुल अनभिज्ञ हूँ । आप लोगों से ही मैं ने सुना है कि जो आत्मज्ञानी है वह दुख से मुक्ति प्राप्त कर सकता है । भगवान् मैं दु:खी हूँ । दु:ख-मोचन की राह मुझे बता दीजिए[2] ।

बीसवीं शताब्दी में भी यह समस्या यों ही दुरूह बनी हुई है । अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने भी जीवन-रहस्य एवं मानव अस्तित्व के सत्यों के उन्मीलन करने का तीव्र प्रयास किया था, यह हम देख चुके हैं । और इस निष्कर्ष पर पहुंचने को मजबूर हो जाते हैंकि इन दोनों में सिर्फ काल का फासला है पर दोनों की मानसिकता में अद्भुत एकरूपता है ।

---

(1) "देवैरत्रापी विचिकित्सितं पुरा
न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः
अन्यं वरं नाचिकेतो वृणीष्व
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् रो" ।- 108 उपनिषदें -PP-66-67-

(2) वही - P.P. 311-12.

अस्तित्ववाद और बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन और अस्तित्ववाद मानवीय अवस्था की नींवाधार समस्याओं पर ही गहरी दृष्टि से विचार-विमर्श करते हैं । दोनों जिन्दगी के समग्र निरीक्षण से उद्भूत अन्तर्दृष्टि से मानव के सांसारिक अस्तित्व, सांसारिक स्थितियों से उनका संबन्ध तथा मानवीय चेतना का जीवन चित्रण प्रस्तुत करते हैं । मानवीय अवस्था, संकट तथा समस्याओं के उन्मीलन में ये दोनों काल और परिवेश के दायरे से बाहर आकर एकमत हो जाते हैं । दोनों में मानव की इस मन:स्थिति की गहनतम व्याख्या हुई है कि मानव अपने सांसारि अस्तित्व से क्लान्त है । बौद्ध दर्शन में बार बार यह बात दुहरायी गयी है कि सब दु:खमय है । यह जन्म भी दु:ख है, बुढापा भी दु:ख है, मरण, शोक, रुदन, अप्रिय से संयोग, प्रिय से वियोग और इच्छित वस्तु की अप्राप्ति ये सभी दु:ख है । बुद्ध के अनुसार जब से जगत् चला आ रहा है तबसे जितने आंसू बहे हैं उनकी तुलना में सागरों की जल-राशि भी कम है[1] ।

बौद्ध दर्शन में दु:ख की असीमता स्वाभाविक है । राजकुमार होने के बावजूद भी वे मनुष्य जीवन की विद्रूपता एवं म्रियमाणता से दु:खित होकर, समस्त मानव-जाति को जरा-मरण, दु:ख तथा संकट से निवृत्ति के उपाय खोजते घर से निकल पडे थे । शून्यवाद के व्याख्याता नागार्जुन को भी बचपन में ही जीवन की दारुण यंत्रणाओं को झेलना पडा था । उनकी अकाल-मृत्यु से डर कर, जिसकी ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी दी थी, माता-पिता उन्हें छोड चले गये थे । लेकिन वे भविष्यवाणी से बच गये । बुद्ध और नागार्जुन के समान कीर्केगार्ड, नीत्शे, कामू, काफ्का जैसे अस्तित्ववादी दार्शनिक एवं साहित्यकार भी बचपन में ही जीवन के सारे विद्रूप आतंकों से गुज़र गये थे[2] और उनके वैयक्तिक जीवन ने अस्तित्ववादी दर्शन के रूपायन में नींवाध का महत्वपूर्ण कार्य किया था ।

---

1. बुद्ध का कथन - भारतीय दर्शन की रूपरेखा में एम. हिरियन्ना द्वारा उद्धृत - पृ.137

2. Contemporary Indian Philosophy - Series II edited by Margret Chatterjee - 1974 Essay on the experience of nothingness in Buddhism and existentialism - by Ramaka

कीर्केगार्ड के मन में पीडा और उदासी बचपन से ही चिरसगिनी के रूप में उत्पन्न हुई थी । धीरे धीरे इस पीडा को उन्होंने अपने व्यक्तित्व के अविभाज्य अंग के रूप में समझ लिया । और उसे वे ईश्वरीय वरदान मानने लगे । यहाँ तक कि दु:ख और दर्द को अपनी चेतना समझने लगे । 1841 में अपनी डायरी में उन्होंने यों लिखा है - जब ईश्वर किसी व्यक्ति को अपने से मिला लेना चाहते हैं तो वे अपने सर्वाधिक विश्वस्त परिचारिका "उदासी" को बुलाकर कहते हैं - हे जल्दी करो, उसे ग्रहण कर लो, देखो कभी इसकी बगल से हटना मत । और सच, संसार की कोई भी नारी अपने प्रेमी को ऐसा मृदु आलिंगन नहीं दे सकती जैसा कि वह उदासी[1] । अपने वैयक्तिक जीवन की विद्रूपता की वजह से उन्हें लगने लगा था कि जन्म नियति द्वारा लादा हुआ एक दण्ड है और इसके लिए हर व्यक्ति दुनिया से बदला लेता है । उसका अपना बदला हैकि अपने दु:ख और पीडा अपने अंतरतम की पूरी गहराई से सहना और अपनी हंसी से सबको खुश करने का प्रयत्न करना[2] ।

जीवन के सारे कडवे तीखे अनुभवों ने नीत्शे की जिन्दगी को सोख लिया था । वह हमेशा अकेला रहा, कभी शादी नहीं की, किसी स्त्री के साथ नहीं रहा, कभी किसी स्त्री से, शायद एक वेश्या को छोडकर उसका शारीरिक संबन्ध भी न हुआ । बहुत कम लोग ही उसे पसन्द करते थे और सराहते थे । वे भी कभी न कभी विरोधी हो गये । इसके अलावा सभी प्रकार की बीमारियाँ उसके बगल में चिपकती रहीं । उन्होंने स्वयं कहा है - मेरा जीवन कागज पर अदृश्य के हाथों बनाई हुई खरोंच है । लगता है प्रकृति नयी लेखनी का परीक्षण करना चाहती है[3] । ऐसी ही शब्दावली कीर्केगार्ड ने भी प्रस्तुत

---

१. आधुनिक परिवेश और अ

1. आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद - डा. शिवप्रसाद सिंह - P. 29. (उद्धृत)
2. वही - P-31.
3. वही - P 48-49.

की है - वह {उसका जीवन} ईश्वर के शक्तिशाली हाथों खिंचे गए असफल प्रयोग के रूप में मिटा दिया जाएगा[1]।

चिंतन या दर्शन को अनुभूति से जगना चाहिए। उसे अपने भोगे हुए क्षणों का अभिसाक्ष्य होना चाहिए। इस दृष्टि से बौद्ध और अस्तित्ववादी दर्शन पूर्णत: खरे उतरते हैं।

यह देखने की बात है कि यद्यपि बुद्ध ने अपने प्रवचनों में दु:ख की बात दुहरायी है फिर भी उन्होंने उससे बचने का उपाय भी बताया है।[2] वे कहते हैं -"जब भी मैं किसीको दु:खी देखता हूँ, सहानुभूति देता हूँ, अपनी पूरी योजना से उसे सांत्वना देता हूँ।"[3] और वे जीवन की उदासी के भीतर प्रखर बौद्धिक चेतना जगाने में भी समर्थ हुए थे। उन्होंने स्वयं लिखा है - इसमें क्या आश्चर्य कि इस निराशा में मैंने मनुष्य के बौद्धिक स्तर को ग्रहण कर लिया और उससे इस तरह चिपका रहा कि मेरे लिए यह बौद्धिक चेतना ही संतोष का एकमात्र आधार बन गयी।[4]

बुद्ध ने मान लिया था कि संसार की सभी वस्तुएं अनित्य है। वस्तुओं का अस्तित्व इस अनित्यता पर निर्भर है। बाहरी स्थूल जगत और आन्तरिक सूक्ष्म जगत दोनों ही क्षणिक हैं। उन्होंने ब्रह्मवाद का विरोध करके, वेदान्त के सत्, चित् आनंद को क्रमश: अनित्य, दु:ख और अनात्म कहकर अमान्य घोषित किया। बुद्ध ने जिसको अनित्यवाद कहा था, उनके अनुयायियों ने उसीको क्षणिकवाद नाम दिया। क्षणिकवाद के अनुसार जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश भी जरूर है। प्रत्येक वस्तु अनित्य है या प्रत्येक वस्तु की

1- आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद - डा० देवराज एवं - पृ-49.

2- पाश्चात्य दर्शन की रूपरेखा - सी० दिवसा - P.131

3- [illegible] - सन्मुख सभी - आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद में डा० देवराज एवं पृ। उद्धृत - P- 31.

4 Existentialism for and Against- Paul Roubiczek. P.112.

सत्ता क्षणिक है । प्रत्येक वस्तु में एक समय एक ही कार्य हो सकता है, दूसरे क्षण दूसरा कार्य । अत: विकास की प्रक्रिया में कोई भी दो क्षण एक नहीं है । इस दृष्टि से कोई भी मनुष्य दो क्षणों में समान नहीं रहता है । दिङनाग आदि बौद्धों ने तार्किकता के आधार पर सिद्ध किया कि वस्तु की स्थिति क्षणिक है । उत्पन्न होना ही उसका नाश होना है । उत्पत्ति और विनाश का फल एक ही है । प्रत्येक जीव या वस्तु जन्म के साथ मृत्यु या विनाश को बाँधे रहता है । संसार के सारे सांसारिक कार्य, मत, मानसिक भाव आदि सब क्षणिक है । अत: क्षणिक होना ही उनके अस्तित्व की प्रामाणिकता है[1] ।

अस्तित्ववादी दार्शनिक इस क्षणिकता विशेषत: मानव-अस्तित्व की क्षणिकता से पूर्णत: अवगत हैं । हेडगर कहते हैं कि मानव इस दुनिया में फेंका गया है । जन्म के साथ बंधी मृत्यु में अंतर्भूत अपनी अस्तित्वहीनता के प्रति वह सचेत है । और इसकी वजह से वह हर पल संत्रास की स्थिति से गुज़रता रहता है । उनकी धारणा है कि मनुष्य अधिक से अधिक एक संभावना है - कुछ हो सकने की शक्ति । लेकिन मनुष्य का होना उसके अपने अस्तित्व के लिए चुनौती है क्योंकि इस होने का स्वाभाविक परिणाम है, वह त्रास जो हमें एकांत की ओर जाने के लिए विवश करता है । यह संत्रास मानव के जगत् में होने का स्वाभाविक नतीजा है और इसकी वजह से ही मानव-अस्तित्व का उन्मीलन भी होता है । अस्तित्व एक भविष्योन्मुख संभावना है और उसकी सबसे अटल संभावना है मृत्यु । लेकिन मृत्यु अस्तित्व की भविष्योन्मुख संभावना को स्थगित ही कर सकती है, नष्ट नहीं । यों त्रास-मृत्यु को आमने-सामने हेडगर ने घोषणा की कि अस्तित्व एक अरक्षित विजय मात्र है, संपूर्ण विजय नहीं[2] । कीर्केगार्ड की मान्यता है कि मानव अचेतन वस्तुओं के समान बिलकुल नहीं है । मानवीय चेतना एक उच्चतर स्थिति की ओर आगे

---

1. दर्शन - दिग्दर्शन - राहुल सांकृत्यायन - पृ. 511
2. रीज़न इन इन्क्सस्टन्श्यलिज़म - हेडगर - पृ. 40-41

बढती रहती है या ईश्वर की ओर उन्मुख रहती है । और उनके विचार में त्रास एक ऐसी चीज़ है जो मनुष्य को अपने से बाहर एक आस्था के राज्य में छलांग मारने के लिए विवश बनाती है[1] ।

अस्तित्ववाद और शून्यवाद

बुद्ध की मानव-जीवन संबन्धी धारणाओं की व्याख्या के संदर्भ में, प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने शून्यवाद का आविष्कार किया था । उन्होंने विरोधी तर्कों का खण्डन करके यह सिद्ध किया कि वस्तुओं के भीतर कोई स्थिर तत्व नहीं है, वस्तु सार के बदले शून्यता है, वह विच्छिन्न प्रवाह मात्र है । नागार्जुन ने शून्यता का माहात्म्य बतलाते हुए लिखा है कि जो इस शून्यता को समझ सकता है, वह सभी अर्थों को समझ सकता है । जो शून्यता को नहीं समझता, वह कुछ भी नहीं समझता[2] । उन्होंने शून्यता को प्रतीत्य समुत्पाद कहा है । अर्थात् विश्व और उसकी सारी जड चेतन वस्तुओं में कोई स्थिर तत्व नहीं है । सभी भावों या सत्ताओं की उत्पत्ति विच्छिन्न प्रवाह के रूप में होती है[3] ।

नागार्जुन प्रतीत्य समुत्पाद के दो अर्थ लेते हैं । (1) प्रत्यय (हेतु) से उत्पत्ति । सभी वस्तुएं प्रतीत्य समुत्पन्न है, अर्थात् सभी वस्तुएं अपनी उत्पत्ति में अपनी सत्ता को पाने के लिए दूसरे प्रत्यय पर आश्रित रहती हैं ।

---

1. स्टेजस ओण् लाइफ्स वे - एस·कीर्केगार्ड - अनु·वाल्टर लाउरि, पृ·9-10
2. "प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्था:
   प्रभवति न तस्य किंचित् न भवति शून्यता यस्य"
   दर्शन - दिग्दर्शन में राहुल सांकृत्यायन द्वारा उद्धृत - पृ·57
3. य: प्रतीत्य समुत्पाद: शून्यतं तं प्रचक्ष्महे ।
   सा प्रज्ञप्तिरूपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ।।
   माध्यमिक कारिका - 24-28 विग्रहव्यावर्तिनी - 67 वां
   कारिका - वाचस्पतिगैरोला द्वारा उद्धृत - पृ·166

दूसरा अर्थ है, क्षणिकता सभी वस्तुएं क्षण के बाद नष्ट हो जाती हैं और उसके बाद दूसरी नयी वस्तु या घटना क्षण-भर के लिए आती है । अत: उत्पत्ति विच्छिन्न प्रवाह-सी है । और पराश्रित सत्ता के अर्थ को लेकर नागार्जुन साबित करना चाहते हैं कि जिसकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश हैं, उसकी परमार्थ सत्ता कभी नहीं मानी जा सकती या उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता । न तो बाह्य सत्ता है, और न अन्तसत्ता ही है । सभी शून्य के गर्भ में विलीन हो जाते हैं[1] । अत: न सत् है, न असत् है, न सत् और असत् दोनों हैं, न सत् और असत् दोनों नहीं है ।

नागार्जुन के शून्यवाद और हेडगर तथा सार्त्र की शून्यवादी धारणा में अद्‌भुत समानता है । हेडगर मानते हैं कि मानव नश्वर है, उसकी गति अनस्तित्व की ओर है । इस दुनिया में जीते हुए भी वह उस स्थिति की ओर उन्मुख है जिसे उसने जन्म के निमिष में ही चुन लिया था । वे कहते हैं कि मानवीय अस्तित्व शून्यता में बहती चीज़ है । सहज अवबोध {अर्न्तज्ञान} से शून्यता की अनुभूति हो सकती है । शून्यता बीइंग का विलोम नहीं है । वह बीइंग की सत्ता में ही निहित है । बीइंग में शून्यता की उपस्थिति के कारण ही, "जो है" वह ऐसा ही है की अनुभूति हमें होती है । और "जो है" के नकारने से ही शून्यता की अनुभूति होती है । अत: "जो है" के लिए शून्यता सत्ता-शास्त्रीय नींव प्रदान करती है[2] ।

हेडगर के विचार में शून्यता मानव की अपनी उत्पत्ति और लक्ष्य की अंतिम स्थिति है । उन्होंने युक्तिवादी दर्शनों का निषेध किया था । वैसे ही नागार्जुन ने भी ब्रह्म की वास्तविकता पर जोर देनेवाली उपनिषद् परंपरा का

---

1. न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
   चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यापिका विदु: ।। {माध्यमिक कारिका ।-7}
   सर्वदर्शनसंग्रह: - पृ॰36

2. 'Nothingness is not in opposition to being. It is rooted in very ontology of being. ... Nothingness posits itself as the ontological ground of all that is.' — Essay on 'The experience of Nothingness in Buddhism and existentialism- Ramakant Sinari — Contemporary Indian philosophy- Series II Mararet chatterjee (ed) - P. 222

निषेध किया था । दोनों के दर्शन में बीइंग का स्थान शून्यता लेती है । दोनों शून्यता के क्षेत्र में ही अपने दर्शन रखते हैं जिसमे वास्तविकता (सत्ता) दिखाई पड़ती है । हेडगर की शून्यत्व धारणा मानव के मृत्यु-भय एवं संत्रास की स्थिति का भी विश्लेषण करती है । आदमी इसीलिए आतंक या संत्रास से पीड़ित रहता हैकि मृत्यु उसके सिर के ऊपर हमेशा डेमोक्लिस की तलवार सी टंगी रहती है । और विज्ञान तथा तर्क की वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया को उन्होंने इसीलिए मान्यता भी नहीं दी कि उससे संत्रास और शून्यता के अभाव होने की संभावना है[1] ।

सार्त्र के अनुसार बीइंग और शून्यता एक दूसरे में इतना लीन रहते हैं कि एक का अस्तित्व दूसरे के अभाव में अनस्तित्व में बदल जाता है ।[2] शून्यता बीइंग से पहले या बीइंग का निषेध करते हुए अवतरित नहीं होती है । वह एक "वास्तव" है । मानवीय चेतना ही बीइंग और नोन-बीइंग की सृष्टि करती है । अत: बीइंग का अस्तित्व बीइंग के बाद या पहले नहीं है बल्कि बीइंग के साथ या उसकी पृष्ठभूमि में है । वे कहते हैंकि मानवीय प्रवृत्तियों - जैसे सवाल करना, जज करना, समस्या का अवतरण तथा समाधान निकालना - द्वारा ही शून्यता उन्मीलित होती है । सिर्फ इतना कि परिवेश के अनुसार उसकी मात्रा में परिवर्तन होता रहता है । शून्यता बीइंग के भीतर सर्पिलाकार पड़ी रहती है ।[3] मानवीय वास्तविकता से मुकाबला करते वक्त वह बीइंग की ओर रेंगती है और विषय (सब्जेक्ट) का विषयी (आब्जेक्ट) के साथ संबन्ध होते ही दृश्यमान होने लगती है ।

यों नागार्जुन, हेडगर तथा सार्त्र की शून्यवादी धारणाओं के विवेचन से यही समझ में आता है कि ये तीनों दार्शनिक वस्तु सत्ता या बीइंग के भीतर शून्यता की उपस्थिति को मानते हैं और यही बीइंग के लिए सत्ताशास्त्रीय नींव प्रदान करती है ।

---

1. Existentialist Thought – Ronald Grimsley- Introduction.
2. The Being by which 'Nothingness comes to the world must be its own Nothingness."
3. Nothingness if it is supported by being, vanishes qua nothingness, and we fall back upon being. Nothingness can be nihilated only on the foundation of being. ∴ Nothingness lies coi

Being and Nothingness-

सांख्य दर्शन से तुलना

सांख्य दर्शन की मान्यता है कि जो जिससे संयुक्त रहता है, उसी कारण से निकलता है जैसे स्वर्ण पात्र स्वर्ण युक्त है, इसलिए स्वर्ण उसका कारण है । यह संसार सुख-दुख और मोह से बने किसी कारण से उत्पन्न है । इसलिए संसार भी सुख-दुख मय है[1] । लेकिन सांख्यों ने इस कारण को भौतिक माना है, इसलिए यह दुनिया भौतिक है । सांख्य दर्शन में अविराम गतिशील एवं एक वस्तु से दूसरी वस्तु के रूप में परिणत होनेवाली नित्यवस्तु की भी कल्पना की गयी है जो क्रांतिकारी तथा प्रबल धारणा है । इस आदिवस्तु में गति के अलावा बुद्धि, मन, सत्ता आदि गुणों का भी सन्निवेश हुआ है । बुद्धि, मन आदि आदि-वस्तु के परिणाम से उद्भूत हैं । षेवस्त्वात्सकी कहते हैं कि यह वस्तु मानव शरीर को ही नहीं बल्कि हमारे सारे मानसिक भावों को भी अपने में समेटती चलती है । उनकी उत्पत्ति, भौतिकता आदि का आधार यही वस्तु है[2] । निरंतर गतिशीलता को मानते हुए इसने परिवर्तन की सार्वलौकिता तथा सार्वकालिकता को भी मान्यता दी है । सांख्य वचन सूत्र में कहा गया है कि परिवर्तन हर एक जगह और हर एक क्षण हो रहा है । हम एक ही जलधारा में दो बार पग नहीं डाल सकते क्योंकि जल दो क्षण के लिए वही नहीं रहता । और यह भी सत्य है कि वही व्यक्ति उसी जलधारा में दो बार पग नहीं डाल सकता क्योंकि इसी बीच जैसे जलधारा में परिवर्तन होता है वैसे ही आदमी में भी परिवर्तन होता है । सब वस्तुएं तथा अवस्थाएं बाह्य तथा आभ्यंतर इस परिवर्तन के विधान के अधीन है[3] ।

---

1. सर्व दर्शन संग्रह - पृ.618
2. भारतीय दर्शन - देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय - 1971 करन्ट बुक्स, - पृ.197
3. सांख्यवचन सूत्र - 1. 121 - सर्वदर्शन संग्रह - पृ.258

अस्तित्ववादी दर्शन के दु:ख और क्षणिकता का विवेचन अन्यत्र हो चुका है ।

लोकायत दर्शन से तुलना

लोकायत {चारवाक} दर्शन भौतिकवादी है । यह इंद्रियानुभूत ज्ञान {प्रत्यक्ष} को ही प्रामाणिक मानता है । इसलिए ही इसमें परंपरागत हिन्दू विचारधारा के विरुद्ध चार भूतों - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु - को ही मान्यता दी गयी है । आकाश का इसलिए निषेध किया गया है कि वह अनुमान द्वारा ज्ञेय है[1] ।

लोकायत दर्शन मानता है कि देह ही आत्मा है । आत्मा का शरीर से अलग कोई अस्तित्व नहीं है । मानवीय चेतना, मानसिक व्यापार, अनुभूति, चिंतन आदि सब शरीर के गुण हैं, और शरीर के विघटन के साथ नष्ट भी होते हैं । यह दर्शन किसी लौकिक - अलौकिक या अनुभवातीत सत्ता में भी विश्वास नहीं रखता । वह न विश्व का शासन करनेवाले ईश्वर को मानता है और न मनुष्य को सन्मार्ग पर चलनेवाली किसी अंतर्भावना को । मरणोत्तर अस्तित्व और स्वर्ग-नरक में भी यह भरोसा नहीं रखता । बृहस्पति कहते हैं कि न तो स्वर्ग है, न मोक्ष और न परलोक में रहनेवाली आत्मा । वर्णाश्रम आदि क्रियायें भी हल देनेवाली नहीं है[2] ।

यह दर्शन घोर उपयोगितावाद पर अधिष्ठित है । यह दु:ख को जीवन का अपरिहार्य अंग मानता है, लेकिन इसकी वजह से अपने सुख को त्यागने का उपदेश नहीं देता । भूसी के कारण कोई दाने को त्याग नहीं देता[3] ।

---

1. भारतीय दर्शन - वाचस्पती गैरोला - पृ॰74
2. न स्वर्गो नापवर्गो व नैवात्मा पारलौकिक: ।
   नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिका: ।। सर्वदर्शन संग्रह - पृ॰23
3. सर्वदर्शन संग्रह - पृ॰3

संसार सुख - दुख मय है, इसलिए ही सुख-दुख से दुख को हटाकर सुख का आस्वादन कर सकता है । यह मूर्खों का विचार है कि सुख की उत्पति सांसारिक विषयों के साथ ही है तथा वह दुख से भरा है, इसलिए उसे छोडना चाहिए[1] । यह जीवन भौतिक सुखों के आस्वादन के लिए है । काम, अर्थ, मोह से जो सुख मिलता है, उसे संपूर्णत: भोगना चाहिए । भविष्य की चिंता में वर्तमान का बलिदान करना मूर्खता है । जब तक जीवन रहे तब तक सुख से जीना चाहिए क्योंकि ऐसा कोई नहीं है जिसके पास मृत्यु न आ सके, जब शरीर एक बार जल जाता है तब उसका पुन: आगमत कैसे हो सकता है[2] ?

यद्यपि चर्वाक दर्शन की तुलना में अस्तित्ववाद की दार्शनिक नींव पूर्णत: भौतिकवादी नहीं है फिर भी नास्तिक अस्तित्ववादी दार्शनिकों की कतिपय धारणायें उससे मिलती जुलती है । नीशे ने घोषणा की कि ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है । मानव को दिशा-निर्देश देने के लिए कोई नहीं रह गया है । सार्त्र ने भी उद्घोषणा की थी कि इस ईश्वर विहीन दुनिया में मानवीय अस्तित्व, उसके वर्तमान तथा भविष्य आदि का पूर्णत: दायित्व उसी पर ही है, उसे कोई अतीन्द्रिय शक्ति दिशा - निर्देश नहीं देती । वह पूर्णत: स्वतंत्र है और अभीप्सित जिन्दगी जी सकता है ।

प्रारंभिक अध्यायों में चर्चा हो चुकी है कि अस्तित्ववादी दर्शन में मृत्यु की हैसियत क्या है ? मृत्यु मानव अस्तित्व की सीमा है । वह कभी भी हमारा द्वार खटखटा सकती है और हमारे अस्तित्व को मिटा सकती है । इसलिए ही कामू ने चर्वाकों की भांति वर्तमान में जीने का उपदेश दिया। भविष्य के लिए वर्तमान को कुरबान करनेवाली क्रांतियों की भत्सना की और अपने विचारों की, उपन्यासों द्वारा अभिव्यक्ति भी दी ।

---

1. त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसाम् ।
   दु:खो यथेष्टमिति मूर्खा विचारणैषा ।। सर्वदर्शन संग्रह - पृ.6
2. यावज्जीवं सुखं सुखेन्नास्ती मृत्योरगोचर: ।
   भासी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत: ।। वही - पृ.3

अरविंद दर्शन से तुलना

अरविंद दर्शन अति-मानस और अतिमानव का दर्शन है । अरविन्द ने मानव की वर्तमान बुद्धि और मन को असमर्थ मानकर अति-मन का अनुसंधान किया था । उनकी धारणा है कि मन से परे की शक्तियाँ - अतिमानसी चेतना - मनुष्य - मन के भीतर ही छिपी हुई है । सावित्री काव्य में वे लिखते हैं कि मनुष्य के भीतर विश्व भर की संभावनाएँ उसी प्रकार इन्तजार कर रही है जैसे बीज में छिपा हुआ वृक्ष अपने विकास की प्रतीक्षा करता है[1] । वह अब प्रकट होने के समीप है । मनुष्य यदि साधनापूर्वक उस चेतना को अपनाने का श्रम करे तो अतिमानसी चेतना अवश्य अवतीर्ण होगी और मनुष्य स्वयं सभी समस्याओं का समाधान करने को सक्षम होगा ।

श्री॰ अरविन्द मानवीय चेतना का अतिमानसी चेतना की ओर विकास निश्चित मानते हैं । प्रकृति ने मनुष्य के विकास की जो योजना बना रखी है, उसमें अतिमानसी अवतारणा का अटल स्थान है । अति-मानस, कोरी कल्पना नहीं, वह मनुष्य की अगली मंजिल है, उसकी नियति और गन्तव्य जरूर है ।

अरविन्द के विचार में यह अतिमानसी चेतना भगवान की सत्य-चेतना का पर्याय है । जब तक भगवत्-करुणा अपनी पूरी शक्ति के साथ नहीं उतरती तब तक मनुष्य का संपूर्ण रूपान्तरण बिलकुल असंभव है । रूपान्तरण की प्रक्रिया के दो पहलू हैं - आरोह और अवरोह । मनुष्य मन के अपने आप ऊपर उठने का प्रयास आरोह है और भगवत्-करुणा की अवतारणा अवरोह है[2] ।

अस्तित्ववादी दार्शनिक नीत्शे ने भी अतिमानव की कल्पना की है । वे मानते हैं कि मानव जाति को यदि वर्तमान की दारुण स्थिति से ऊपर

1॰ चेतना की शिखा - रामधारी सिंह दिनकर ·सं॰ 1975 - पृ॰5।

2॰ वही - पृ॰5।

उठाना है तो उच्चतर मानव-जाति याने अति-मानव की सृष्टि करनी पडेगी । अब तक के मानव-समूह का सारा इतिहास इन अतिमानवों को जन्म देने की तैयारी भर है ।

लेकिन अरविन्द और नीत्शे की अतिमानवीय धारणा में बुनियादी भिन्नता है । नीत्शे का अतिमानव वह है जो सब को रौंदकर आगे निकल जाता है । उनकी कल्पना का अतिमानव हिटलर में मूर्त दिखाई पडा था । पर श्री अरविन्द का अतिमानव अध्यात्मजीवी है जो अपने तेज और अध्यात्मबल से समाज के परिवर्तन करने में सक्षम है ।

पूर्ववर्ती दार्शनिकों हेगल तथा शापनहोवर के दर्शनों में व्यक्ति की आत्मनिष्ठता और वरीयता का जो ह्रास हो गया था, उनकी पुन: स्थापना नीत्शे का लक्ष्य थी । वे डार्विन के सिद्धांत से प्रभावित थे, पर मानव और पशु की बुनियादी भिन्नता से भी अवगत थे । उन्हें डर भी था कि डार्विन के प्रभाव से मानव की विशिष्टता का ह्रास होने की गुंजाइश है । अत: वे व्यक्तिमानव को महत्ता देने लगे और अति-मानवीयता की कल्पना तक पहुंच गए । नीत्शे के अतिमानव की यह विशिष्टता हैकि उसके लिए सत्ता के भद्र या अभद्र रूप की परवाह नहीं है क्यों कि वही यह निश्चय करता हैकि वह क्या बनना चाहता है । इस निश्चय के बादि वह स्वयं अपने रूपायन में लग जाता है । और यहां तक कि इसके परिणाम के संबन्ध में भी वह व्याकुल नहीं है ।

यों यद्यपि अरविन्द और नीत्शे के अतिमानव की कल्पना में काफी भिन्नता है, फिर भी वर्तमान मानव-मन के सीमित दायरे और उससे ऊपर उठने की बात पर तथा मानवीय मन के अनजान पहलुओं के उद्भासित करने की प्रक्रिया में दोनों की मानवीयता एकरूपता दिखाती हैं ।

हेडगर और सार्त्र निरीश्वरवादी हैं । हेडगर मानते हैं कि व्यक्ति का जीवन सीमित है । वह समय के अधीन या मरणशील है । उसके आगे-पीछे कुछ नहीं । उसका प्रारंभ निरर्थक और अंत बिलकुल शून्य है । ईश्वर के अनस्तित्व की धारणा के आधार पर ही उन्होंने व्यक्ति जीवन की ये परिकल्पनाएं की हैं । वे कहते हैं कि मनुष्य-अस्तित्व के बिना और कोई अस्तित्व नहीं । और जो सीमित और समय के अधीन हो वही अस्तित्व है । अतएव जो असीमित और कालातीत है (ईश्वर) उसका इस सिद्धांत में कोई स्थान नहीं है ।[1]

सार्त्र की ईश्वरीय धारणा चेतना के साथ जुडी हुई है । मनुष्य चेतना से संपन्न है, लेकिन जड-वस्तुएं, पौधे पशु-पक्षी आदि चेतना-रहित हैं । चेतनारहित अस्तित्व, गुणसंपन्न है और गुण ही उनकी परिभाषा है । वे अपने निश्चित स्वभाव के अनुसार बढते, बिगडते और विनिष्ठ हो जाते हैं । वे और उनके गुण एक रूप हैं । वे अलग रहकर दर्शक की भांति गुण को देख नहीं सकते । मनुष्य-चेतना इससे भिन्न है । वह अपने पूर्व जीवन को देख सकती हैं जैसे हम फिल्म देखते हैं । अत: मानवीय चेतना और जिन्दगी एक नहीं । चेतना जीवन से भिन्न पृथक अस्तित्व रखती है । वह ज्ञाता रूप है और जीवन ज्ञेय रूप । इसकी और एक विशेषता है कि वह सदा कभी न समाप्त होनेवाली, भविष्य की ओर झुकी रहती है । वह भविष्य से नज़र उठा ले और पूर्व-जीवन के साथ एकरूप हो जाय तो उसी पल नष्ट हो जायगी । यही मृत्यु है ।[2]

ईश्वर को भी चेतना माना गया है । उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार चेतना अतृप्त एवं अपूर्ण रहती है । पूर्ण-चेतना, चेतना नहीं बल्कि जड पदार्थ है ।

---

1. "कण्टमपेररी किलॉसफी" - फादर कोप्लस्टेन - पृ/183
   सत्यवान, परशुराम कनल - निरीश्वरवाद एक अध्ययन में उद्धृत - पृ.30
2. बीइंग एन्ट नथिंगनेस - सार्त्र - पृ.24

लेकिन अतृप्त एवं अपूर्ण ईश्वर की कल्पना एब्सेर्ड है । अत: ईश्वर नामक कोई चेतना नहीं है ।

भारत के प्राचीन दर्शनों में चार्वाक, बुद्ध, जैन, सांख्य, मीमांसा आदि निरीश्वरवाद को ~~है~~ प्रश्रय देनेवाले हैं । वास्तव में निरीश्वरवाद सदा से भारतीय जन-मानस का रूढ विश्वास रहा है, भारतीय दर्शनों का इतिहास इसी सत्य को ही उद्‌भासित करता है । और यह भी सत्य है कि आधुनिक काल में वैज्ञानिक उपलब्धियों की वजह से इसकी और पुष्टि हो गयी है ।

हमने देखा कि चर्वाक प्रत्यक्ष को ही प्रामाणिक मानते हैं । उनकी दृष्टि में ईश्वर आत्मा, स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म आदि सिर्फ कल्पनाएं है । इनका कोई भौतिक आधार नही । इसलिए अविश्वसनीय हैं । चर्वाकों के अनुसार सृष्टि के कार्य में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है । सृष्टि तो स्वयं सिद्ध है और उसका संचालन कार्य कारण भाव से होना है । अग्नि गर्म है, पानी ठंडा है हवा बहनेवाली है, ये सब इसलिए है कि वे स्वभावत: ही ऐसे ही हैं[1] । स्वर्ग, नरक आदि कुछ भी नहीं है । वे पूछते हैं कि यदि यज्ञ-पशु स्वर्ग जाएगा तो क्यों यज्ञकर्ता अपने पिता को बलि नहीं देता[2] । यों चर्वाक दर्शन में ईश्वर और ईश्वर के आधार पर निर्मित सारे संघटकों का निषेध किया गया है ।

प्रकृति के आदि कारण का विवेचन विशेष रूप में सांख्य दर्शन में हुआ है । सांख्य दार्शनिक इस निर्णय पर पहुंच गये हैं कि ब्रह्म का अस्तित्व नहीं है । उन्होंने ईश्वर का भी निषेध किया है । वे कहते हैं कि दुनियां के हेतु कार्य के स्वभाव से अंदाज कर लेना चाहिए । अत: कार्य कारण का परिणाम है ।

---

1. दर्शन - दिग्दर्शन - राहुल सांकृत्यायन - पृ.565
   (सांख्यकारिका की माठर वृत्ति)
2. पशुश्चेन्निहत: स्वर्गम ज्योतिष्ठोमे गमिष्यन्ति / यजमानेन कस्मान्न हिंस्यते ? सर्वदर्शन संग्रह : पृ.23

इस सिद्धांत को सत्कार्यवाद कहते हैं । अरहर के बीज से अरहर का पौधा ही निकल सकता है और कुछ नहीं क्योंकि उस बीज में पौधा पहले ही अन्तरनिहित है । अर्थात् कार्य पहले ही मौजूद है[1] । ईश्वर की अस्तित्वहीनता के संबन्ध में वे कहते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व का कोई हेतु या आधार नहीं है । ईश्वर की यथार्थता तार्किक प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती । उसके पक्ष में कोई युक्ति-युक्त श्रुतिविहित प्रमाण या अनुमानित ज्ञान नहीं है[2] ।

निष्कर्ष

अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद के तुलनात्मक अध्ययन से यही समझ में आता हैकि यद्यपि सार्त्र ने मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद को जोडने का ऐतिहासिक कार्य किया है, अस्तित्ववाद को मार्क्सवाद की एक विचारधारा माना है और दावा किया है कि अस्तित्ववादी स्वतंत्रता संबंधी संकुचित दायरे से बाहर आ सकता है, फिर भी अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद अलग अलग दर्शन हैं । अस्तित्ववाद की उपादेयता वैचारिक क्षेत्र में है । इस की व्यावहारि क्षमता संदिग्ध है । स्वयं सार्त्र के जीवन की जीवन्त प्रवृत्तियां इस का साक्षी हैं । यह कोई अतिरंजित बात नहीं कि अपने दर्शन की व्यावहारिक क्षमता पर वे स्वयं संदेहशील थे, इसलिये ही शायद उन्होंने उसे मार्क्सवाद से जोडने का तीव्र प्रयास किया होगा । 1943 में उनके प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथ "बीइंग एण्ट नेथिंगनस" का प्रकाशन हुआ । कुछ बरसों के बाद और एक प्रसिद्ध रचना "अस्तित्ववाद और मानववाद" का प्रकाशन भी हुआ । इस में पूर्व ग्रंथ की जटिलता नहीं है और उस की अनेक मान्यताओं का खंडन भी हुआ है । इसमें वे अस्तित्ववादी - संकुचित वैयक्तिक एवं आत्मनिष्ठ दायरे से बाहर आकर व्यक्ति को सामूहिक हैसियत एवं परिवेश देने का तीव्र प्रयास करते हुए भी दिखाइ पडते हैं - व्यक्ति चयन करने के लिए स्वतंत्र है । लेकिन उस की स्वतंत्रता उसकी

---

1. सर्वदर्शन संग्रह - पृ.631
2. वही - पृ.632

स्वतंत्रता में दूसरों की स्वतंत्रता का भी सम्मिलन हुआ है, या उसकी स्वतंत्रता, दूसरों की स्वतंत्रता पर आश्रित रहती है । दूसरों की स्वतंत्रता की परवाह किये बिना वह अपनी स्वतंत्रता को लक्ष्य नहीं बना सकता।

सार्त्र स्वतंत्रता के दावेदार थे, लेकिन दुनिया के कोने कोने में इस स्वतंत्रता का ह्रास अपनी आंखों से देख रहे थे । अलजीरिया, लातिन, अमेरिका आफ्रिका और वियतनाम के मुक्ति-संग्राम के संदर्भ में उनके दर्शन और असीम स्वतंत्रता की बुलन्दी निरर्थक लग रहे थे । सार्त्र स्वयं इससे अवगत थे, इसलिए ही उन्होंने इन मुक्ति-संग्रामों का समर्थन किया और आतताइयों के विरुद्ध आक्रो प्रकट किया । वे अपने संपूर्ण जीवन काल में क्रांतिकारी रहे । समय समय पर उन्होंने अनीति, दमन और आतंकों के विरुद्ध आवाज़ उठायी । कडे२कैये पेश किये । सैनिक के रूप में उनका सार्वजनिक जीवन शुरू हुआ था । १940 में जर्मन सैनिकों द्वारा गिरफ्तार किये जाने पर एक वर्ष तक उन्हें कारावास की सजा भोगनी पडी । मुक्ति होने पर पारिस लौट कर दार्शनिक एवं साहित्यिक ग्रंथों की संरचना में लग गए और गुप्त रूप में जर्मनी के आतंकों के खिलाफ प्रतिरोध भी लगाते रहे । १950 में फ्रान्स के शासनकर्ताओं के द्वारा अलजीरिया की मुक्ति - मोर्चा पर किए गए पाशविक दमन और बीभत्स अत्याचारों की उन्होंने बडे कडे शब्दों में भर्त्सना की । अलजेरिया जाने इनकार किये युवा=जनों पर सरकार द्वारा की गई कार्रवाइयों के विरुद्ध वे साहस के साथ मैदान में उतरे और इसी बात पर १2। वामपक्षीय बुद्धिजीवियों की "उद्घोषणा की रूपरेखा" तैयार करने में सक्रिय भाग लिया । अमेरिकी साम्राज्य-वादियों के खिलाफ क्यूबा के प्रतिरोधों का उन्होंने खुले आम समर्थन किया और १960 में इन्हीं आतताइयों के द्वारा वियतनाम पर किये गये अत्याचारों एवं निर्मम आतंकों के विरुद्ध सारी दुनिया के साथ उन्होंने भी साम्राज्यवादियों को चेतावनी दी । १962 में राष्ट्रपति डिगोल की हत्या के लिए उतारु वामपक्षीय साहसी युवकों को उन्होंने समर्थन दिया, १974 में दक्षिण कोरिया के वामपक्षीय बुद्धिजीवियों को कारावास ~~के वामपक्षीय बुद्धिजीवियों~~ दिये जाने पर अपना प्रतिषेध प्रकट किया । १975 में फ्रान्स के एक माओवादी अखबार के

संपादकों के गिरफ्तार किये जाने पर, उस पत्र का संपादक पद स्वीकार करते हुए सरकार के विरुद्ध आंदोलन केलिए भी तैयार हो गये । यों उन का सारा जीवन संघर्षों की एक लंबी कहानी रही । अपने दार्शनिक सिद्धांतों के विरुद्ध वे व्यावहारिक एवं सक्रिय रहे और स्वतंत्रता की दीपशिखा प्रज्वलित करते रहे ।

सार्त्र मानवतावादी थे । उन्होंने खुल्लमखुल्लम कहा हैकि वे मार्क्सवादी नहीं है । लेकिन उन्होंने मार्क्सवाद या साम्यवाद की मुक्त कंठ प्रशंसा की है अ विरोधियों को फटकारा है । उन्होंने कहा था कि साम्यवाद का विरोधक चूहा है । "साम्यवाद का विरोध करने की कोई युक्ति मैं नहीं देखता, और देखूंगा भी नहीं । मैं ने लगातार अनुशीलन कर के मार्क्सवाद के जिन तत्वों और आदर्शों को अपनाया है, उनके नाम पर, उनमें निहित मनुष्य-महत्व, सहानुभूति, स्वतंत्रता, समत्व और भ्रातृत्व के नाम पर बूर्ज्वा को घृणा करने की प्रतिज्ञा ली है । यह घृणा सदा रहेगी, मेरी मृत्यु के साथ ही इस की भी मृत्यु होगी[1] । मार्क्सवाद को इतनी महत्ता देनेके कारण ही वे साम्यवादी दलों की संशोधनवादी एवं प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों से असंतुष्ट रहे थे । 1965 में उन्होंने फ्रान्स की कम्यूनिस्ट पार्टी से अपने सारे संबन्धों को तोड दिया । उन्होंने घोषणा की कि फ्रान्स की कम्यूनिस्ट पार्टी फ्रान्स की सब से बडी प्रतिक्रियावादी है । फिर वे माओवाद की ओर आकृष्ट हो गए । उन्होंने कहा कि असली क्रांति की जन्मभूमि चीन है जहां बूर्ज्वा का बिलकुल प्रभाव नहीं है । यद्यपि मुझे माओ की सांस्कृतिक क्रांति का पूर्णत: पता नहीं है फिर भी यदि संसार में किसी के प्रति मेरे मन में आदर भाव है तो सिर्फ माओ के प्रति है[2] । और वे 1968 में फ्रान्स के छात्र-आंदोलन के दौरान गठित नववाम पक्ष के प्रबल एवं अचंचल समर्थक भी रहे थे ।

सार्त्र के सार्वजनिक क्षेत्र की इन क्रांतिकारी प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में हम अस्तित्ववादी दर्शन की प्रयोग - क्षमता पर अध्ययन करने लगेंगे तो

---

1. सिट्वेषन्स् - सार्त्र - पृ.27
2. 'ज्ञान' - पत्रिका - मलयालम - आगस्त अिंतेंबर - 1980.

निराश हो जायेंगी । हम ने सूचित किया कि इस दर्शन का स्थान वैचारिक क्षेत्र में है । एक सामाजिक विधान जर्जरित हो कर नाशोन्मुख होते वक्त उस की हीनताओं और दुर्बलताओं को प्रकाशित करनेवाला दर्शन अनिवार्यत: उद्भूत होताहै । अस्तित्ववादी दर्शन और साहित्य जर्जरित पूंजीवादी समाज का जीवंत चित्र प्रस्तुत करते हैं । ये मनुष्य की अवस्था का दर्दनाक चित्र पेश करते हैं । पेटी-बूर्ज्वा या मध्यवर्ग के संकटों का इन में तीव्र रूप में उन्मीलन हुआ है - पूंजीवादी समाज से उन्हें घृणा है । यहां जिन्दगी त्रासदायक है, यह इन्हें मालूम है, लेकिन इसे कायापलट करने का दाढस नहीं । वे वर्तमान से असंतुष्ट हैं, लेकिन भविष्य की कोई कल्पना तक नहीं करते । यों त्रिशंकु की भान्ति इतिहास की दीवार में टंग गये मध्य वर्गीय आदमी के जीवंत एवं सशक्त चित्र प्रस्तुत करते हैं, ये दर्शन और साहित्य ।

लेकिन मार्क्सवाद की दृष्टि इन तमाम दारुण स्थितियों को बदलने की प्रक्रिया में है । कल का समाज व्यक्ति और समूह का होना चाहिए । कल मनुष्य की भलाई और सच्चाई का प्रोद्घाटन होना चाहिए । मनुष्य को कभी भी कपटता की पर्दा नहीं डालनी चाहिए । उसे कभी भी अलगाव का बोध नहीं होना चाहिए । उसे कभी कभी वमनेच्छा महसूस नहीं होनी चाहिए । कैदी होने का एहसास नहीं होना चाहिए और कभी भी उन्हें अंधेरे में भटकाने न देना चाहिए । मार्क्सवाद की दृष्टि इन्हीं मूल्यों पर गढी है । उस का लक्ष्य इन्हें प्रतिष्ठित करना है ।

मार्क्सवादी क्रांतिकारी है, लेकिन सभी क्रांतिकारी मार्क्सवादी नहीं । अस्तित्ववादी भी क्रांतिकारी है - केवल वैचारिक क्षेत्र में । या कामू के शब्दों में यों कहे कि वे विद्रोही हैं, क्रांतिकारी नहीं[1] ।

और अस्तित्ववाद का भारतीय तत्व-चिंतन से तुलना करते हुए निष्कर्ष यही कह सकते हैं कि दोनों की नींवाधार समस्या मानव और मानव-जीवन रही

---

1. "It is not a clear definition to say like the existentialists, for example that there is progress in the transition from rebellion to revolution and that the rebel is nothing if he is not revolutionary." Rebel- Albert Camus - P. 249.

दोनों में मानव के आंतरिक एवं बाह्य परिवेश का विवेचन ही हुआ है । दार्शनिकों ने मानव को इस विशाल प्रकृति से संबन्धित करके देखा है और वे सब आत्मान्वेषण की दुरूह एवं संत्रस्त राह से गुजरते आये हैं । इस बात पर उनमें कोई भिन्नता नहीं है, सिर्फ समय का फासला है । जीवन की दुरूहता से उबर आने की बचिकेता की तीव्र लालसा और आत्मज्ञान के अभाव में त्रिकालज्ञानी नारद की असहाय अवस्था आधुनिक मानव की दारूण कथाएं ही हैं । सांख्य, बौद्ध और चर्वाक दर्शनों में दु:ख को मानव-जीवन का अपरिहार्य अंग माना गया है और दु:ख से उबर पाने की राह भी दिखायी गयी है । इनका अस्तित्ववादी दर्शन में भी स्थान है । और अस्तित्ववाद के समान इन तीनों में क्षणिकता को भी समर्थन मिल गया है । हेडगर, सार्त्र और नागार्जुन ने बीइंग के भीतर शून्यता को स्थान दिया है और स्थापित भी किया है कि शून्यता ही बीइंग केलिए सत्ताशास्त्रीय नींव प्रदान करती है । यद्यपि अरविन्द और नित्शे की अतिमानव-कल्पना में नींवाधार भिन्नता है फिर भी वर्त्तमान मानवीय अवस्था की, किसी उच्चतर अवस्था की ओर ऊपर उठने की बात पर दोनों एकरूपता दिखाती है । नास्तिक अस्तित्ववादी दार्शनिकों के ईश्वर निषेध को भी सशक्त रूप में भारत के इन तीनों दर्शनों में मान्यता मिली है । यों भारतीय तत्व चिन्तन तथा अस्तित्ववाद में मानव-जीवन तथा अस्तित्व की समस्याओं पर समान धारणाएं आलेखित हो गई हैं । लेकिन अस्तित्ववाद भारतीय दर्शन की तुलना में समग्र नहीं है । भारतीय तत्व चिंतन में प्रकृति की सारी अवस्थाओं उत्पत्ति, विकास एवं विनाश - का समग्र रूप में विवेचन हुआ है, लेकिन अस्तित्ववाद एकांगी हो व्यक्ति-अस्तित्व को केन्द्रित करके आगे बढा है और मानवीय-अवस्था का दर्शन रह गया है।

❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀

तीसरा अध्याय

अस्तित्ववादी उपन्यास साहित्य का रचना परिवेश

तीसरा अध्याय

अस्तित्ववादी उपन्यास साहित्य का रचना परिवेश

यह सर्वमान्य धारणा है कि परिवेश का रचना पर अवश्य प्रभाव पड़ता है । "परिवेश का अर्थ है, लेखक के चारों ओर फैला हुआ "दिक्" और "काल" जो उसकी समस्त जीवन पद्धति को प्रभावित और कभी-कभी नियन्त्रित भी करता है"[1] । अज्ञेय ने दिक् और काल के साथ बोध को भी जोड दिया है । उनके विचार में सारा ब्रह्माण्ड और अनंतकाल रचनाकार के चारों ओर होने पर भी जब तक ये उसकी चेतना को स्पर्श और आंदोलित नहीं करते तब तक उन्हें परिवेश नहीं कहा जा सकता[2] ।

अस्तित्ववादी उपन्यासों का अध्ययन करते वक्त यह सवाल ज़रूर उठता है कि इनके सृजन में परिवेश का कैसा प्रभाव रहा है ? लेकिन यहाँ ध्यान रखने की बात है कि हिन्दी में पश्चिमी अस्तित्ववादी दर्शन और साहित्य के प्रभाव से ही अस्तित्ववादी साहित्य की शुरूआत हुई थी । अत: यहाँ परिवेश का आंशिक स्थान ही है । फिर भी अस्तित्ववाद के प्रभाव-ग्रहण केलिए भारतीय-परिवेश ने ही लेखकीय मानस को संवेदशील और उर्वर बनाया था । आगे हम इसका विवेचन व

---

1. अज्ञेय और उनके उपन्यास - डॉ॰गोपाल राय - पृ॰17
2. वही - पृ॰18

परतंत्र भारत का परिवेश

पश्चिम में विश्वमहायुद्धों से उद्भूत निराशा एवं अरक्षित भावना ही अस्तित्ववादी - दर्शन और साहित्य की व्यापकता के लिए कारण बनी थी[1]। युद्ध का प्रभाव पश्चिम पर भी नहीं भारत पर भी पडा था। भारत अंग्रेज़ों का उपनिवेश रहा। स्वयं भारतीयों ने भी युद्ध में भाग लिया। 1914-1918 की अवधि में लडे प्रथम विश्व-महायुद्ध में भाग लेकर एक लाख 60 हज़ार भारतीय सैनिक मारे गए। हज़ारों घायल और अपंग हो गए। भारत का धन भी युद्ध में झोंका गया। युद्ध की समाप्ति के बाद भी उसके प्रभाव से भारत बच न सका। भारत में खाद्य सामग्री की कमी पड़ गयी। कीमतों की वृद्धि हो गयी। वर्षा के अभाव और "इन्फ्लुएंज़ा" के प्रकोप से लग-भग 50-60 लाख लोगों की मृत्यु भी हो गयी[2]।

भारत में स्वतंत्रता संग्राम ज़ोरों से चल रहा था। 1919 में "गवर्नमेंट ओफ इंडिया एक्ट" पास हुआ तो गांधीजी ने इसके खिलाफ सत्याग्रह आंदोलन छेड दिया। 6 अप्रेल 1919 को विरोधी-दिवस मनाया गया। सारे देश में हड्तालें और सभायें हुई। इन सब के फलस्वरूप 13 अप्रेल 1919 को जालियनवाला बाग की दर्दनाक घटना घटी जिसमें सरकारी समाचार के अनुसार 379 व्यक्ति मारे गए और हज़ार व्यक्ति घायल हुए। उसके बाद 1920 से 1922 तक असहयो आंदोलन, 1928 में कलकत्ता काग्रेस में पूर्ण स्वराज्य की मांग, 1930 का नमक कानून भंग का आंदोलन, 1939 में दूसरे महायुद्ध की शुरूआत, 1942 में भारत-छोडो आंदोलन, 1943 में बंगाल का भयानक अकाल, 1946 में देश के विभिन्न भागों, विशेष कर बंगाल और बिहार के भयानक हिन्दु-मुस्लीम दंगे, 1947 में भारत का विभाजन, स्वतंत्रता की घोषणा तथा पश्चिमोत्तर प्रांत, सिंध और

---

1. आधुनिक दर्शन का इतिहास - फ्रेडरिक मेयर - पृ.57।
2. अज्ञेय और उनके उपन्यास - डा. गोपालराय - पृ.20

पंजाब में हिन्दु-मुस्लीम दंगों से हुए भीषण नरसंहार - यों 1919 से 1947 तक की अवधि में अनेक महत्वपूर्ण घटनायें घटीं[1]। बंगाल के भयानक अकाल में फेमिन इंक्वयरी कमीशन के अनुसार 15 लाख व्यक्ति भूखों मर गए थे। स्वतंत्रता और विभाजन के दौरान हुए परसंहार में 5 लाख व्यक्ति मारे गए, दस लाख व्यक्ति विस्थापित हो गए और हज़ारों स्त्रियों के साथ बलात्कार तथा अमानवीय अत्याचार किए गए[2]।

यों स्वतंत्रता - संग्राम के दौरान हुई दर्दनाम घटनायें, पाशविक वृत्तियां तथा नरसंहार, महायुद्धों की भीकरता तथा विकरालता, भारत विभाजन के फलस्वरूप फूट निकले सांप्रदायिक दंगे आदि ने पश्चिम की इस तथा-कथित मानसिकता - मृत्यु की अनिश्चितता एवं आकस्मिकता तथा मानवीय अस्तित्व के संकट-बोध - को भारतीयों में भी उंडेल कर दिया और साथ ही भारतीय लेखकों को अस्तित्ववाद के प्रभाव ग्रहण तथा अस्तित्ववादी संरचना के लिए सक्षम भी बना दिया।

लेकिन हिन्दी का प्रथम अस्तित्ववादी उपन्यास "शेखर एक जीवनी" का प्रकाशन 1940 में, स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले ही हो गया। इसका प्रारूप तो अज्ञेय की ही सूचना के अनुसार पहले अंग्रेज़ी में, फिर हिन्दी में 1935 में अपनी नज़रबंदी की अवधि में लिखा गया था[3]। जीवनी के दूसरे भाग का प्रकाशन 1944 में हुआ। और "शेखर एक जीवनी" मृत्यु-समस्या की नींव पर लिखा गया है। ये सब आकस्मिक नहीं कहे जा सकते क्योंकि अज्ञेय ने 1911-1915 की अवधि में गोमती नदी में हुई बाढ और उसकी भयंकर दुरवस्था आंखों देखी थी। जब प्रथम विश्वमहायुद्ध चला तब वे चार वर्ष के और युद्ध की समाप्ति के बाद हुई महामारी के वक्त आठ वर्ष के थे, फिर भी *इनके प्रभाव से*

---

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य - डा॰रामगोपाल सिंह चौहान - पृ॰3-1(
2. अज्ञेय और उनके उपन्यास - डा॰ गोपाल राय - पृ॰50
3. वही - पृ॰50

इनके प्रभाव से वे बच नहीं सके थे[1]। और बाद में अस्तित्ववादी दर्शन का भी उनपर प्रभाव पडा था। उन्होंने "एक बूंद सहसा उछली में लिखा है कि सार्त्र का साहित्यिक अस्तित्ववाद मेरे लिए विशेष आकर्षक कभी नहीं रहा है। लेकिन "ईसाई अस्तित्ववाद" और वैज्ञानिक अस्तित्ववाद में मेरी विशेष रुची रही क्योंकि मैं समझता हूँ और मानता हूँ कि युरोप की वर्तमान मनस्थिति और उसके संकट को समझने के लिए इन प्रवृत्तियों का अध्ययन आवश्यक है[2]। और अस्तित्ववाद के प्रति विशेष रुचि के कारण ही युनेस्को के निमित्त से जब युरोप जाने का उन्हें संयोग हुआ तो वे अस्तित्ववाद के प्रसिद्ध चिंतक कार्ल जास्पर्स से मिले भी थे[*]।

स्वतंत्रता-संग्राम के वर्षों में, अज्ञेय ने 1927 में आइ॰एस॰सी॰ की परीक्षा उत्तीर्ण की। फिर उच्च-शिक्षा के लिए लाहौर पहुचे तो आतंकवादियो के गुप्त संगठन के संपर्क में आ गए। पुलीस द्वारा पकडे गये चार वर्षों तक जेल में रहे। 1936 में नज़रबंदी से मुक्त होने के बाद एक आश्रम खोलना चाहा। 1940-42 की अवधि में दिल्ली में, आल इंडिया रेडियो में नौकरी करते रहे। फिर 1943 के उत्तरार्द्ध में सेना में भर्ती हो गए। 1947 में जब विभाजन के दौरान हुए साम्प्रदायिक दंगे चल रहे थे तब अज्ञेय अपने कई मित्रों और सहयोगियों के साथ "प्रतीक" के संपदान में लगे हुए थे[3]।

उपर्युक्त विचित अज्ञेय की जीवन-झलकियों से यही विश्वास दृढ हो जाता है कि यद्यपि अज्ञेय की मानसिकता कभी-कभी समाजोन्मुख हो गयी है, फिर भी वह अधिकतर व्यक्तिन्मुख ही रही है। अज्ञेय की इस आत्मनिष्ठता के वैयक्तिक कारण हो सकते हैं, अज्ञेय ने ही लिखा है कि वे लडे संकोची और समाज-भीरू थे। समाज भीरू इतना कि कभी दूकान में कुछ चीजें खरीदने के लिए घुसकर भी उलटे पांव लौट आता है क्योंकि खरीदारी केलिए दूकानदार से

---

1. अज्ञेय और उनके उपन्यास - पृ॰20
2. एक बूंद सहसा उछली - अज्ञेय - पृ॰70
3. अज्ञेय और उनके उपन्यास - पृ॰26-30
*. उनके साथ हुए साक्षात्कार का विवरण एक बूंद सहसा उछली में संगृहीत है।

बातें करनी पड़ेंगी"[1]। लेकिन इसके सामाजिक एवं राजनीतिक कारण भी रहे हैं भारत का राष्ट्रीय आंदोलन अंतर्विरोधों के बीच विकसित हो रहा था। समाज में एक ओर, तकनीकी और औद्योगिक विकास के फलस्वरूप सामन्ती परंपरा और संस्कृति का विरोध चल रहा था, तो दूसरी ओर अंग्रेज़ों द्वारा ही सामंती व्यवस्था को बनाये रखने का श्रम भी हो रहा था। साहित्यिक क्षेत्र में प्रगतिशील प्रवृत्तियां उमड आ रही थी, और साथ ही व्यक्तिवादी प्रवृत्तियां भी जम रही थी। एक ओर 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हो गयी तो दूसरी ओर 1960 अज्ञेय के "शेखर एक जीवनी का प्रकाशन हुआ और उनके ही संपादकत्व में तार-सप्तक का भी प्रकाशन हुआ[2]। साहित्यिक क्षेत्र के इन अंतर्विरोधों को हम बाद में स्पष्टत: विवेचन करेंगे।

स्वातंत्र्योत्तर भारत का परिवेश

स्वातंत्र्योत्तर भारत में ही अस्तित्ववादी साहित्य पुष्कल हो पनप गया। अस्तित्ववादी साहित्य व्यक्तिनिष्ठ रहा है। शैली आत्मनिष्ठ रही है। साहित्यकार भी एकांतप्रिय, छोटे वृत्त में सुविधा का अनुभव करनेवाले, स्वतंत्र भारत की परिस्थितियों से सामंजस्य न हो सकने के कारण अन्तर्मुख संकीर्ण में अज्ञेय की परंपरा को बनाये रखनेवाले रहे हैं। इस प्रकार की मानसिकता और व्यक्तित्व को आत्मसात् करने के लिए रचनाकार क्यों बाह्य हो गये ? भारतीय परिवेश की उपादेयता इस सवाल के जवाब पर आधारित है। और परिवेश का अध्ययन भी इसको केन्द्रस्थ करके ही हम करेंगे।

राजनीतिक परिस्थितियां

~~[illegible]~~ लंबे बरसों की गुलामी के बाद भारत आज़ाद हुआ। देश का विभाजन भी हुआ। विभाजन के फलस्वरूप हुई

1. अज्ञेय और उनके उपन्यास - डा.गोपालराय - पृ.12
2. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य - डा.रामगोपाल सिंह चौहान - पृ.17

परिस्थितियों ने मानव मन की अप्रत्याशित नृशंसता और अमानवीयता का परिच दिया । भारत भर में संकट और अवसाद छा गये । अनेक दुर्निवार उलझनें देश में बनी रहीं । इसी संदर्भ में नेहरू शासन का बागडोर संभालने लगे थे । स्वतंत्र एवं गणतंत्र भारत ने एक संपन्न वर्गहीन शोषण मुक्त रामराज्य का सपना संजोये रखा था । इसके साक्षात्कार के लिए नेहरू युग में प्रथम पंचवर्षीय योजना लागू की गयी । 1957 में दूसरी पंचवर्षीय योजना भी । लेकिन इनसे प्रत्याशि फल नहीं हुआ । नेहरू युग के बाद इंदिरा युग आ गया । हालत और बिगड गयी । 1947 से 1981 की अवधि में भारत में जो लोकतंत्र शासन चला उससे आम और मध्यवर्गीय आदमी का यही निष्कर्ष है कि भारत की "डमोक्रसी" "मोबोक्रसी" में बदल गयी है । राजनीति बुरी तरह भ्रष्ट हो गयी है । वह इतनी गिर गयी है कि सब लोक-तंत्र को जूते की तरह लाठी में लटकाएं, सीना फुलाए, भागे जा रहे हैं[1] । राजनीति इतनी विकराल हो गयी है कि लोकतंत्रवाद की दुहाई देकर तानाशाही चला रही है । इसकी विकरालता आपात्काल में प्रत्यक्ष दीख पडी थी । समाजवाद का नारा कोरा नारा या स्वार्थवाद में बदल गया है । ~~नेतागण~~ राजनीतिज्ञों का न कोई चरित्र नहीं रह गया है । उनकी कथनी और करनी में कोई मेल नहीं रह गया है । उनके बीच आम - राम, गया राम की नीति व्यापक हो गयी है । बहती गंगा में हाथ धोने की प्रवृत्ति बढ गयी है । इसलिए ही उनपर न किसी को विश्वास है न आस्था है । कमलेश्वर ने राजनीतिक क्षेत्र की असंगतियों की यों अभिव्यक्ति दी है - "जनतंत्र के नाम पर देश में मजाक चल रहा है । उसने नयी पीढी को सबसे अधिक विभ्रमित किया । इस निहायत व्यावहारिक तरीके से चलनेवाले जनतंत्र ने पूरे देश को भीड में बदल दिया । .... भविष्य की जगह शून्यता जनतंत्र की जगह भीड, समाजवाद की जगह स्वार्थवाद और समवेत राष्ट्रीय दिशा की जगह भयानक निरुद्देश्यता - यही वर्तमान दुनिया की विडंबना है[2] ।

---

2. नयी कहानी की भूमिका - कमलेश्वर - पृ.94

1. दिशान्तरे - सर्वेश्वरदयाल सक्सेना - पृ.

सामाजिक जीवन की स्थिति

स्वतंत्रता के पूर्व भारतवासी जिस रामराज्य की कल्पना करते थे, वह स्वतंत्रता प्राप्ति के 34 वर्ष बीत जाने पर भी कल्पना ही रह गयी है । नेताओं ने जो आदर्शमरक चित्र जनता के मस्तिष्क में अंकित किया था वह यथार्थ से कहीं भिन्न था । यथार्थ इतना विकराल था कि उसे सामने पाकर लोग तिलमिला गए । आज भारतीय समाज की यह असंगत स्थिति हो गयी है कि पैंसठ करोड से अधिक जनता की संपत्ति का अधिकारी मुट्ठी भर अमीर लोग है । ये अमीर लोग पल के बीतते बीतते और अमीर हो रहे हैं तथा लाखों और गरीब हो रहे हैं ।

देश में हर दिन कीमतें बढ रही हैं, टैक्स भी बढ रहे हैं । इनके बीच दबी आम जनता की जिंदगी दुरूस्त हो गयी है । लेकिन दूसरी ओर बडे बडे उद्योगपतियों, भूमिपतियों और व्यापारी वर्गों के पास पूंजी का केन्द्रीकरण बढा है और ये राजनीति की गति विधियों का निर्णायक एवं नियामक शक्ति बन गये हैं[1] । और आर्थिक दुरवस्था तथा बेरोजगारी ने युवा-पीढी को कुंठा और निराशा का शिकार बना दिया है । वे उदास, संत्रस्त एवं बेचैन हैं ।

भारतीय सामाजिक जिंदगी इतनी गंदी और विषैली हो गयी है कि यह ढोंग और ढकोसला के लिए उर्वर बन पडी है । समाज की राहें हिपोक्रसी की धुंध से गुमराह हो गयी हैं । सारी संस्थाएं बेमानी हो गयी हैं । कचहरी में जाने पर आपको दिखायी देगा "घूस लेना पाप है" । लेकिन चपरासी से लेकर प्रधानमंत्री तक जानता है कि घूस दिये बिना कोई कागज़ अपनी जगह से नहीं हिलेगा । हर कहीं "एब्सर्ड" की स्थिति है । बाज़ार जाइए, वहां जेब

---

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य - डा. रामगोपाल सिंह चौहान - पृ.23

कतरनेवाला दूकानदार बैठा है । अस्पताल जाइए, वहाँ डाक्टर नहीं मिलेगा, वह तो घर बुलाकर ही सही इलाज करता है । सब लोग नीति और सदाचार के ठेकेदार हैं । हर, स्त्री को माँ, बहिन, देवी कहता है, लेकिन हर औरत के कपडे अपने एक्सरे निगाहों से उघाड़ते रहते हैं[1] । "औरत केवल एक जिस्म है, जिसे रात के अँधेरे में भोगा जा सकता है"[2]- यही आदमी की मनःस्थिति हो गयी है । स्कूलों में "स्ट्राइक" हो रही है और पुलीस गोली चला रही है । आपकी अपनी लड़की आत्महत्या की धमकी दे रही है और बडा लड़का कुसंगति में पड़कर जिन्दगी चौपट कर रही है । यों सब कहीं बेतुकापन और निरर्थकता का परिवेश है ।

इसके साथ सीमित तकनीकी आंदोलन और औद्योगीकरण के कारण भारतीय नगरों में एक विशेष संस्कृति और सभ्यता भी उद्भूत हो गयी है । विदेशी नगर सभ्यता से मिलती जुलती एक यंत्रवत् समाज और जिन्दगी का प्रस्फुटन हुआ है । इस संत्रवत समाज में आदमी भी मशीन की तरह हो गया है या यंत्र का पुर्जा । इतना ही नहीं वह यंत्र का स्वामी न रहकर तन और मन से उसका गुलाम भी हो गया है । अर्थात् आदमी का पूर्णतः अवमूल्यन हो गया है ।

इस तकनीकी तानाशाही से आदमी का व्यक्ति रूप में अस्तित्व भी खोता जा रहा है । इस संदर्भ में डा॰ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय लिखते हैं "आधुनिक तकनीकी साधनों में उसके {व्यक्ति} मन और मस्तिष्क तक को नियंत्रित करने की क्षमता ने उसे और भी भयभीत कर रखा है । आज के व्यक्ति का व्यक्तित्व इसलिए विभाजित हो गया है । दैनिक जीवन की "बोरियत" उसे अलग व्यक्तित्वहीन बनाने में सहायक सिद्ध हो रही है । यहाँ तक कि व्यक्ति की स्वतंत्रता का अतिरिक्त दमन करने की चेष्टा की जा रही है"[3] ।

1॰ आधुनिक भावबोध की संज्ञा - अमृतराय - पृ॰।।9
2॰ नयी कविता में वैयक्तिक चेतना - डा॰अवधनारायण त्रिपाठी - पृ॰379
{जगदीश चतुर्वेदी की पंक्ति}
3॰ द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ॰65

इस नगर संस्कृति और मिश्रित अर्थ व्यवस्था ने पैसा पूजक समाज या महाजनी सभ्यता की भी सृष्टि की है । यंत्रीकरण से अमानवीकृत आदमी के दिमाग में एक ही चक्की चलती रहती है - ज्यादा पैसा कमाने की । सारा भागमभागम पैसे के लिए है । इससे मानवीय संबन्धों में भी तनाव उत्पन्न हो गया है । आदमी - आदमी के बीच केवल अर्थ, स्वार्थ और मतलब का संबन्ध रह गयर है । प्यार का बंधन बिलकुल नहीं । सब साथ-साथ हैं, लेकिन प्रत्येक अलग अलग और अकेला। "कितनी भीड हैं - बस में, रेल में, सड्क में, दूकान में और घर में भी । लेकिन आदमी अकेला है और एक दूसरे का प्रतियोगी भी । सब अलग होकर, अपने अपने दायरे में, या कटघरे में या अपनी अँधेरी कठोरी में दम घुट कर जी रहे हैं । उनके बीच संवाद नहीं है । उनकी आत्मा दरिद्र होती जा रही है, उनकी संवेदन क्षमता भोंथरी बन गयी है और इन सबकी वजह से अजीब अजनबीपन की धुंध छा गयी है"[1] ।

इस संवादहीनता के अभाव में व्यक्ति की जिंदगी नीरस एवं निरर्थक हो गयी है । वह सिर्फ भागम भागम का माध्यम हो गया है । सबेरे यह भागना शुरू होता है, रात चारपाई पर लेटने तक यही भागमभाग है । जीविकोपार्जन के लिए, हर दिन के इस सिलसिले ने उसमें एक अजीब परेशानी, तनाव और बेबसी पैदा किये हैं । उसके पास सुस्ताने, बात करने सोचने या खुलकर बात करने या हंसने का वक्त नहीं रह गया है । और उसके मनोरंजन के साधन हैं - शराब, खुली टांगों और छातियों से भरपूर कोई उत्तेजक फिल्म और अपनी औरत की निर्विकार नग्नता । लेकिन "जिसके पास अपरंपार धन है और उतना ही अवकाश वह अपने धन को भोगने और अपने अवकाश को भरने के लिए हर शाम एक नयी लड्की को अपने बिस्तर पर बुलाता है और स्कॉच की बोतलों पर बोतलों लुढाता है । और भी पता नहीं क्या क्या करता है"[2] ।

---

1. आधुनिक भाव-बोध की संज्ञा - अमृतराय - पृ. 134
2. वही - पृ.118

यह सचमुच आदमी की नहीं, बल्कि कीडे-मकोंडे की ज़िंदगी है । यों यहाँ इनसान की इनसानियत नष्ट होती जा रही है, उसकी आत्मनिर्भरता और स्वतंत्रता छिनती जा रही है, उसकी जीवन की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लगाया गया है । आदमी

आदमी स्वयं इससे अवगत भी है । इसलिए वह "मिसफिट" या अवसंगत होने के भाव से संत्रस्त है । जीविकोपार्जन में ही उसकी सारी शाक्ति नष्ट होती जा रही है । अपनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए उसे अवसर नहीं मिल रहा है । इस बेहूदी स्थिति में मनुष्य को अपना अस्तित्व ही निरर्थक लगता है, फालतूपन का अहसास उसे निगलता है और अपने को कहीं भागीदार न बन पाने की बेबसी में वह सबसे "एलिनेटड" हो जाता है । यों वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों ने मानव-मानव में अलगाव का बोध पैदा किया है और उसकी सामाजिक चेतना में दरारें पैदा की हैं ।

आर्थिक परिस्थिति

उपर्युक्त विवेचित सामाजिक जीवन की विडंबनाओं और विसंगतियों के मूलभूत कारणों को हमें वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के अंतर्विरोधों में ही ढूंढना चाहिए क्योंकि सामाजिक जीवन को रूपायित करनेवाले नियामक तत्व तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था में ही अंतर्निहित है ।

भारत विश्व के गरीब देशों में प्रमुख है । भारत की गरीबी के प्रमुख कारणों में एक विदेशियों द्वारा बरसों से लगातार चलनेवाला शोषण है । अंग्रेज़ों द्वारा प्रत्यक्ष रूप में दो सौ वर्षों तक यह शोषण जारी रहा था । फिर "स्वतंत्रता" नाम से अभिहित होनेवाले "सत्ताहस्तान्तरण के बाद यह शोषण अप्रत्यक्ष रूप में आज भी गत्यात्मक है । गरीबी का दूसरा प्रमुख कारण मेरी राय में समाजवाद का नकाब डालकर, पूंजीवादी खूबियों को अपने में समेटती चलनेवाली हमारी मिश्रित आर्थिक व्यवस्था है ।

ब्रिटीश पूर्व भारत की आर्थिक व्यवस्था का आधार गाँव था । प्रत्येक गाँव एक आर्थिक इकाई था । गाँव में सभी तरह की दैनिक आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता था । श्रम-विभाजन का आधार जाति व्यवस्था था । आर्थिक व्यवस्था को संगठित और व्यवस्थित रखने के लिए जाति व्यवस्था के नियम कठोर कर दिये गये थे । गाँव अपने आप संपूर्ण थे, अतिरिक्त उत्पादन शहरों में रहनेवाले सामन्तों तथा धनियों के लिए होता था । व्यापार का क्षेत्र शहरों तक केन्द्रित रहा और व्यापारी वर्ग को धनियों और सामन्तों पर निर्भर रहना पडा, जिससे स्वत: पूंजीपति वर्ग का उदय न हो सका । समाज में दरिद्रता का आदर्शीकरण किया गया था । भाग्यवाद का बोलबाला था । परंपरा को कायम रखने की तीव्र लालसा थी । वैज्ञानिक साधनों का अभाव भी था । लेकिन ऐसी पिछडी हूई अवस्था में भी देश का आर्थिक स्तर मध्य-युगीन यूरोप से किसी भी प्रकार कम न रहा था"[1] ।

भारत की इस आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन बाहरी पूंजीवादी शक्तियों के - पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ व्यापारी - आने से ही हुआ । इनमें अंग्रेज़ धीरे धीरे अपने ढंग का राजनीतिक शासन स्थापित करने में भी सफल हुए । उन्होंने इंगलैंड की भूमि-व्यवस्था यहां भी चालू की । ज़मींदारी प्रथा की स्थापना अंग्रेज़ों द्वारा ही हुई जो धीरे धीरे अंग्रेज़ी राज्य का मुख्य सहायक बन गयी । अंग्रेज़ों का मुख्य उद्देश्य यह था कि इंग्लैंड के कारखानों के लिए कच्चा माल प्राप्त करना और भारत को अपना मार्केट बनाना । इसलिए ही अंग्रेज़ इस बात पर विशेष ध्यान देते रहे कि भारत की आर्थिक क्षमता इस हद तक सीमित रहे कि वह इंग्लैड का माल ही खरीद कर सके । अंग्रेज़ों ने भारत के ग्रामसमुदाय और वर्ण व्यवस्था का नाश नहीं किया बल्कि उनके भौतिक आधार को तहस-नहस कर डाला । उन्होंने उस अवस्था का नकली सम्मान करने के साथ ही उसके सार्थक पुरोहितों-ज़मीदारों-साहूकारों का असली समर्थन किया ।

---

1. हिन्दी उपन्यास का समाजशास्त्रीय अध्ययन - चण्डी प्रसाद जोशी - पृ॰

"वे वास्तव में विदेशी उद्योगपतियों, साहूकारों और बैंकरों केहितों के संरक्षक थे । इसके लिए उन्होंने विदेशी इज़ारदारियों, सामंतों, मालिकों तथा जात, धर्म, तथा कबीले के प्रतिनिधियों के साथ एकता स्थापित की । यह एकता ही उनके शासन का आधार रही"[1] ।

1947 में जो स्वतंत्रता भारत को मिली, वह आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्रता नहीं बल्कि शोषण को व्यापक बनाने का साजिश मात्र था । यह ब्रिटीश शासकों, बडे पूंजीपतियों एवं सामंतों के बीच समझौता के द्वारा ही हुआ । "नये देशी शासकों ने दो रास्ते अपनाये । एक तो उन्होंने सामंतियों को पूंजीवादी शोषकों में तब्दील किया और विदेशी अज़ारदारों के सहयोग से भारतीय इज़ारदारों के रिश्ते को मज़बेत किया"[2] ।

स्वतंत्रता के पहले अधिकतर ब्रिटीश-शासकों के द्वारा भारत का शोषण होता था, स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद शोषितों की संख्या तथा शोषण क्षेत्र में भी वृद्धि हो गयी है । आज अमेरिका, रूस के साथ कनडा, फ्रान्स, जर्मनी जैसे छोटे बडे देशों को भी समान रूप से अवसर मिल रहा है । वास्तव में भारत का आधुनिकीकरण विकसित देशों की कृपा की देन है । अत: इसमें विदेशी पूंजी और विदेशी तकनीकी अनिवार्य रूप से जुडी हुई हैं । रमेश कुंतल मेघ लिखते हैं - "भारत का आधुनिकीकरण अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवाद की देन है जो इस लूटमार और उपयोग को नये-नये मुहावरे, नये नये प्रतीक, नये नये मुखौटे और कवच प्रदान करता आ रहा है । इस तरह के हमारे आधुनिकीकरण से आत्मनिर्वासन और मोहभंग ही फैला है । इस आधुनिकीकरण में आतंक और यंत्रणा, अस्तित्वबोध और मृत्युभाव, व्यर्थता और विवशता, अकेलापन और अजनबीवन का ही प्रसार हुआ"[3] ।

---

1. क्योंकि समय एक शब्द है - रमेशकुंतल मेघ - पृ.8
2. वही - पृ.9
3. वही - पृ.16

संक्षेप में भारत की आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक असंगतियों और अंतर्विरोधों को सही नींवाधार प्रस्तुत करती है तथा सामाजिक जीवन को ज्याद संकुचित, स्वार्थमय तथा विषैला भी बना रही है ।

भारतीय साहित्यकारों की त्रासद स्थिति

हम ने शुरू में ही सूचित किया था कि भारतीय साहित्यकारों की आत्मनिष्ठता या व्यक्तिन्मुखता के आधारभूत तत्वों को तत्कालीन भारतीय परिवेश में ही ढूंढना चाहिए । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत की स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियों विघटनशील होती आ रही हैं । भारतीय साहित्यकार मध्यवर्गी होने के नाते ज्यादा संवेदनशील है और इसीलिए उन्होंने इस विघटन को अपनी आत्मा के तह तक महसूस किया । समकालीन उलझन पूर्ण माहौल ने उनकी चेतना और सर्जनात्मकता को बुरी तरह परिवर्तित किया । उनके मन में तीव्र प्रतिक्रिया हुई, लेकिन यह निषेधात्मक रही । वे महसूस करने लगे कि उनका अस्तित्व महीन चींटी की भांति महानगर के चौराहे पर फुलस्पीड से भागती एक मर्सडीज़ कार में कुचल गया है[1] । राजनीतिक परिस्थितियों की असंगति तथा राजनीतिज्ञों की हिपोक्रसी ने उनमें यह भावना जगा दी "आज़ादी के बाद हमने चमचों की एक पूरी पीढी तैयार की है, उन्हीं के कंधों पर देश का भविष्य टिका हुआ है"[2] । और इस एहसास ने उन्हें समाज विमुख बना दिया । और इसके साथ "पिछले लगभग पांच-छ: सौ वर्षों में यूरोप ने जो जीवन-क्रम स्थापित किया था उसके अध्ययन-मनन ने हिन्दी के साहित्यकार को वर्तमान मानव जीवन के उन आंतरिक तनावों और बाह्य संघर्षों से परिचित कराया जिन पर द्वितीय महायुद्ध ने प्रामाणिकता की छाप लगा दी । उसे "क्राइसिस इन ह्यूमन स्पिरिट" का ज्ञान हुआ । उसने मानवत को दिग्भ्रान्त पाया, केन्द्र बिंदु विहीन और रिक्त । फलत: आधुनिक समय तक

---

1. निषेध -जगदीश चतुर्वेदी - पृ.84
2. नयी कविता में वैयक्तिक चेतना - डा.अवधनारायण त्रिपाठी - पृ.382 {विनकर सोनवलकर की कविता की पंक्ति}

सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं में उसकी आस्था उठ गई"[1]। और साहित्यकार पूर्णत: व्यक्तिन्मुख हो गए। मानव का अस्तित्व और उसकी सार्थकता ही उनकी सबसे बडी समस्या हो गयी। उनका यही लक्ष्य रहा कि व्यक्ति के अस्तित्व और गरिमा को फिर से स्थापित करे।

साहित्यकारों की इस व्यक्तिन्मुखता के कारणों को पूर्ववर्ती साहित्यिक परंपरा - साहित्यिक प्रवृत्ति तथा रचना सिद्धांत में भी ढूंढना चाहिए क्योंकि परंपरा का प्रभाव या उसकी प्रतिक्रिया परवर्ती साहित्य में जरूर दिखायी पडता है। इसके लिए उपन्यास साहित्य के विकास का अध्ययन अवश्यंभावी है। अस्तित्ववादी उपन्यासों की विशिष्टताओं के विश्लेषण के लिए तथा पूर्ववर्ती उपन्यासों से उनकी भिन्नता के आकलन केलिए भी यह ज़रूरी है। ऐतिहासिक अध्ययन के साथ हम प्रमुख रचनाकारों के रचना-सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डालेंगे ताकि यह भिन्नता और निखर आये।

उपन्यास साहित्य का संक्षिप्त विकास

साहित्य के इतिहास का सूक्ष्म अध्ययन इस सत्य को उद्भासित करता है कि साहित्यकार कभी वस्तुनिष्ठ हाकर समाजोन्मुख और कभी आत्मनिष्ठ होकर व्यक्तिन्मुख रहता है। आलोचकों ने साहित्यकार की सृजन-प्रेरणा में भी समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों को सम्मिलित करके देखा है। डा॰सुषमा धवन के अनुसार "उपन्यास एवं साहित्य के सृजन की प्रेरणा आदिकाल से व्यक्ति और समाज में संतुलन एवं सामंजस्य की समस्या तथा उनके परिवर्तनशील सम्बन्धों में प्राप्त होती है। व्यष्टिहित समष्टि मंगल में परस्पर विरोध, नवीनतम परिस्थितियों समस्याओं तथा विचारधाराओं का जनक है। इस विरोध के शमन तथा समस्याओं के समाधान के लिए कलाकार प्रयत्नशील रहे हैं। उनकी

1॰ द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - डा॰लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - पृ॰62-63

मूलवर्ती चेतना का परिज्ञान उनके व्यष्टि एवं समष्टि को न्यूनाधिक महत्व प्रदान करने से होता है"[1]।

उपर्युक्त कसौटी पर हिन्दी उपन्यास साहित्य को कसने पर यही तथ्य निखर आता हैकि हिन्दी उपन्यासकार भी कभी वस्तुनिष्ठ एवं समाजोन्मुख तथा कभी आत्मनिष्ठ एवं व्यक्तिन्मुख रहा है । हिन्दी उपन्यास साहित्य-विधा का इतिहास-काल बहुत लंबा नहीं है । उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शती के आरंभ में ही हिन्दी साहित्य क्षेत्र की जनता को ऐसी एक साहित्यिक विधा की आवश्यकता पडी[2]। यद्यपि प्रेमचन्द पूर्व इस प्रारंभिक काल में कोई महत्वपूर्ण रचना उभर कर नहीं आयी फिर भी इसकी महत्ता कम नहीं कर सकते क्योंकि यह प्रयोग काल है ।

प्रयोग काल की विशेषताएं

प्रारंभिक काल के उपन्यासों का लक्ष्य मनोरंजन था । उस समय सामाजि परिवेश ऐसा था कि मन को आत्मविभोर कर देनेवाले उपन्यासकी मांग ही होती थी । इसलिए विस्मयोत्पादक, चमत्कारपूर्ण तथा कुतूहलता जाग्रत करनेवाले उपन्यासों की रचना ही हुई । इस पर डा॰ गणेशन कहते हैं कि उपन्यास के विकास के पूर्व (प्रारंभिक काल में) हमारी साक्षर जनता में जो साधारण शिक्षा प्राप्त लोग थे उन्हें मनोरंजन मात्र केलिए कुछ हल्के साहित्य की आवश्यकता थी[3]। डा॰ रणवीर रांग्रा के विचार में (अस्वतंत्र भारत के) यथार्थ जीवन की कटुताओं को भूलने तथा अपने को मुक्त पंछी के समान विचरते हुए पाने केलिए उन्हें तिलस्मी, ऐयारी और सामूसी उपन्यासों की जरूरत थी[4]।

1॰ चार प्रकृतियां - सुषमा धवन का लेख ।
हिन्दी उपन्यास - पहचान और परख - सं॰डा॰इन्द्रनाथ मदान - पृ॰57
2॰ हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन - डा॰ गणेशन - पृ॰55
3॰ वही - पृ॰54
4॰ हिन्दी वाङमय - बीसवी शती - डा॰ रणवीर रांगा का लेख - पृ॰177

सं॰डा॰ नगेन्द्र

और स्वयं उपन्यासकार भी अपने समय की मांग और सीमा से अनभिज्ञ नहीं थे । देवकीनन्दन खत्री ने "चन्द्रकांता संतति" को प्रस्तुत करते हुए यों लिखा है - "जिस प्रकार पंचतंत्र" "हितोपदेश" आदि ग्रन्थ बालकों की शिक्षा केलिए लिखे गये, उसी प्रकार यह {चन्द्रकांता} पाठकों के मनोविनोद केलिए ..... अब इस ढंग के उपन्यासों का समय है । अब भी वह समय दूर है जब लोग बिना किसी प्रकार की न्यूनाधिकता के ऐतिहासिक पुस्तकों को रूचि से पढ सकेंगे"[1] ।

उपर्युक्त कथनों से सही स्पष्ट होताहै कि इस युग के साहित्यकार समाज की नब्ज को पहचाननेवाले थे । यों ये समाजोन्मुख तथा इनकी सृजन-दृष्टि सामाजिक है । और इन्होंने धर्म, नैतिकता तथा व्यक्ति-चरित्र की सुधारात्मकता पर ही बल दिया था । लेकिन प्रेमचन्द कालीन सामाजिकता से इनकी सामाजिकता काफी दूर पर खडी है । इनका लक्ष्य समाज-प्रियता है, समाजहित नहीं । अत: समाज के अंतर्विरोधों को उद्‌भासित करके, जनता को अभिज्ञ कराके समाज का आमूल-चूल परिवर्तन इनका लक्ष्य नहीं है । यही इस युग की सीमा है ।

प्रेमचन्द युग

प्रेमचन्द युग में पूर्ववर्ती युग का सख्त निषेध हुआ । इस युग के महान कलाकार प्रेमचन्द ने स्वयं पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की साहित्य संबंधी मान्यताओं का निषेध करते हुए लिखा हैकि "अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्‌देश्य है"[2] । हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च-चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो,

---

1. हिन्दी वाङ्मय - बीसवीं शती - डा. रणवीर रांगा का लेख, पृ.177
   सं. डा. नगेन्द्र
2. प्रेमचन्द्र - कुछ विचार - पृ.9

सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो - जो हम में गति, संघर्ष, और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है"[1]।

प्रेमचन्द साहित्य के गौरव एवं शक्ति को पहचानते थे। और उनकी दृष्टि पूर्णत: सामाजिक थी। उनकी कला का उद्देश्य भी सामाजिक था। सृजन प्रक्रिया की प्रेरणा को भी वे सामाजिक ही मानते हैं - "लिखते तो वे लोग हैं, जिनके अंदर कुछ दर्द है, अनुराग है, लगन है, विचार है। जिन्होंने धन और भोग विलास को जीवन का लक्ष्य बना लिये हैं, वे क्या लिखेंगे"[2]। यहां साहित्यकार के अंदर का दर्द अपने आप उद्भूत नहीं होता है बल्कि सामाजिक गतिविधियों की संत्रस्त परिस्थितियों की वजह से स्पायित होता है।

प्रेमचन्द साहित्य का नींवाधार पूर्णत: समाज है। डा॰ शिवनारायण श्रीवास्तव कहते हैं कि "सामाजिक जीवन का इतना सूक्ष्म, सहज, स्वस्थ एवं सजीव वर्णन प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती लेखकों में बिलकुल नहीं है और प्रेमचन्दोत्तर साहित में भी कम है"[3]। नवल किशोर का कथन है - प्रेमचन्द ने उपन्यास को अपने काल के उत्पीडित भारतीय मनुष्य का कल्पनात्मक इतिहास बनाया"[4]। और मोहन राकेश की राय में प्रेमचन्द के उपन्यासों में निस्सन्देह प्रेमचन्द का समय मुखर हो उठा है"[5]।

अत: आलोचकों एवं साहित्यकारों ने प्रेमचन्द की समाजोन्मुखता का समर्थन किया है। प्रेमचन्द ही नहीं, उस युग के अन्य उपन्यासकारों ने भी

1॰ प्रेमचन्द - कुछ विचार - पृ॰29
2॰ गोदान - पृ॰58
3॰ हिन्दी उपन्यास - डा॰श्रीनारायण श्रीवास्तव - पृ॰74
4॰ नवल किशोर का लेख - हिन्दी उपन्यास - पहचान और परख सं॰ इन्द्रनाथ मदान - पृ॰49,
5॰ मोहन राकेश का लेख - वही - पृ॰35

युग-चेतना, पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है । इस युग में नारी सम्बन्धी अनेक समस्याओं का विवेचन भी हुआ । नारी-जीवन के विभिन्न आयामों को सहानुभूति एवं समवेदना के साथ देखने तथा समझने का प्रयास किया गया । इस सन्दर्भ में यह भी ध्यान रखना है कि प्रेमचन्द युग में समसामयिक युग-जीवन की समस्याओं और सेवेदनाओं को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने और परखने की चेष्टा हुई थी । और यहाँ तक कि प्रेमचन्द ने व्यक्ति को सामाजिक कटघरे में सीमित रखा था। समाज से अलग होकर, व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं है । व्यक्ति समाज की इकाई है । उसके विकास या पतन का आधार समाज है । डा॰ वार्ष्णेय जी लिखते हैं - "प्रेमचन्द व्यक्तित्व को सामाजिक इकाई मानते थे और यह विश्वास रखते थे कि उसका विकास या पतन समाज की सीमाओं में ही होता है । समाज से अलग व्यक्ति की सत्ता उन्होंने स्वीकार नहीं की"[1] । इसलिए ही उनके पात्र एकांतिक भावानुभूतियों को न अनावृत कर सामाजिक गति-विधियों की अभिव्यक्ति देते हैं । उनकी हर प्रवृत्ति तथा परिवेश में घटित हर घटना में सामाजिकता झलकती है । इसके सम्बन्ध में डा॰ इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है कि "एक अजगर की तरह खेती होरी को निगल जाती है । इसके अतिरिक्त बिरादरी का शासन, दंड का भुगतान, गाय का अंत, अपने ही खेत में होरी की चाकरी, {ये सब} व्यक्तिगत घटनायें नहीं हैं, सामाजिक तथा सामाजिक घटनायें हैं"[2] ।

प्रेमचन्द-युग की एक महत्वपूर्ण घटना यह थी कि उस समय उपन्यास में यथार्थवाद की स्थापना हुई और उसका काफी विकास भी हुआ । स्वयं प्रेमचन्द ने इसको सर्वाधिक महत्व दिया था । उन्होंने यथार्थ केलिए सच्चाई शब्द का प्रयोग भी किया है । वे कहते हैं - "साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गयी हो"[3] । इस युग में उपन्यास के चरित्र

---

1. द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - डा॰लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - पृ॰88
2. आज का हिन्दी उपन्यास - इन्द्रनाथ मदान - पृ॰14
3. कुछ विचार - प्रेमचन्द - पृ॰6

पूर्ववर्ती उपन्यासों के समान काल्पनिक न रहकर स्वाभाविक हो गये और उनके विचारों कर्मों एवं अनुभूतियों में मानवीयता आ गयी ।

लेकिन प्रेमचन्द ने इस यथार्थ पर आदर्श का लिबास ओढा है । वे समझते हैं कि साहित्य मानव मंगल का साधन है, इसलिए सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण करते हुए उच्च आदर्श का मार्ग दिखलाना भी साहित्यकार का कर्तव्य है । वे अपने विचार यों प्रकट करते हैं-"यथार्थवाद यदि हमारी आखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुंचा देता है । इसलिए वही साहित्य उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहां यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो[1]।

प्रेमचन्द युग की और एक महत्वपूर्ण देन है, चरित्र एवं चरित्र चित्रण में स्वाभाविकता एवं मानवीयता । प्रेमेचन्द चरित चित्रण पर इतना बल देते हैं कि वे उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र समझते हैं । "मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्व है[2]" । यह अत्यन्त संक्षिप्त लेकिन व्यापक अर्थ गुंफित व्याख्या है क्योंकि मानव चरित्र का विश्लेषण सरल काम नहीं है । और उपन्यास की सफलता चरित्रों की सफलता पर आधारित है । प्रेमचन्द लिखते हैं - "उपन्यासों में पात्रों का केवल बाह्य रूप देखकर हम सन्तुष्ट नहीं होते । हम उनके मनोगत भावों तक पहंचना चाहते हैं और जो लेखक मानवी हृदय के रहस्यों को खोलने में सफल होता है, उसकी रचना सफल समझी जाती है[3]" ।

सुधारवादी एवं आदर्शवादी होने के कारण प्रेमचन्द युगीन साहित्य में श्रृंगार का संयमित वर्णन ही प्राप्त है । इस समय परंपरागत एवं मर्यादित

---

1. साहित्य का उद्देश्य - प्रेमचन्द - पृ.57
2. कुछ विचार - प्रेमचन्द - पृ.47
3. साहित्य का उद्देश्य - प्रेमचन्द - पृ.50

नैतिकता के आधार पर यौन-भाव को संकुचित किया गया । इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने स्वयं लिखा है -"मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष प्रेम का जीवन नहीं है । श्रृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का अंग मात्र है और जिस साहित्य का अधिकांश इससे सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और युग केलिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है"।[1]

यह देखने की बात है कि इस युग में नारी सम्बन्धी समस्याओं के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी नारी सम्बन्धी परंपरागत पूर्वाग्रह से प्रेमचन्द के साथ अन्य उपन्यासकार भी मुक्त नहीं हुए । नारी जीवन की पुरातन आदर्श-भावना को नहीं छोड सके । विवाह की पवित्रता एवं पत्नीत्व की मर्यादा पर वही प्राचीन दृष्टिकोण रहा । यौन नैतिकता एवं नारी का गृहलक्ष्मी रूप पूर्वक्त बने रहे । सभी ने विधवा विवाह की आवश्यकता पर जोर दिया, लेकिन किसी ने भी उसके वर्णन का साहस नहीं दिखाया । यह इस युग की सीमा थी ।

यों प्रेमचन्द युग में पूर्ववर्ती साहित्यकारों की अपेक्षा साहित्य की शक्ति पहचानी गयी और साहित्य के उपयोगितावादी सिद्धांत को स्वीकार किया गया । और व्यक्ति तथा वैयक्तिक चरित्र की अपेक्षा तत्कालीन सामाजिक अवस्था को वरीयता देने से व्यक्ति और व्यक्ति चरित्र गौण हो गये ।

इसके साथ ही उपन्यासकारों ने जनता को वर्तमान के अंतर्विरोधों के प्रति सजग किया और भविष्य की चेतावनी दी । उनमें ऊर्जा, आस्था, आशा एवं जिजीविषा की वृद्धि की । सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से भी उन्हें जागरूक बनाया गया ।

---

1. साहित्य का उद्देश्य - प्रेमचन्द - पृ.3

आधुनिक युग

आधुनिक युग में प्रेमचन्दकालीन सामाजिकता क्षीण पड़ती गयी और साहित्य वैयक्तिकता की ओर उन्मुख होने लगा । साहित्यकार व्यक्ति की शक्ति को पहचानने लगे । उन्हें विश्वास हो गया कि व्यक्ति समाज की मूलभूत इकाई है । समाज का उत्थान, पतन, विकास एवं ह्रास व्यक्ति-निरपेक्ष अरपित नहीं हो सकता । समाज का सत्य जानना हो, जीवन की थाह लेनी हो तो व्यक्ति-सत्य को पाना होगा, सामाजिक विकृतियों का निदान व्यक्ति-मानस में ढूंढना होगा । और व्यक्ति-मानस को देखने तथा परखने केलिए उन्हें मनोवैज्ञानिक दृष्टि भी मिली । व्यक्ति मन की गहराई में जो विचार-तरंगें लहरों सी उठती रहती हैं, लेखकों का ध्यान इन आंतरिक प्रवृत्तियों पर केन्द्रित हो गया और इस अचेतन एवं अवचेतन दुनिया के अनवरत विचार ऊर्मियों को शब्द बद्ध करना ही इनका लक्ष्य हो गया ।

अत: जहां प्रेमचन्द युग में सामाजिकता की बुलन्दी है वहां परवर्ती उपन्यासकारों में वैयक्तिक रुझान की सख्त पक्षधरता है । प्रेमचन्द ने आधुनिकता की चुनौती को जहां सामाजिक धरातल पर स्वीकार किया है, वहां बाद के उपन्यासकारों ने वैयक्तिक सत्य की संवेदना के रूप में उसका साक्षात्कार किया है । और जहां प्रेमचन्द साहित्य में समष्टि सत्य की बुनावट है वहां परवर्ती उपन्यासकारों की रचनाओं में व्यक्ति मन की आंतरिक रेखाओं का पर्यवेक्षण, विश्लेषण और आकलन है । अत: आधुनिक उपन्यास की शुरूआत समष्टि-स्थूलता से व्यक्ति सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होते हुए हुई है ।

अज्ञेय की भूमिका

व्यक्ति-सूक्ष्मता की शुरूआत हुई थी जैनेन्द्र और जोशी के उपन्यासों में, लेकिन चरम परिणति हुई अज्ञेय के उपन्यासों में । प्रेमचन्द और अज्ञेय की साहित्यिक मान्यताओं की आलोचना करते हुए डा॰ सुषमा धवन लिखते हैं - "प्रेमचन्द की उपन्यास कला का उद्देश्य मूलत: अज्ञेय की औपन्यासिक कला से इसलिए भिन्न है कि दोनों लेखकों ने व्यक्ति और समाज को एक-दूसरे की

प्रतिक्रियाओं को विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से आंका है । प्रेमचन्द की कला का उद्देश्य सामाजिक है । वे व्यक्ति के जीवन को सामाजिक मंगल के सन्दर्भ में चित्रित करने के इच्छुक हैं । अज्ञेय की कला का गन्तव्य व्यक्ति-चिंतन है, उन्हें व्यक्ति के जीवन का निरूपण वैयक्तिक धरातल पर करना अभीष्ट है"[1] ।

अत: अज्ञेय पूर्णत: व्यक्तिवादी है । उनकी सभी मान्यताओं और विचारों का आत्यन्तिक मानदण्ड व्यक्ति है । वे पूरे समाज को भी व्यक्ति के कटघरे के भीतर ही आंकते हैं । व्यक्ति का अनुसरण और अनुकरण द्वारा ही समाज आगे बढ सकता है । कला में भी सामाजिकता व्यक्ति द्वारा ही संभव हो सकती है । वे कहते हैं कि कला में समाज परिवर्तनकारी शक्ति आती है या उसकी कृतियों का कोई ऐसा प्रभाव होता है, तो इसलिए कि वह अपने को बदलने के शुद्ध आग्रह के कारण व्यक्ति को एक अक्षय मूल्य के प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित करता है और समाज में मूल्य की प्रतिष्ठा ही उसका सच्चा सामाजिक धर्म है"[2] । अज्ञेय सृजन प्रेरणा को भी वैयक्तिक ही मानते हैं - "साहित्य की प्रेरणा करनेवाली मूल शक्ति साहित्यकार की एक आंतरिक विवशता है" । और यदि कलाकार सचमुच कलाकार है, निरा प्रचारक नहीं है, तो उसकी प्रेरणा शक्ति एक निगूढ और अत्यन्त व्यक्तिगत विवशता है जिसके कारण वह संसार की सत्यता को चित्रित करने को बाध्य होता है"[3] । इसीलिए ही वे प्रत्येक महत्त्वपूर्ण लेखक को अग्निगर्भ, बुद्ध के बोधि सत्व कहते हैं[4] । यहां ध्यान रखने की बात है कि अज्ञेय का व्यक्ति निरा व्यक्ति नहीं है । उनका विश्वास है कि व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारों का पुंज भी है ।

प्रतिबिंब भी और पुतला भी । उसी तरह वह अपनी जैविक परंपराओं का भी प्रतिबिंब और पुतला है । जिन परिस्थितियों से वह बनता है, उन्हीं को बनाता और बदलता भी चलता है । वह निरा पुतला, निरा जीव नहीं, वह व्यक्ति है, बुद्धि विवेक संपन्न व्यक्ति"[5] ।

---

1. सुषमा धवन का लेख - हिन्दी उपन्यास पहचान और परख सं॰इन्द्रनाथ मदान
2. आत्मनेपद - अज्ञेय - पृ॰61 पृ॰52
3. त्रिशंकु - अज्ञेय - पृ॰68
4. वही - वही - पृ॰52
5. डा॰रणवीर रागा द्वारा उद्धृत - हिन्दी उपन्यास - सं॰सुषमा प्रियदर्शिनी पृ॰178

साहित्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में कहते हुए अज्ञेय की व्यक्तिवादी दृष्टि पूर्णत: उभर कर आयी है - "साहित्य का प्रयोजन साहित्यकार के अहं की तुष्टि और अहं को अक्षुण्ण रखना ही है । कला संपूर्णता की ओर जाने का प्रयास है, व्यक्ति के अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा है । अर्थात् वह अंतत: एक प्रकार का आत्मदान है, जिसके द्वारा व्यक्ति का अहं अपने को अक्षुण्णा रखना चाहता है"[1] । और उन्होंने प्रेमचन्द की उपयागितावादी सिद्धांत का भी खंडन किया है । वे कहते हैं - "साहित्यकार समाज को बदलता है, यानी वह उसका अनिवार्य कर्तव्य और ध्येय है, लेखक अनिवार्यत: क्रांतिकारी है, इस किशोर मोह से मैंने छुटकारा पा लिया है । लेखक सिवा अपने के कुछ नहीं बदलता, सिवा कला की समस्या के कोई समस्या हल नहीं करता"[2] । लेकिन उन्हें "स्वान्त सुखाय" के सिद्धान्त पर भी भरोसा नहीं है - "मैं स्वान्त सुखाय नहीं लिखता । कोई भी कवि केवल स्वान्त सुखाय लिखता है, या लिख सकता है यह स्वीकार करने में सदा अपने को असमर्थ पाया है"[3] ।

यों अज्ञेय का सृजन-सिद्धान्त पूर्णत: व्यक्ति वादी है । इसीलिए ही उनके उपन्यास व्यक्तिवादी एवं संकीर्ण हो गए हैं । वे उपन्यास की विशालकायता व सामाजिकता में विश्वास नहीं रखते - "उपन्यास पूरे समाज का चित्र हो, यह मांग बिलकुल गलत है"[4] ।

अज्ञेय की यह अतिशय व्यक्तिवादी दृष्टि अस्तित्ववादी दर्शन की देन है । लेकिन उनकी सदा यही दृष्टि रही है कि भारतीय परिवेश में अस्तित्ववा से भी बडे दर्शन की उद्‌भावना की जाय । इस पर डा॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं - "अस्तित्ववाद से अज्ञेय ने कुछ बौद्धिक उत्तेजना पायी हो, पर अपने समूचे उत्तरकालीन कृतित्व में लेखक का ध्यान यही रहा है कि भारतीय परिस्थितियों में अस्तित्ववाद से कोई बडी और अधिक संगत दृष्टि विकसित हो जाय"[5] ।

1॰ त्रिशंकु - अज्ञेय - पृ॰28
2॰ आत्मनेपद-अज्ञेय- पृ॰60
3॰ वही - पृ॰37
4॰ वही - पृ॰86
5॰ हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां - डा॰रामस्वरूप चतुर्वेदी-पृ॰5

प्रेमचन्दात्तर युग की अन्य मान्यताएं

प्रेमचन्दोत्तर युग में साहित्य सूक्ष्म तात्विक चिंतन या दर्शन और कलात्मक परिष्कार की ओर अग्रसर हुआ । इसकी वजह से साहित्य में बौद्धिकता आ गयी । और प्रेमचन्दकालीन जनसामान्य की अपेक्षा साहित्य विशिष्ट पाठकों का हो गया ।

प्रेमचन्द युग के चरित्र एवं चरित्र विश्लेषण की प्रवृत्ति का स्थान उत्तर काल में विचार ने ले लिया । चरित्र को अधिक महत्व दिया गया है, तो भी वह किसी विचार के प्रतीक होकर ही है । और विचार-प्रधानता होने के कारण घटनायें बहुत पीछे छूट गयी हैं ।

इस युग में परिवेश को भी स्थान मिला । और उपन्यास व्यक्तिमूलक होते हुए, समष्टि को समेटने केलिए भी सक्षम हो गया । इसका समर्थन करतेहुए डा॰ वार्ष्णेय जी लिखते हैं - "अब उपन्यास चरित्रप्रधान न होकर परिवेश प्रधान हो गया है । पात्र जिस परिवेश का अभिन्न अंग होता है, उसे उजागर करता है पात्र का परिवेश एक ऐसा औपन्यासिक तत्व है जो उपन्यास को एक व्यापक सन्दर्भ में अर्थ प्रदान करता है । उपन्यास आज केवल जीवन में घटित कथा मात्र का प्रतिबिंब ह नहीं है । वह रचनाकार की रचना प्रक्रिया से गुजरने वाला एक ऐसा संवेदनात्मक सत्य है जो व्यक्तिमूलक होते हुए भी समष्टिमूलक पद प्राप्त कर अपनी सार्थकता सिद्ध करती है"[1] ।

प्रेमचन्द युग के संकुचित यौन भाव को इस युग में खुली छूट मिली । मानव-मन के चेतन-अचेतन स्तरों के उद्घाटन के साथ यौन-भावना को भी उन्मुक्त कर दिया गया । भोग को भी भूख के समान एक सहज प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया और काम वर्जनाओं से उद्भूत अनेक वैचारिक स्तर भी उपन्यासों में उजागर होने लगे ।

1॰ द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय - पृ॰88

आधुनिक युग में प्रचलित अज्ञेय की व्यक्तिवादी मान्यताओं का मोहन राकेश ने मान्यता नहीं दी है । साहित्य-हेतु के सन्दर्भ में वे अंतर्ज्ञान को मानते नहीं - "अंतर्ज्ञान या प्रतिभा स्फुरणों में विश्वास रखनेवाले लोग भी मानवी चेतना से बाहर उसकी स्थिति का आधार ढूँढ नहीं खोज पाते । यह तो मानना होगा कि विचार की उत्पत्ति के लिए स्थूल आश्रय की अपेक्षा है । मानव-मस्तिष्क में ही उसकी धारणा और पोषण संभव है"[1] । राकेश मानव-मस्तिष्क के अतिरिक्त किसी सत्ता पर विश्वास नहीं रखते ।

सृजन प्रेरणा को वे जीवन-सापेक्ष ही मानते हैं । रचना अपनी प्रेरणा जीवन से ही ले " यह तो असंदिग्ध है कि जिस रचना का प्रेरणा स्रोत जीवन है, उसके प्रति जीवन की ममता रहती है । जो रचना जीवन की ओर भृकुटियां चढाकर देखती है, जीवन भी उसका तिरस्कार कर देता है"[2] ।

राकेश ने अनुभव और अनुभूति पर बल दिया है । उनका मत है कि साहित्यकार का अनुभूति-क्षेत्र इतना व्यापक हो कि मानव-मन की कोई भी प्रतिक्रिया उसकेलिए अपरिचित न रहे"[3] । अनुभूतियां की व्यापकता साहित्य की प्रामाणिकता केलिए अपेक्षित है । और अनुभूतियों की व्यापकता से ही चरित्र सम्बन्धी व्यापकता भी जुडी हुई है ।

चरित्र और चरित्र-चित्रण सम्बन्धी, राकेश की मान्यताएं प्रेमचन्द से मिलती व जुलती है । उनकी राय में उपन्यास में आया हुआ चरित्र सहज-जीवन की तरह परिचित एवं जाना-पहचाना होना चाहिए । नहीं तो पाठक सहज तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ हो जायेंगे । वे कहते हैं - "उपन्यासकार के

---

1. परिवेश - मोहन राकेश - पृ.17।
2. एक और जिन्दगी - मोहन राकेश - पृ.12
3. परिवेश - मोहन राकेश " पृ.18।

सफलता ऐसे चरित्रों की सृष्टि में नहीं, जो लेखक के निजी अहं का या किन्हीं बंधी हुई विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, बल्कि ऐसे चरित्रों की सृष्टि में है, जो आसपास के जीवन में पहचाने जा सकते हैं"[1] ।

यों मोहन राकेश की सृजन-सम्बन्धी मान्यताएं सामाजिक हैं । लेकिन उनके उपन्यास व्यक्ति चरित्र के संकुचित दायरे में सीमित हैं, प्रेमचन्द के समान विराट फलक वहां नहीं है । "न आनेवाला कल" को छोड़कर शेष दोनों उपन्यास में पात्र भी अपेक्षाकृत कम हैं । उपन्यास में वर्णित घटनायें, उसका परिवेश आदि व्यक्ति-चरित्र के घेरे में सीमित रहते हैं, सामाजिकता भी वैयक्तिकता के दायरे में संकुचित हो गयी है । लेकिन उनके चरित्र परिचित हैं, पाठकों को तादात्म्य स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं है ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आधुनिक भारतीय परिवेश - दिक् और काल ही नहीं सृजनकार की चेतना भी - अस्तित्ववाद के प्रभाव-ग्रहण के लिए उर्वर रहा है । अस्तित्ववाद के अध्ययन-मनन ने भारतीय लेखकों को अपनी सही स्थिति की पहचान के लिए सक्षम भी बनाया । वर्तमान संत्रस्त परिस्थितियों में दिशाहीन हो, अपने अस्तित्व की उपदेयता ढूंढनेवाले व्यक्ति मानव की दुरूस्त स्थिति को इन्होंने महसूस किया और इनका यही लक्ष्य रहा कि व्यक्ति-अस्तित्व की गरिमा को फिर उद्भासित करे । आत्मनिष्ठ हो व्यक्ति-मानव की समस्याओं के आकलन के लिए पूर्ववर्ती साहित्यिक परंपरा तथा रचना सिद्धांत ने भी इन पर अवश्य प्रभाव डाला था ।

...

---

1. परिवेश - मोहन राकेश - पृ.187

चौथा अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में मानवीय अस्तित्व तथा स्वतंत्रता

चौथा अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में मानवीय अस्तित्व तथा स्वतंत्रता

स्वतंत्रता - संग्राम के युग में ही, हिन्दी उपन्यासकारों ने अस्तित्व संकट से अभिभूत होकर व्यक्ति मानव की समस्याओं के आकलन के लिए तैयार हो गया था । पिछले अध्याय में इसके कारणों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है । हिन्दी उपन्यास साहित्य में अज्ञेय ने ही इसकी शुरुआत की थी । क्योंकि अज्ञेय तत्कालीन विघटनकारी स्थिति से पूर्णत: अभिज्ञ थे । उन्होंने लिखा भी है - "हमारा युग संक्रांति का युग है । समाज के संगठन में राज्य व्यवस्था में, कीर्ति और आचार में, साहित्य में, पाप-पुण्य, उच्च-नीच की व्यवस्था में, वस्तु और शैली में, तुक और हेतु में भारी परिवर्तन हो रहा है । अतएव जीवन का दबाव व्यक्ति के मन पर बहुत बढ रहा है । भौतिक जीवन में यांत्रिक संगठन और आंतरिक स्तर पर तीव्र परिवर्तन के दुहरे दबाव में व्यक्ति की स्थिति डगमगा उठी है । वह किसी आश्रय की आड में, घर की खोज में विह्वल हो उठा है"[1] । इसके साथ ही उन्होंने अपने उपन्यास नदी के द्वीप में यूरोप के निराशावाद की लपटें भारत में छा जाने की तथा व्यक्ति-स्वतंत्रता में खतरे पैदा होने की बातें भी कहीं हैं । चन्द्रमाधव यूरोप में दौरा करते समय गौरा को लिखता है - "यूरोप का निराशावाद शीघ्र ही सारी दुनिया में छा जाएगा, महान विस्फोट आ रहा है

---

1. अज्ञेय - तिशंकु - प.10

महँगाजी, और उसकी लपटें भारत को अछूता न छोड़ छायेंगी । स्वाधीनता का आंदोलन है, ठीक है, लेकिन उस लपट का धुआं व्यक्ति के स्वतंत्र्य का दम घोट देगा"[1] ।

अब हम देखेंगे कि यूरोप का वह विस्फोट तथा उससे उद्भूत समस्यायें कैसे हिन्दी उपन्यासों में निखर आयी हैं ।

अज्ञेय के उपन्यास

(1) शेखर एक जीवनी

शेखर अज्ञेय की सही पहचान है और उसकी जीवनी "घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखें हुए "विज़न" को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है । "घोर यातना व्यक्ति को दृष्टा बना देती है" । घोर निराशा उसे अनासक्त बनाकर द्रष्टा होने के लिए तैयार करती है । और उसके मुंह से कही गयी बात दर्शन का रूप ले लेती है । वैयक्तिक संकटबोध ने कामू और काफ्का जैसे महान व्यक्तित्वों के चिन्तन और साहित्य में गहरा प्रभाव डाला था । यही वैयक्तिक संकटबोध शेखर (या अज्ञेय)[2] को दार्शनिक एवं घोर अहंवादी बना देता है और अपने अहं की रक्षा की तीव्र आकांक्षा में वह विद्रोही बन जाता है । इस विद्रोहिता में अहं के साथ साथ संत्रस्त परिस्थितियों से स्वतंत्र होने की लालसा भी द्रष्टव्य है । और शेखर का जीवन दर्शन क्या है ? अज्ञेय के शब्दों में "यों सूत्र आप चाहें तो कह दूंगा "स्वतंत्र्य की खोज" - फिर आप सूत्र की व्याख्या चाहेंगे और मैं कहूंगा कि वही तो "शेखर" है[3] ।

---

1. नदी के द्वीप - अज्ञेय - पृ.7।
2. शेखर और अज्ञेय में भिन्नता नहीं मानी जा सकती । "आत्मनेपद" में शेखर और लेखक काल्पनिक संवाद में लेखक शेखर से कहता है "तुम्हारे ही द्वारा मैं फिर अपने को पहचानूंगा" । पृ.62
3. अज्ञेय - आत्मनेपद - पृ.67

"जीवन की गहनतम घटनाएं किसी अनजान क्षण में ही हो जाती है"[1]। शेखर का जन्म किसी अनजान क्षण में ही हो गया था। वह असाधारण था। इसीलिए ही तीन वर्ष की आयु में ही अपने को उत्तरदायी समझने लगता है और गंभीर रहता है। शिशु शेखर को आवश्यक वात्सल्य देने में माता असमर्थ रही। शेखर के प्रति प्यार होने पर भी मां उसे घृणा की दृष्टि से देखती थी। पिता उसे प्यार करता था, लेकिन उसकी सुरक्षा शेखर को नहीं मिली। "लेटर बाक्स" में खेलने, मास्टर को "थुक्कु मास्टर" कहने, चपरासी की नाक फोड डालने तथा अन्य अनेक छोटी-मोटी बातों पर पिता उसे मारता है। शेखर चुप रहा। लेकिन भाई चन्द्र को कलम न देने के अपराध में जब मां ने शेखर का हाथ मेज पर रखकर गुस्से से मारा तो उसका विद्रोही मन उबल पडा - "नहीं दूंगा, कह दिया नहीं दूंगा। चाहे जान से मार डाले"[2]।

घर में अकेलापन तथा उपेक्षा की दुर्दम स्थिति में शेखर का दम घुटने लगता है। अनजाने एक दिन उसे मालूम होता है कि उसके संसार के अलावा एक और संसार है जिसमें पक्षी रहते हैं, जिसमें स्वच्छन्दता है, जिसमें विश्वास है, जिसमें स्नेह है, जिसमें सोचने की या खेलने की अबाध स्वतंत्रता है जिसका एकमात्र नियम है "वही होओ जो कि तुम हो" और यह संसार उसके लिए एक अत्यन्त वांछित स्वप्न हो गया, उसकी कुल यंत्रणाओं से उन्मुक्ति का द्वार, उसके अकेलापन में उसका सहारा"[3]। और एक संध्या की नीरवता में जंगल की जानकारी से प्रदीप्त होकर शेखर सोचता है - "कितना उन्मुक्त होगा वह स्थान जहां सब कुछ तो स्वतंत्र होगा ही, ये पौधे भी स्वच्छन्दता से उग फूल सकेंगे"[4]।

घर की चहारदीवारी से, बाप की प्रचण्ड छाया से, मां की घृणा की पैनी दृष्टि से शेखर भाग जाना चाहता था - कहीं बहुत दूर··· जहां कोई

---

1. अज्ञेय - शेखर एक जीवनी (पहला भाग) - पृ·47
2. वही - पृ·139
3. वही - पृ· 61
4. वही - पृ· 62

बंधन न हो, विशाल आकाश की उन्मुक्तता हो" । स्वतंत्रता की अदम्य अभिलाषा से उसके प्राण फडफडा रहे थे । और एक दिन उसे अवसर भी मिल गया । पटना शहर में गंगा के किनारे पर शेखर के पिता ने नया मकान ले लिया था । शेखर को तैरना नहीं आता था । फिर भी रोज शेखर का यही काम रहा कि केले के स्तंभों पर लेटकर गंगा में बहना । एक दिन बहते बहते शेखर आकाश की ओर देखकर सोचने लगा आज मौका मिला है उसके बंधन से निकल भागने का, आज वह तीन कटे हुए वृक्षों का सहारा लेकर उस सुदूर देश में जा रहा है जहां गंगा जाती है, जहां वह समुद्र में मिल जाती है, जहां सूर्यास्त के सोने का टापू है और जहां इन्हीं नीलिमा में धुल जानेवाले बादलों से बने हुए सूत्र के वस्त्र पहननेवाली राजकन्या रहती है ··· शेखर उसके पास जाएगा और कहेगा, मैं शेखर हूं । मैं बन्धनों की दुनिया से आया हूं । और वह उसे अपने पास बिठा लेगी और कहेगी, यहां तुम अबाध हो - उस सिरिस के फूलों के महल में तुम रहोगे और जो चाहो करोगे[1] । लेकिन शेखर की कल्पना कल्पना मात्र रही । यथार्थ ने उसे फिर बन्धनों के देश में पटक दिया । कल्पना की दुनिया से उसे उतर आना पडा ।

और अनुभव ने उसे समझाया कि मुक्ति कहीं भी नहीं है । एक दिन शेखर पिता के साथ दौरे पर जा रहा था । बांकीपुर स्टेशन में सुन सूटबूटवाले लडके के अंग्रेजी सवालों पर शेखर जबरदस्त चुप रहा । उसकी अंग्रेजी से शेखर का मन किरकिरा हो रहा था[2] । लेकिन लडके के जाने के बाद पिता ने कान पकडकर पूछा- "जवाब क्यों नहीं दिया ? मुंह टूट गया है"[3] ? घर जाकर पिता ने मां से भी यही कहा "हमारे लडके सब बुद्धू हैं । किसी के सामने तो बोल नहीं निकलता" । शेखर ने सुन लिया और बिजली की कौंध सी उसके मन में यह विचार छा गया - "नहीं, कहीं नहीं है वह अबाध, कहीं नहीं है

1· अज्ञेय - शेखर एक जीवनी (पहला भाग) पृ·101
2· वही - पृ·118
3· वही - पृ·118

छुटकारा, कहीं नहीं है मुक्ति । न बुद्धिमत्ता में, न बेवकूफी में, न एकान्त में, न साथ में, न कविता में, न नाटक में, न काम में न निठल्लेपन में, न घृणा में, न प्यार में - उस विशाल, आततायी उदार पिता के प्यार में भी नहीं"[1] ।

शेखर स्वयं अपने को बनाना चाहता था । स्वतंत्रता की विशाल दुनिया में अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखना चाहता था। इसलिए ही वह परिस्थितियों के भंवर में पडकर संघर्ष करता है । बन्धनहीन दुनिया का स्वप्न देखता है, अबाध की तीव्र आकांक्षा में वह मृत्यु तक चाहता है[2], क्योंकि मृत्यु के बाद मानव का अस्तित्व भी न रहेगा, फिर बाधा कैसी ?

शेखर के व्यक्तित्व में तीव्र अहंभाव था । अपने अहं पर आघात उसे कभी भी सह्य नहीं रहा । स्कूल में शेखर से मोनिटरी छिन जाना, कोई परवाह की बात नहीं थी । लेकिन भरे क्लास में अपमानित होना, उसके अहं के लिए चेतावनी थी । अत: शेखर मास्टर के पेट में धक्का देकर तथा उल्लू कहकर स्कूल से बाहर आता है । फिर वह स्कूल कभी नहीं गया । इससे शेखर "टाइप" बनने से बच गया[3] । वह बना व्यक्ति ।

एक दिन शेखर रसोई के साथवाले कमरे में खाना खा रहा था । मां रोटी बनाती हुई बाप से बातें कर रही थी । बाप कह रहा था कि ईश्वरदत्त (शेखर का बडा भाई) कालेज छोडकर भाग गया है और उसने अपनी वाल्दियत गलत लिख दी है । उन्हें दु:ख इस बात का है कि बेटे ने बाप का नाम क्यों गलत लिखवाया ? तब मां कहती है - भला ऐसे लडकों का कोई विश्वास करे" फिर वह शेखर की ओर इंगित कर कहती है - "सच पूछे तो, मुझे इसका भी विश्वास नहीं"[4]। यह सुनकर "शेखर का मुंह खुला रह जाता है ।

---

1. श्री अज्ञेय - शेखर एक जीवनी (पहला भाग)- पृ.118
2. वही - पृ.119
3. वही - पृ. 95
4. वही - पृ.179

आखें फट-सी जाती हैं । एक धधकती हुई "नेत्रहीन अनुभूति से दीवार को भेदकर वह देखता है, मां की मुख मुद्रा उनकी आंखों का एकाएक थम-गया सा भाव और शेखर की ओर इंगित किया हुआ अंगूठा - इसका"[1] । शेखर के अहं पर गहरी चोट लगी थी । वह अपने कमरे में पाषाण सा बैठा रहा । शेखर की संपूर्णता जो अवसाद की फफोला बन गयी थी, फूट गयी । उस स्थिति में वह एकाएक लिखने लगा, लिखता ही रहा, सोया नहीं, और फिर फाड फाडकर पढता रहा, एक वाक्य मरुभूमि में गर्म आंधी सी हू - हू करता हुआ, उसके सिर में गूंज रहा था - "Better to be a dog, a pit, a rat, a stinking worm than to be a man whom no one trusts."[2]

एकाएक शेखर उठ खडा हुआ और दीवार से अंग्रेज़ी में बोला - ' I hate her' और बाहर चल दिया । सात आठ मील चलकर एक पोखरे के पास पहुंच गया, वहीं बैठ गया । जेब से पेंसिल निकालकर एक प्रतिज्ञा लिखने लगा - "मां का कोई काम नहीं करूंगा, जिसमें कि उसे बाध्य होकर भी मेरा स्त्री-भर विश्वास करना पडे । कभी कोई पूछेगा तो कहूंगा कि वह मेरी मां नहीं है - विमाता है ! विमाता है ! विमाता है"[3] ! लेकिन शेखर का मन हारनेवाला नहीं था, वह टूट सकता है, लेकिन कभी भी झुक नहीं सकता । वह प्रतिज्ञा-पत्र को फाडकर जमीन पर पटक देता है और उद्घोषित करता है - "मैं क्यों हार मानूं ? कोई विश्वास नहीं करता, न करे । मैं योग्य हूं । योग्य बनूंगा, रहूंगा । इस चोट को चुपचाप सहूंगा, इस अपमान को पिऊंगा । और दीखने नहीं दूंगा, और सारे संसार का विश्वास और आदर पाकर उसी मां के मुंह पर पटक दूंगा और कहूंगा - यह देख..."[4] । शेखर की धधकती आत्मा पूर्णत: विद्रोही बन गयी थी ।

---

1. अज्ञेय - शेखर एक जीवनी (पहला भाग) - पृ.179
2. Ibid. p. 25
3. अज्ञेय - शेखर एक जीवनी (पहला भाग) - पृ.181
4. वही - पृ.181

शाम को खा-पी चुकने के बाद माँ या पिता बच्चे को कहानियाँ सुनाया करते थे । कहानियाँ वही होती जो भारत में अक्सर बच्चों को सुनायी जाती हैं - "देवताओं की कहानियाँ" । "कहानियाँ सुनते शेखर सोचा करता, यदि ईश्वर है तो क्यों नहीं मुझपर प्रकट होता ? कभी उसके मन में यह संदेह उठता कि मैं बहुत निर्बल और अयोग्य हूँ तभी मुझे ईश्वर का अनुभव नहीं होता, कभी उसका छोटा सा व्यक्तित्व अपना सारा साहस एकत्र करके पूछता कहीं ऐसा तो नहीं है कि ईश्वर है ही नहीं"[1] ? आकाश में झिलमिलाते सितारों और चन्द्रमा को देखकर शेखर सोचता "इस अवर्णनीय सुंदरता ने, विशेषणहीन रात्रिता ने, यह प्रमाणित कर दिया है कि ईश्वर नहीं है, क्योंकि सुख और लडाई बनानेवाला कौन सा ऐसा ईश्वर हो सकता है जो इतनी सुन्दरता बना सके ? और यदि वह ईश्वर ने नहीं बनायी तो बाकी संसार ही क्यों उसकीकृति है"[2] ?

और एक दिन इसी विचित्र मानसिक अवस्था में, शेखर कुतूहल दृष्टि से भवानी के मंदिर की ओर देख रहा है । बाकी सब लोग मंदिर की प्रदक्षिणा कर रहे हैं । पिता शेखर से प्रदक्षिणा करने का इशारा करता है, लेकिन शेखर हिलता नहीं । बाद में पिता के फटकार के जवाब में शेखर अपनी सारी शक्ति संजोकर एकदम फड़क उठता है - "मैं ईश्वर को नहीं मानता । मैं प्रार्थना भी नहीं मानता । भवानी झूठी है, ईश्वर झूठा है । ईश्वर नहीं है"[3] । शेखर ने बेंत से मार खाया । नाम मिला-नाडस्ती । लेकिन न झुकने के कारण उसका मन आत्मसम्मान और आत्माभिमान से भर गया था ।

वास्तव में अज्ञेय के शेखर की शक्ति अपने अदम्य अहं की शक्ति ही है । अपनी बडी बहिन सरस्वती से वह यह कहता भी है "मुझे मूर्ति इतनी नहीं चाहिए, मुझे "मूर्तिपूजक" चाहिए । मुझे कोई ऐसा उतना नहीं चाहिए

---

1. अज्ञेय - शेखर एक जीवनी (पहला भाग) - पृ.89
2. वही - पृ.90
3. वही - पृ.91

जिसकी ओर मैं देखूं, मुझे वह चाहिए जो मेरी ओर देखे । यह नहीं कि मुझे आदर्श पुरुष चाहिए, पर उन्हें मैं स्वयं बना सकता हूं । मुझे चाहिए आदर्श का उपासक, क्योंकि वह मैं नहीं बना सकता"[1] । शेखर सदा पाना चाहता था, देने की आदत से वह वंचित था । शेखर बचपन से ही, अपने संपर्क में आनेवाले सभी से - चाहे वह स्त्री हो या पुरुष अपने अहं के पोषण की मांग करता आया है । पुरुषों से उसने आदर चाहा, स्त्रियों से प्यार और प्रेम ।

मां के मन में अवश्य शेखर के प्रति प्यार था । लेकिन शेखर की अहं भावना उसे कचोटती थी । उस अहं को वह दुलार नहीं सकती थी । इसलिए शेखर ने अपनी मां को जीवन-भर माफी नहीं दी । यद्यपि पिता उसे पीटता था, फिर भी उसकी कठोरता में एक ऐसा लिजलिजापन था कि उसका अहं विकसित होता गया । फिर शेखर के अहं को दुलारनेवाली थी सरस्वती । शेखर, सरस्वती के संग सब कुछ भूल जाता था । सारे संसार का अस्तित्व ही मिट जाता था । उसे अकेली पाकर शेखर उससे निर्बाध बातें करने लगता और उसे एकटक देखते रहता । वास्तव में पहली बार प्यार और नारी-सौन्दर्य का बोध उसे बहिन से ही प्राप्त होता है ।

सरस्वती के ससुराल चले जाने के बाद शारदा उसके मरुस्थलीय हृदय में ओएसिस बनकर आ जाती है । शारदा उसे हमेशा "सिल्लीबाय" कहकर पुकारती थी, लेकिन शेखर के अहं पर इसका कोई असर नहीं पडा। लेकिन जब उसके अहं पर चोट लगी, तब वह शारदा से सलाम करके चला जाता है । शेखर के बार बार पूछने पर कि क्या शारदा, तुम मुझे प्यार करती हो, शारदा चुप रहती है । जब शेखर ने उसकी कलई पकड ली और पूछने लगा तो वह एकदम फूट पडी - "तुम्हें प्यार, मुझे खेद है कि मैं ने कभी तुमसे बात

---

1. अज्ञेय - शेखर एक जीवनी (पहला भाग) - पृ.144

भी की" । उसने अपनी कलई छुडा ली और शेखर की ओर देखे बिना चली गयी । शारदा चली गयी तो चली गयी । शेखर ने उसे मनाने का प्रयत्न नहीं किया । वह एक दिन त्रावनकोर रुक सकता था, लेकिन नहीं रुका । वह पत्र लिख सकता था, लेकिन शेखर क्यों लिखें ? शेखर ने किसीके सामने सिर झुकाना नहीं सीखा - "चाहे वह मां, बाप, बहिन, कोई भी हो । शारदा के बिछुडने पर अवश्य शेखर को दु:ख हुआ होगा, यह सोचकर कि वह जिसपर अधिकार रखना चाहता था, उसने उसे स्वीकार नहीं किया । लेकिन "शेखर जीवन भी किसीसे यह कहने नहीं गया कि मैं दया का पात्र हूँ, अपराधी हूँ, मुझे क्षमा करो, मुझे तुम्हारी दासता स्वीकार है"[1] ।

फिर उसकी ज़िन्दगी में सप्तपर्ण की छाह की शीतलता लेकर शशि आ जाती है । विवाहिता शशि उसे सब कुछ देती है । वह शेखर के लिए भाई, बहन, मां, बेटी से कहीं बढकर और कुछ बन जाती है । शेखर को बनाने में वह सहर्ष टूट जाती है । अपने को मिटाने मे उसने कोई कमर नहीं रखी, ज़रा भी कंजूसी नहीं की । शेखर ने भी शशि के साथ कभी बुरा व्यवहार नहीं किया । उसके लिए वह संघर्ष करता है । अनेक कष्ट सहता है, उसे सुखी रखने के लिए पूरी कोशिश करता है, अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, लेकिन शेखर ने यह कभी नहीं चाहा कि शशि का अलग अस्तित्व हो । शशि का अस्तित्व शेखर में सम्मिलित है । शेखर शशि से कहता है "तुम वह सान रही हो जिसपर मेरा जीवन बराबर चढाया जाकर तेज होता रहा, जिसपर मंज मंजकर मैं कुछ बना हूँ, जो संसार के आगे खडे होने में लज्जित नहीं है..... तुम जीवित नहीं हो, मेरे, शेखर के बनने में ही तुम टूट गयी हो, शायद स्वयं शेखर के हाथों में टूट गयी हो"[2] ।

शेखर के अहं को प्रभावित करनेवाला और एक व्यक्ति है, बाबा मदनसिंह उनके प्रभाव के कारण ही शेखर की आत्मनिर्भरता उसके जीवन की आधारशिला

---

1. उपन्यासकार अज्ञेय - डा. केदारनाथ मिश्र - पृ.95
2. अज्ञेय - शेखर एक जीवनी

बन जाती है । सत्य का अन्वेषी होने के कारण बाबा के वेदना-भरे सूत्र उसे प्रभावित करते हैं । लेकिन बाबा की तरह रोकर प्रकाश पाने का वह इच्छुक नहीं है - "नहीं रोऊंगा - नालायक ! मुझे नहीं चाहिए, रोकर पाया हुआ प्रकाश । मैं अपना रक्त जलाकर प्रकाश पैदा करूंगा --- रक्त के आंसू ---"

शेखर जिन्दगी भर अपने विशेष व्यक्तित्व के स्थायित्व के लिए छटपटाता रहा । जीवन के दूसरे मोड पर याने युवावस्था में परिवेश के जबरदस्त प्रभाव से अपने संकुचित दायरे से बाहर आकर सामाजिक बनने का वह प्रयत्न तो करता है, लेकिन यह प्रयत्न उसके अहं को और स्पष्ट उद्भासित करता है और सामाजिकता की झलक इससे क्षीण पडती है । उच्चवर्ग के छात्रावास का त्याग, हरिजन छात्रावास में निवास और अछूतोद्धार का प्रयास - ये ही उसके सामाजिक अंश हैं । लेकिन ये सामाजिक होते हुए भी अहं तृप्ति के नये क्षेत्र सिद्ध हुए । उच्चवर्ग के छात्रावास में वह अपमानित हो चुका था । इसलिए छात्रावास छोड देता है । सामाजिक दृष्टि में सम्मानित होना उसकी अहं तृप्ति के लिए जरूरी था । इसलिए वह हरिजन छात्रावास में रहता है और अपनी अभीप्सित इच्छा में थोडा सफल भी निकलता है । एक विशिष्ट व्यक्ति बनने की तीव्र आकांक्षा में वह "व्यक्तित्व" और "मूल्यों का विरोध करता है । बाह्याडंबर के प्रतीक रूप में वह फूल लगाना प्रारंभ करता है । जब उसे मालूम हो जाता है कि लडकियां इसकी चर्चा करती हैं तो वह एकदम फूल लगाना छोड देता है ताकि लडकियां उसकी भी चर्चा करें । उसकी समस्त क्रियाओं के मूल में इस प्रकार अपने विशिष्ट अस्तित्व को उद्भासित करने की तीव्र आकांक्षा है, अपने अहं की पारदर्शिकता है ।

"शेखर एक जीवनी" में ऐसे अनेक दार्शनिक सूत्र भी बिखरे पडे हैं जो अस्तित्ववादी दार्शनिक सूत्रों से मेल खाते हैं । शेखर अहंवादी है ।

---

1. अज्ञेय - शेखर एक जीवनी (द्वितीय भाग) - पृ. 72

लेकिन शेखर की ही राय में उसके व्यक्तिगत जीवन में समष्टिगत जीवन का भी इतना अंश है कि समष्टि उसे समझ सके और उसमें अपने जीवन की झलक पा सके[1]। सार्त्र का भी यही मत है कि मनुष्य व्यक्ति के रूप में अद्वितीय होने पर भी, वह अपने आप में समग्रता भी है। व्यक्ति समाज का आत्मनिष्ठ रूप है या सामाजिक अस्तित्व का यथार्थ प्रतिनिधि है। व्यक्ति का अस्तित्व स्वयं एक सामाजिक प्रवृत्ति है[2]। (इसका विशेष विवेचन प्रारंभिक अध्यायों में हो चुका है)।

अस्तित्ववादी दर्शन का सूत्रकाव्य है - प्रकृति (सार) अस्तित्व के बाद आती है। अज्ञेय का शेखर भी इससे सहमत लगता है। उसका कथन है - मूर्ति का निर्माण हो सकता है, मृत्तिका का नहीं। उसी मिट्टी से अच्छी प्रतिमा भी स्थापित की जा सकती है, बुरी भी पर जहां मिट्टी भी न हो, वहां कितने भी प्रकार से, कितनी भी शिक्षा से, कितनी भी जाज्वल्यमान बलिदान से मूर्ति नहीं बना सकती"[3]।

हमने देखा कि अस्तित्ववादी दार्शनिकों के अनुसार यह दुनिया मनुष्य की अपनी दुनिया है। या जब दुनिया मनुष्य की हो जाती है तभी यार्थक बनती है। मनुष्य के अभाव में वह पदार्थों का बोझ वहन करनेवाला अर्थहीन जड मात्र है। शेखर-नीलगिरि, मद्रास, महाबलिपुर, मलबार, त्रावनकोर, सब को छोड़कर पंजाब जा रहा है भडभडाती हुई दौडती गाडी में बैठकर शेखर सोचता है - "नीलगिरि उसके लिए क्या है, सिवाय इसके कि वहां उसके भाई-बन्द रहते हैं, महाबलिपुर क्या है, सिवाय इसके कि वहां वह डूबा था,

---

1. अज्ञेय - शेखर एक जीवनी (पहला भाग) पृ.122
2. सार्त्र - एक्सिस्टेन्शियालिज़म एण्ड हुमान इमोषन्स - पृ.35
3. अज्ञेय - शेखर एक जीवनी (पहला भाग) पृ.28

त्रावनकोर भी क्या है, सिवाय इसके कि वहां शारदा थी और वह उससे लड आया ? जब वह नहीं रहेगा, तब ये सब स्थान भी नहीं होंगे..... ये सब इसलिए हैं कि इनमें वह है"[1]।

बाबा मदनसिंह शेखर से कहता है - "मनुष्य को अपना मार्ग स्वयं निश्चित करना चाहिए"। सार्त्र ने भी यही कहा है कि मनुष्य वही है जो वह अपने आपको बनाता है। यही अस्तित्ववाद का प्रथम तथ्य है। स्वर्ग में कुछ नहीं है। मनुष्य वही होगा जो वह निश्चित करेगा यह नहीं कि वह क्या चाहेगा। यदि सचमुच सार अस्तित्व के बाद आता है तो यह निश्चित है कि "मनुष्य बनने" का दायित्व स्वयं उसपर है"[2]।

§2§ नदी के द्वीप

"नदी के द्वीप" की नदी जीवन है। निरन्तर प्रवाहमान जीवन। द्वीप व्यक्ति है। इस प्रवाह के छोटे छोटे द्वीप। पूरे उपन्यास में यह बिंब परिव्याप्त है। ये द्वीप प्रवाह से घिरे हुए हैं, उससे कटे हुए भी, भूमि से बंधे और स्थिर भी[3]। लेकिन ये एक ही स्थान में स्थिर नहीं हैं। नदी निरन्तर उनका भाग्य गढती चलती है। द्वीप भी निरंतर घुलते और बनते रहते हैं। वे एक स्थान से मिटकर दूसरे स्थान पर जम जाते हैं। अत: यद्यपि व्यक्ति की ये छोटी छोटी इकाइयां इस प्रवाह से अलग कोई अस्तित्व नहीं रखती, फिर भी संपूर्ण हैं, स्वायत्त हैं, अक्षतीय हैं, और स्वत: प्रमाण हैं क्योंकि अन्ततोगत्वा आत्मानुशासित हैं[4]। और कभी कभी खराएं उनके अस्तित्व को मिटाती हैं, लेकिन फिर नये सिरे से उद्भूत होते हैं। इस पुन:

---

1. अज्ञेय - शेखर एक जीवनी §दूसरा भाग§ - पृ.9
2. - "If existence really precedes essence, man is responsible for what he is."
Existentialism and Human emotions - Sartre - P.12.

3. नदी के द्वीप - अज्ञेय - पृ.22 §रेखा का कथन§
4. वही - पृ.335 §भुवन का विचार§

सृष्टि में व्यक्ति का अपना योगदान महत्तम है । संत्रस्त परिस्थितियों से जूझकर अपने अस्तित्व की रक्षा करना व्यक्ति का कर्तव्य है ।

रेखा ने सदा समाज की अपेक्षा व्यक्ति को ही मान्यता दी है । जब भुवन समाज या पूरी मानवता की बात करता है तब रेखा कहती है ... "आपकी मानवता एक विशाल मरुभूमि है - और मेरे ये सहज साक्षात छोटे-छोटे हरे ओएसिस । न एक हरियाली से संपूर्ण मरु की कल्पना हो सकती है, न असंख्य हरियालों को जोड देने से एक मरुभूमि बनती है । ये चीज़ें ही अलग हैं अस्तित्ववादियों के समान रेखा भी मानती है कि व्यक्तित्व की अपनी गौरवमय प्रतिष्ठा है । "व्यक्तित्व की अपनी लीकें होती हैं - एक रुझान होता है । और उसके आगे, व्यक्ति अपने वर्तमान और भविष्य के बारे में जो समझता है, जो कल्पना करता है, मनसूबे बांधता है, उनसे भी तो एक लीक बनती है - लीक कहिये, चौखटा कहिए, ढांचा कहिये । यह कह लीजिए दुनिया में अपना एक स्थान, मेरा यही मतलब था"[2] ।

सार्त्र की मान्यता है कि परिवेश से घिरे रहते हुए भी व्यक्ति स्वतंत्र है । वह अपने आपको बनाता है । उसमें किसी और का हाथ बंटाव नहीं है । रेखा भी यही गौरा को लिख रही है - "तुम्हें सीख नहीं दे रही गौरा, हर व्यक्ति एक अद्वितीय इकाई है, और हर कोई जीवन का अंतिम दर्शन अपने जीवन में पाता है किसीकी सीख में नहीं । पर दूसरों के अनुभव वह खाद हो सकते हैं जिससे अपने अनुभव की भूमि उर्वरा हो"[3] । भुवन भी गौरा को यही लिखता है - "दिशा-निर्देशन भीतर का आलोक ही कर सकता है, वही स्वाधीन नैतिक जीवन है, बाकी सब गुलामी है । ..... राह चलना हो तो हर मोड, हर चौराहे पर राही को जोखिम उठाना होता है

---

1. अज्ञेय - नदी के द्वीप - पृ.22 (रेखा का कथन)
2. वही - पृ.55
3. वही - पृ.330

और वह उठाता है, उस समय आँखें बंद करके दूसरे के निर्देश पर अपने को नहीं छोड देता"[1]।

सार्त्र का विचार है कि मनुष्य अपनी सभी स्थितियों के लिए स्वयं उत्तरदायी हैं, इसलिए अस्तित्व का मुख्य अर्थ है स्वतंत्रता। वरण करने की स्वतंत्रता। इस वरण करने की स्वतंत्रता द्वारा मनुष्य मृत्युपर्यन्त अपने को जो हो सकता है, बनाने का प्रयत्न करता रहता है। वरण की एक लंबी कतार है जीवन। गौरा यही बात भुवन को लिख रही है - "यह बात आज समझ रही हूँ। जीवन एक बार का वरण नहीं, वह अनंत वरण है, प्रत्येक क्षण में हम स्वीकार और परिहार करते चलते हैं"[2]।

और यह स्वतंत्रता संघर्ष और साहस मांगती है। उसमें जोखिम अनिवार्य है। स्वतंत्रता की वजह से बलिदान हो जाय तो भी कोई बात नहीं भुवन गौरा को लिखता है - "तुम्हें जो राह दीखती है, उसपर चलो गौरा। धैर्य के साथ, साहस के साथ .... जान लेना अब स्वतंत्र रूप से जोखम वरने का समय आ गया[3]। ..... झुकना आत्मबलिदान नहीं, पलायन है - कटु निर्णय से, स्वाधीनता के जोखम से पलायन। स्वाधीनता साहस मांगती है, दुस्साहस भी मांग सकती है। स्वाधीनता साहसी का धर्म है"[4]। अत: समाज से संघर्ष करके ही व्यक्ति स्वतंत्र वह सकता है। इन प्रयत्न में यदि वह टूट जाए तो भी पदवाह नहीं क्योंकि लडकर टूटना ही धीरता है, झुलना कायर का काम है।

गौरा की राय में स्वाधीनता केवल सामाजिक गुण नहीं बल्कि वह एक दृष्टिकोण है, व्यक्ति के मानस की एक प्रवृत्ति है। उसका यह भी मत है

---

1. अज्ञेय - नदी के द्वीप - पृ.73
2. Ibid- P. 77.
3. अज्ञेय - नदी के द्वीप - पृ.74
4. वही - पृ.76

कि व्यक्ति ही समाज का निर्माता है । वह अपने दृष्टिकोण से समाज को बनाता है । और वह स्वयं अपने को समाज से बद्ध नहीं मानती । वह स्वाधीनता के लिए स्वयं ट्रेन कर रही है, उसके सामने सफलता या विफलता का कोई प्रश्न नहीं । वह सोचती है कि यदि सब लोग यत्नपूर्वक अपने को स्वाधीनता के लिए ट्रेन करे तो यह सारा समाज ही स्वाधीन बन सकता है[1] ।

"नदी के द्वीप" में व्यक्ति के अस्तित्व की रक्षा साभिप्राय है । गर्भवती रेखाके सामने भुवन विवाह का प्रस्ताव रखता है । रेखा को मालूम है कि भुवन का यह प्रस्ताव सामाजिक डर से उद्भूत है । उसके कथन में समाज संगुफित है । वह भुवन से स्पष्ट कहती है - "भुवन, तुम समाज की दृष्टि से देखते हो । वह दृष्टि गलत नहीं है । अप्रासंगिक भी नहीं है, निर्णायक भी वह नहीं है । {लेकिन} व्यक्ति को दबाकर इस मामले का जो भी निर्णय होगा - गलत होगा - घृण्य होगा, असह्य होगा"[2] । जिन्दगी के हर मोड पर, हर निमिष व्यक्ति के अस्तित्व की रक्षा चाहती है, इसलिए भुवन से कहती है - "एक दूसरे के {समर्पण} धधकते क्षण में, ज्ञान चीत्कार कर उठता है कि हम अलग ही है, देना संपूर्ण नहीं हुआ, कि मिटने में भी "मैं" "मैं" हूं, "तू" तू है, "मैं" "तू" नहीं है, और हमारी मांग बाकी है - इतना अभिन्न मिलन क्या हो सकता है कि मांग बाकी न रहे ? सारी सृष्टि में रमा हुआ ईश्वर भी तो अकेला है, अपनी सर्वव्यक्ति में अकेला, अपनी अद्वितीयता में अयुत, विरही...."[3] । यों "नदी का द्वीप" में व्यक्ति के अस्तित्व और स्वतंत्रता को बनाये रखने का तीव्र प्रयास हुआ है ।

{3} अपने अपने अजनबी

अज्ञेय ने "अपने अपने अजनबी" में मृत्यु की मंडराती गहनतम छाया में व्यक्ति के अस्तित्व और स्वतंत्रता की चर्चा की है । और उन्होंने यह निष्कर्ष

---

1. अज्ञेय नदी के द्वीप - पृ.70
2. वही - पृ.214-215
3. वही - पृ.239

निकाला है कि मृत्यु मानव के अस्तित्व और स्वतंत्रता को उखाड़कर कहीं फेंक देती है । मनुष्य को वरण करने की स्वतंत्रता नहीं है, या मृत्यु उसकी सीमा है ।

बर्फ के नीचे काठ-घर में फंसी सेल्मा सोचती हैकि मनुष्य उपेक्षित, निस्सहाय, निरूपाय एवं बेबस है । कालरूपी विराट शक्ति मनुष्य को अवश बनाती है और उसे बुढापे के अंधेर गुफामें धकेल देती है । उसके विकराल हस्त से रक्षा या उसकी गुलामी से छुटकारा असंभव है । मृत्यु जब चाहे आ सकती है और हमारे अस्तित्व को उखाड फेंक सकती है । इसीलिए ही सेल्मा योके से कहती है कि कुछ भी किसी के बस का नहीं है योके । वरण की स्वतंत्रता कहीं नहीं है । हम कुछ भी स्वेच्छा से नहीं चुनते हैं[1] । सार्त्र भी मृत्यु की सीमा में अभिज्ञ है । उन्होंने कहा है कि मृत्यु मेरे लिए एक अबूझ सीमा है, जैसे दूसरे के अस्तित्व के कारण मेरी स्वतंत्रता की भी एक सीमा बन जाती है[2] ।

इस दुनिया में रहते मनुष्य वास्तव में बहुत अकेला है, अस्वतंत्र है । सेल्मा कहती है - "ईश्वर भी शायद स्वेच्छाचारी नहीं है, उसे भी सृष्टि करनी ही है क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है"[3] । बर्फ से घिरे काठघर से मुक्त होकर, अपने प्रेमी पॉल से तिरस्कृत योके भी यह महसूस करती है कि कहीं वरण की स्वतंत्रता नहीं है । हम अपने बंधु का वरण नहीं कर सकते - और अपने अजनबी का भी नहीं .... हम इतने भी स्वतंत्र नहीं हैं कि अपने अजनबी भी चुन सकें"[4] । आखिर योके विषाद करके उद्घोषित करती है कि मैं ने चुन लिया । मैं ने स्वतंत्रता को चुन लिया । मैं बहुत खुश हूं । मैं ने कभी कुछ नहीं चुना । जबसे मुझे याद है कभी कुछ चुनने का मौका मुझे नहीं मिला । लेकिन अब मैं ने चुन लिया जो चाहा चुन लिया । मैं खुश हूं[5] ।

---

1. अज्ञेय - अपने अपने अजनबी - पृ॰98
2. Six Existentialist Thinkers - H.J. Blackham - P. 136.
3. अज्ञेय - अपने अपने अजनबी - पृ॰98
4. वही - पृ॰101
5. वही - पृ॰101

यहाँ अज्ञेय ने स्वतंत्रता की सीमा की ओर हमारा ध्यान खींचा है । या उन्होंने मानव की इस बेबसी की अभिव्यक्ति दी है कि मानव को वरण करना ही पडता है चाहे वह मृत्यु ही क्यों न हो, क्योंकि मानव वरण करने के लिए अभिशप्त है[1] ।

§4§ मोहन राकेश के उपन्यास

1. अंधेरे बन्द कमरे

"अंधेरे बन्द कमरे" विभिन्न व्यक्तित्वों के संघर्ष की कहानी है । संपूर्ण उपन्यास में इनका तनाव और द्वन्द्व की छाया मंडराती रहती है । ये विभिन्न व्यक्तित्व हैं - नीलिमा और हरबंस ।

नीलिमा आधुनिक नारी है । उसके व्यक्तित्व में कुछ ऐसा है जो मुक्ति चाहता है । घुटे हुए वातावरण में वह अपना विकास नहीं कर पाती । वह अपनी प्रतिभा और योग्यता के उपयोग से कुछ और बनना चाहती है । "यह बनना" कभी कभी उसके और हरबंस के बीच एक बेडे अन्तराल का कारण बन जाता है । बंधनों के घेरे में रहना, नीलिमा पसंद नहीं करती । वह हरबंस से कटकर जीना चाहती है क्योंकि वह अनुभव करती है कि उसका "न होना" उसके होने से बेहतर है । नीलिमा हरबंस को वह सब कुछ नहीं दे पाती जिसकी हरबंस मांग करता है[2] । और नीलिमा भी हरबंस से वह सबकुछ नहीं पाती, जो कुछ उसका बर्मी मित्र कलाकार ऊबानु उसे पेरिस में देता है । नीलिमा उसके बारे में कहती है - "वह हर आदेश का इस तरह पालन करता था जैसे सिर्फ मेरा खरीदा हुआ गुलाम हो, मुझे उसका व्यवहार बहुत अच्छा लगता था" ।

---

1. Existentialism and Human emotions - P. 28.
2. मोहन राकेश - परिवेश - पृ. 148
3. वही - अंधेरे बंद कमरे में - पृ. 305

हरबंस का, मूल्यों के साचे में ढला हुआ व्यक्तित्व है वह महत्वाकांक्षी पुरुष और पूर्वाग्रहों से आबद्ध था । उसका पुरुषत्व कभी भी उबानु बनने का तैयार नहीं था । वह स्त्री को उतना कुछ नहीं देना चाहता था जो नीलिमा चाहती थी । हरबंस की यही इच्छा थी कि नीलिमा उसके इर्द-गिर्द ही चक्कर काटे और उसकी मुक्त मुस्कुराहटें, साज-श्रृंगार एवं नृत्य केवल उसके लिए हो । वह नीलिमा को पूर्णत: गृहस्थिन के रूप में देखना चाहता था, लेकिन नीलिमा उस सह से कहीं दूर जा चुकी थी, अब लौटना असंभव था ।

हरबंस और नीलिमा दोनों अपने अलग व्यक्तित्व या अस्तित्व को सुरक्षित रखना चाहते हैं । दोनों को इस बात पर चिढ है कि उनके व्यक्तित्व इस्तेमाल किये जा रहे हैं । दिल्ली के कला-निकेतन नीलिमा के भरतनाट्यम का प्रदर्शन आयोजित करता है । प्रदर्शन के पहले पत्रकारों और विशिष्ट व्यक्तियों को दावत देनी थी । नीलिमा इसका भी इन्तजाम करती है । लेकिन इसपर हरबंस का मन कुढता है और उसकी आत्मा विद्रोह करती है । अत: हरबंस और नीलिमा दोनों टूट पड्ते हैं ।

जब नीलिमा हरबंस को हीन भावना क शिकार का आरोप करत ी है तब हरबंस कहता है - "तुम अपना प्रदर्शन करो, नाम कमाओ और जो चाहे करो, मेरी तुमसे प्रार्थना है कि मुझे तुम इसमें एक औजार बनाकर इस्तेमाल न करो । मुझे चिढ है तो इसी बात से कि मैं एक ऐसी चीज़ के लिए इस्तेमाल किये जा रहा हूँ जिसके लिए मेरे मन में कोई उत्साह नहीं है । और उत्साह न होने की बात भी नहीं है, मुझे इस बात से नफरत है"[1] । नीलिमा कुछ क्षण चुप रही और फिर तुनककर बोली "तुम्हें जिस चीज से नफ़रत है, वह मैं अच्छी तरह जानती हूँ । और मेरा मुँह खुलवाओगे, तो मैं यह भी कहूंगी कि मैं तुम्हें अपने लिए इस्तेमाल नहीं कर रही, तुम मुझे अपने लिए इस्तेमाल कर रहे हो । ..

---

1. मोहन राकेश - अँधेरे बन्द कमरे - पृ.420

कुछ लोगों के साथ अपना संपर्क और परिचय बढाने के लिए, उससे अपने छोटे-छोटे काम निकालने के लिए, आज तक तुम किसे आगे करते आये हो ? अपने विदेशी मित्रों से क्यों बार बार मेरी चर्चा करते हो ? क्यों बार-बार उनसे मिलने के लिए ले जाते हो ? ..... जहां नीलिमा तुम्हारे काम आ सकती वहां वह तुम्हारी पत्नी है और तुम्हें उसे इस्तेमाल करने का पूरा हक है । मगर आज मेरी वजह से तुम्हें कुछ लोगों की दावत करनी पडी है, तो तुम्हारी आत्मा विद्रोह कर रही है कि मैं तुम्हें कीचड में घसीट रही हूं" ।

इस प्रकार अपने अलग व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने की तीव्र आकांक्षा की वजह से, दोनों टकराते रहते हैं, उनके बीच अन्तराल बढता जाता है, उनके मानव रेल की पटरी-सी विभिन्न हो समानान्तर चलने लगते हैं । फिर भी ये साथ साथ जीते हैं । "वे अंधेरे बन्द कमरे में रात-दिन आपस में टकराते हुए भी एक साथ जिए जाते हैं, क्योंकि मुक्ति उनके लिए यदि है तो एक दूसरे से और एक दूसरे की साझीदारी में ही है । इसका कारण उनका अलग-अलग व्यक्तित्व भी नहीं, वह वातावरण भी है जिसमें वे जीते हैं ।

§5§ न आनेवाला कल

"न आनेवाला कल" के मनोज का व्यक्तित्व समाज से टूटा हुआ है । मनोज अपने आप दिशाहीन है । वह अकेलापन से पीडित है । और वह हर पल छटपटाता रहता है । लेकिन उसकी दिशाहीनता, छटपटाहट और अकेलापन में अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने की तीव्र आकांक्षा निहित है । पर परिवेश की विसंगति की वजह से हर निमिष वह अनिर्णय की स्थिति में जीता है, और यह नहीं जानता कि क्या पाने केलिए क्या खोना चाहिए और क्या पाना चाहिए । यों अपने को चारों ओर अनफिट पाते हुए निरन्तर एक सूनेपन के अहसास से वह गुजरता रहता है ।

---

1. मोहन राकेश - अंधेरे कमरे बंध कमरे - पृ॰ 420-421

मनोज शोभा के साथ पति का संबन्ध रखने की कोशिश करता है, लेकिन असफल निकलता है, क्योंकि पति-पत्नी की गहरी अनुभूति के लिए जो अहं की त्यागभावना की ज़रूरत है, वह उसमें नहीं है । शोभा में भी नहीं, दोनों अपने व्यक्तित्वों से चिपटे रहते हैं । दोनों में से कोई भी एक दूसरे के लिए अपनी जीवन-पद्धति, रुचि और मान्यताओं को बदलना नहीं चाहता । अत: दोनों झुकने केलिए तैयार नहीं । इसके अलावा शोभा अपने अतीत की जिन्दगी में इतनी तल्लीन है कि मनोज की उपस्थिति में ही वह उससे दूर भागती है । और मनोज तो अकेलापन और ऊब से बचने तथा अपने अस्तित्व को बनाये रखने के तीव्र प्रयत्न में अपना पतीत्व भूल जाता है । फल होता है, छटपटाहट और अलगाव ।

मनोज बानी से भी संबन्ध रखता है । बानी का अपना व्यक्तित्व है और वह अपने को मुक्त स्त्री मानती है । किसीके साये में आश्रित बनकर जीना, उसके लिए अपने व्यक्तित्व को कुंठित करना है । वह कहती है - "मैं नहीं चाहती कि किसी भी आदमी का मुझपर इतना अधिकार हो कि मैं उसके बिना जी ही न सकूं । किसी भी आदमी के साथ घर बसाकर रहने की बात से मुझे शुरू से चिढ रही है"[1] ।

यों "न आनेवाला कल" के सभी पात्र एक तरह अपने अपने संकुचित वैयक्तिक कटघरे में सिकुड़े हैं और इसकी वजह से संबन्धहीनता की बेबसी में मायूस रहते हैं ।

§6§ अंतराल

"अंतराल" की श्यामा और कुमार को "न आनेवाला कल" और "अंधेरे बन्द कमरे" के पात्रों की विवशता नहीं है, फिर भी उनके व्यक्तित्वों का पूर्ण विलयन नहीं होता । उनका संबन्ध भी अधूरा रहता है ।

---

1. मोहन राकेश - न आनेवाला कल - पृ.14।

इसका कारण एक ओर गहनतम अहं है तो दूसरी ओर अतीत अनुभवों से अभिभूत उनका व्यक्तित्व है । दोनों की जिन्दगी अधूरी बन गयी थी, दोनों में एक प्रकार की रिक्तता भर गयी थी । यही रिक्तता और अधूरापन उन्हें आपस खींचते हैं । पर दोनों परस्पर शरीरिक संबंधों के अतिरिक्त कुछ और ढूंढते हैं । या शरीरिक संबन्ध रखने केलिए दोनों हिचकते हैं । भावावेश में कुमार के तैयार होने पर भी श्यामा उससे उबर पाती हैं । सार्त्र की दृष्टि में एक दूसरे के व्यक्तित्व में व्यक्तित्व या अहं के विसर्जित होने की संभावना रहती है । उस वक्त प्रेमी - प्रेमिका परस्पर उपकरण के रूप में इस्तेमाल करते हैं और इससे उनका मानवीय-अस्तित्व क्षुण्ण होता है । शायद श्यामा और कुमार की सेक्स के प्रति वितृष्णा इस भावना से उद्भूत हो । और स्वयं कुमार यह अनुभव करता है कि मानव का "स्व" "पर" में विकसित न होने के कारण ही वह अन्दर ही अन्दर छटता रहता है । बुद्धि जीवियों की यह आदत है कि अहं की वजह से वे मन की बातें किसी से नहीं कहते, पर अंदर ही अंदर छटपटाते हैं । अकुलाते हैं, द्वन्द्व में जीते हैं । कुमार कहता है -"कुछ बातें इतनी निजी होती है कि वह किसी दूसरे से उन्हें बांट सकता, लेकिन अपने आपके इस दु:खते अंश को खोलकर अपने सामने भी नहीं ला सकता"[1] । वास्तव में इस ग्रंथी के कारण ही स्त्री-पुरुष के बीच संबन्धहीनता ऐसी विस्फोट स्थिति में पहुंच गयी है ।

रमेश बक्षी का "अठारह सूरज के पौधे"

"अठारह सूरज के पौधे" में मानव के अवमूल्यन का तथा अपने अस्तित्व को बनाये रखने के श्रम में टूटते, बिखरते व्यक्ति-मानव का त्रासद चित्र उभर आया है । यह उपन्यास इस सत्य को उद्भासित करता है कि आधुनिक मशीनी युग में मानव मशीन ही बने रहने केलिए अभिशप्त है और उससे उबरने की उसकी कोशिश सफल नहीं हो सकती ।

---

1. मोहन राकेश - अंतराल - पृ॰3।

चलती गाडी में "उसका" जन्म हुआ था । और ट्रेन की अनवरत छक्-छक् ध्वनि सुनते-सुनते वह बडा भी हो गया । ट्रेन की ध्वनि उसके सेहत के रग रग में खून-सी बहने लगी । लडके रहते उसकी ट्रेन बनकर खेलने की आदत थी । खेलते खेलते ट्रेन की छक-छक् ध्वनि के सामने वह भूल जाता था कि वह क्या है ? फिर जब डब्बे खुलते थे और जब शाम हो जाता था तब तो वह गाडी चलाया करता था और कई बार इतनी ज़ोर से सीटी बजाता था कि अण्णा {पिताजी} जाग जाते थे[1] । फिर बडे होने पर वह ट्रेन के साथ ही दौडने लगता है या वह स्वयं ट्रेन हो जाता है ।

बचपन में वह अण्णा के समान इजिन ड्राइवर बनने का सपना देखता था, लेकिन अण्णा के एक्सिडेंट होने के बाद अपना इरादा बदल देता है, पर अण्णा के ही इच्छानुसार पहले गुड्स क्लर्क और फिर चेकिंग इन्स्पेक्टर बनता है । फिर ट्रेन ही उसका घर बन जाता है । गाडी में ही खाना, सोना और पाखाना भी । {आखिर ट्रेन में ही तो उसने जन्म लिया था । फिरजब भी फार्म में "बर्थ प्लेस" का कालम देखते वक्त उसके दिमाग में एक ट्रेन सीटी देकर प्लाट फार्म छोड देती थी[2]"। } वर्षों बाद मृत्यु की अभीप्त्सा के साथ ऊपरी बर्थ पर लेटे लेटे वह सोचता भी है - "कभी में एक को एक में जोड्कर ट्रेन की बर्थ पर सोए काटी गयी रातों की लंबाई नापूं तो मेरी उम्र सत्रह साल की हो जाती है[3]"

एक बार उसके अफसर ने उससे पूछा था -"तुम बना सकते हो ऐसी मूर्ति, उस आदमी की जो मशीन का आदमी होगा[4]" तब से उसके मन में मशीनी आदमी बनाने की कोशिश चलती है । और जब भी उसे मशीनी आदमी की याद आती है तब उसके पिताजी अपने बैसाखियों के सहारे उसके सामने खडे हो

---

1. अठारह सूरज के पौधे - पृ.27
2. वही - पृ. 44
3. वही - पृ. 28
4. वही - पृ.23

जाते हैं । तो वह अण्णा के कटे हूए पैर में रेल का भारी पहिया लगा देता है । ..... अण्णा के शरीर पर वह रंग पोत देता है जो रेल के डब्बों पर पुता रहता है । फिर उनके दिल से एक पिस्टन-गियर लगाकर-शटाक्-शटशट की आवाज़ निकालता है, फिर अण्णा के पैर उठते हैं - छक्-छक् ।

वह अपने को ज़रूर मशीन ही समझता था । उसकी प्रेमिका कुरलेवाली लड़की चर्चगेट की भीड में खडे हुए उससे शिकायत करती है - "यहाँ तो ठीक से खडे रहना भी मुश्किल है" । वह बोलता है "अपने आप में खो जाओ तो कोई मुश्किल नहीं । लोग आस-पास से गुज़र जायेंगे" । लड़की पूछती है -"लेकिन कोई पत्थर है हम लोग" ? वह तुरंत जवाब देता है "पत्थर तो नहीं, मशीन जरूर है"[2] ।

अण्णा ने एक इंजिन ड्राइवर होने के हैसियत से ही पुत्र की जीवन-पटरी बदल देते हैं। पुत्र भी एक गाडी की इंजिन की तरह पिता द्वारा निर्देशित पटरी पकड़ता है । अण्णा उसे एक फूहड पत्नी और दहेज के रूप में भैंसे दिलवाते हैं । कुरलेवाली लड़की का नाम तक उसकी जीभ में नहीं आया था। लेकिन पत्नी के साथा वह निभ नहीं सकता । पति-पत्नी रेल की पटरी के समान समांतर चलने लगती हैं । वह अब जाता है और अपना घर (ट्रेन) वापस लौट आता है । चलती ट्रेन के साथ पठानकोट से कल्याण, बंबई से कल्याण और वापस, यों गाडी के साथ वह भी दौडने लगता है और गति पर बैठा हुआ आदमी गति पर बैठा हुआ चिंतक बन जाता है । कभी ऊपरी बर्थ पर लेटे लेटे मृत्यु की मधुर कल्पना करता रहताहै - "वही अनवरत छक्छक् तेजी होती जाये और मैं कभी न टूटनेवाली नींद में सो जाऊं । जिस गोद ने मुझे जन्म दिया उसी गोद में अपने आखिरी वक्त भी सोऊं"[3] ।

---

1. अठारह सूरज के पौधे - पृ.23
2. वही - पृ.64
3. वही - पृ. 8
4.

यों आधुनिक यंत्र-युग के विरोह में पडकर अवमूल्लित मानव-व्यक्तित्व की उज्ज्वल झांकी उपन्यास प्रस्तुत करता है ।

उषा प्रियवंदा का उपन्यास - रुकोगी नहीं राधिका

उषा प्रियंवदा ने इसमें नारी के स्वतंत्र-चेता मानस की अभिव्यक्ति दी है । उसने, अक्षय, मनीश डैन और राधिका का पापा आदि वीर-पुरुषों के संदर्भ में राधिका के विशिष्ट व्यक्तित्व का आकलन किया है । राधिका अपने जीवन के हर मोड पर स्वतंत्रता चाहती है, लेकिन इस दिशा में पहला आघात उसे पापा से ही प्राप्त होता है । राधिका विदेशी पत्रकार डैन को विवाह करके विदेश जाना चाहती है । लेकिन पापा प्रतिरोध करता है और राधिका पापा से अपने व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के लिए लडती है । आखिर "लीक पकडकर न चलना उसे पापा ने ही सिखाया था"[1] । राधिकापापा से खुलकर कहती है - "जो आप चाहते हैं, वही हमेशा क्यों हो ? क्या मेरी इच्छा कुछ भी नहीं है । मैं आपकी बेटी हूँ यह ठीक है, पर अब मैं बडी हो चुकी हूँ और मैं जो चाहूंगी वही करूंगी"[2] । राधिका पापा का अनुरोध अस्वीकृत कर डैन की पत्नी बनकर विदेश चली जाती है । लेकिन पिता के विशालकाय व्यक्तित्व का प्रभाव उस पर इस प्रकार हावी रहता हैकि जिन्दगी भर वह उससे उबर नहीं पाती और हर पल उससे संघर्ष करती रहती है ।

डैन से राधिका जो प्रतीक्षा करती थी, वह उसे नहीं मिली । शायद इसका दोष स्वयं राधिका पर है जिसका डैन उसे मुक्त करते वक्त सूचित करता है - "राधिका, तुम मुझमें अपना पिता ढूंढ रही थी, वही पिता जिसे त्रास देने केलिए तुम मेरे पास चली आयी थी"[3] । डैन भी अपनी पत्नी को छोडकर चले जाने की कठिनाहट, राधिका के माध्यम से धोना चाहता था । अपना

---

1. रुकेगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा - पृ.10
2. वही - पृ.49
3. वही - पृ.

खोया यौवन ढूंढ रहा था । लेकिन अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के कारण उसकी भी महत्वाकांक्षा पूरी नहीं होती ।

राधिका के व्यक्तित्व की विशिष्टता के संबंध में मनीश भी, दूसरे संदर्भ में व्यक्त करता है -"तुम पुरुष में प्रेमी या पति नहीं ढूंढती, पिता ढूंढती हो ।..... तुम जीवन में लंगर चाहती हो"[1] । और राधिका जब जीवन में सुरक्षा चाहती है, तो वह मनीश को ही चुन लेती है, अपने पिता को शाक देने के लिए क्योंकि पिता को पता है राधिका मनीश जैसे व्यक्ति को नहीं चुनेगी । यों अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए, पिता के प्रभाव को पूर्णत: छिटक देने के लिए, अक्षय का तिरस्कार कर वह "प्ले बाय" जैसे मनीश का हाथ पकड़ती है । पहले की तरह घर में रहने का, पिता का अनुरोध टाल देती है । क्योंकि वह स्वतंत्र है, परिपक्व भी, अपना जीवन और अपना भविष्य स्वयं गढ सकती है"[2]।

दूसरी बार

इसमें सेक्स के परिवेश में व्यक्ति-अस्तित्व तथा स्वतंत्रता को बनाये रखने की कोशिश का उन्मीलन हुआ है ।

इसके अनाम पुरुष और स्त्री बिंदु, संबन्ध-विच्छेद के बाद, दूसरी बार मुलाकात हो गयी है । मुलाकात के बाद पुरुष बेचैनी का अनुभव करता है । वह जानता है कि स्त्री का शरीर ही इस बेचैनी को अपने अंदर दुह सकता है । उसे स्त्री का शरीर पाना कोई कठिनाई की बात नहीं है । लेकिन उसे डर सालता है । अपने को दे देने का डर । अपने व्यक्तित्व के खोने का डर । यह उस बेचैनी से भी बडा है[3] ।

---

1. रुकोगी नहीं राधिका - उषा प्रियंवदा = पृ.
2. वही - पृ.116
3. दूसरी बार - श्रीकांतवर्मा - पृ.23-24

उसकी हमेशा यही चाह रही है कि कोई उसे न उघाडे । अगर निर्वसन होना है तो वह स्वयं अपने टाकें खोल सकता है, किसी और के दबाव में नहीं बल्कि स्वयं अपने दबाव में । दूसरे के दबाव से अधिक चिढ उसे और किसी चीज़ से नहीं । संबन्ध-विच्छेद के पहले बिन्दो ने हर बार उसे नंगा होने पर विवश किया था । इतना अधिक दबाव कि लगता था कि उसके कंधे टूट जायेंगे और वह पूरी तरह बिखर जाएगा । उसका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाएगा ।

उसे इस्तेमाल किये जाने का डॅर है । उसकी यही धारणा है कि सेक्स संबन्ध में व्यक्तित्व का हनन होता है । शायद बिन्दो की भी यही धारणा है । इसलिए उनके आत्मसमर्पण के क्षण या सेंक्स संबन्ध एक होड का रूप ले लेता है । एक दूसरे को नीचा दिखाने की होड । बिन्दों यहां तक अभिनय करती है कि उसके साथ संबन्ध में उसे "आर्गेज़म" नहीं होता और अपने मर्द को दु:खी बनाती है । यह संबन्ध विच्छेद का कारण बन जाता है ।

संबन्ध - विच्छेद के बाद मुलाकात होने पर दोनों अपने व्यक्तित्व को अपने में ही समेट रखने की कोशिश करते हैं । लेकिन परिस्थितियां उन्हें जबरदस्त खींच लाती हैं और अनचाहे ही एक दूसरे के जिस्म बांट लेते हैं । इससे पुरुष आत्मग्लानी से भर उठता है और उसे मिचली की अनुभूति होती है । स्त्री उसे अमर-बेल की तरह जकडी रहती है ।

निष्कर्ष

हिन्दी के कतिपय उपन्यासों में व्यक्ति के अस्तित्व तथा स्वतंत्रता बनाये रखने का सचेत प्रयत्न हुआ है ।

---

1. दूसरी बार - श्रीकांत वर्मा - पृ॰40
2. वही - पृ॰132

इसकी शुरूआत हुई हैं, शेखर एक जीवनी में । शेखर बचपन से ही अपने व्यक्तित्व तथा स्वतंत्रता का आकांक्षी रहा है । बालक शेखर का मन हर पल घर की घुटन-भरी स्थितियों तथा मां बाप के व्यवहार से संत्रस्त है तथा स्वतंत्रता की छटपटाहट से बेचैन रहता है । इतना कि वह स्वतंत्रता की आकांक्षा में मृत्यु तक चाहता है । शेखर का सारा जीवन अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को बनाये रखने की कोशिशों का सिलसिला रहा है । इसीलिए उसने सबसे पाना ही चाहा, देना नहीं । मूर्ति-पूजक की मांग की, उपासकों को ढूंढता रहा । और जीवन भर कभी किसी के पास कहने नहीं गया कि मैं दया का पात्र हूं, अपराधी हूं, मुझे क्षमा करो, मुझे तुम्हारी दासता स्वीकार है । उसकी सामाजिक-वृत्तियों में भी अपने व्यक्तित्व की विशिष्टताओं को उद्‌भासित करने का प्रयत्न ही है ।

शेखर एक जीवनी में व्यक्ति-अस्तित्व संबन्धी अनेक उक्तियां भी हैं जो अस्तित्ववादी दार्शनिक सूत्रों से हूबहू मिलती हैं ।

"नदी के द्वीप" में व्यक्ति-अस्तित्व संबन्धी अस्तित्ववादी चिंतन पूर्णत: अभिव्यक्त हुए हैं । व्यक्ति एक अद्वितीय इकाई है । आत्मनिष्ठता ही सत्य है । दिशा-निर्देशन हमारे भीतर का आलोक ही कर सकता है । जीवन तो वरण करने की एक लंबी कतार है । और स्वतंत्रता व्यक्ति-मानस की ही प्रवृत्ति है । व्यक्ति को दबाकर समाज का उभार असंभव है । व्यक्ति की यही इच्छा हैकि अपनी वैयक्तिकता को बनाये रखे । स्त्री पुरुष के अहं-विर्जन के उस आत्मसमर्पण के पल में भी उसकी यही चाह है ।

"अपने अपने अजनबी" में मृत्यु को वरण करने की स्वतंत्रता की सीमा के रूप में प्रस्तुत किया गया है । [सात्र की भी यही मान्यता है।] या हम जिंदगी भर वरण करने केलिए अभिशप्त है चाहे वह मृत्यु ही क्यों न हो । योके विषपान करके यही उद्‌घोषित करती है - "मैं ने चुन लिया, मृत्यु को चुन लिया" ।

मोहन राकेश के उपन्यासों का परिवेश पारिवारिक है । पात्र सब पारिवारिक घुटन से संत्रस्त हैं । सभी अपने व्यक्तित्व तथा स्वतंत्रता को बनाये रखने की कोशिशमें टूट कर बिखर जाते हैं । पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, कोई भी हो पूर्णत: आत्म-समर्पण या अहं विसर्जन के लिए तैयार नहीं । सभी को इस्तेमाल किये जाने का डर है । फलत: होती हैं - चीख-पुकार, टकराहट तथा बिखराव । "अंधेरे बंद कमरे" के हरबंस - नीलिमा इसका ज्वलंत उदाहरण हैं ।

"न आनेवाला कल" के मनोज की दिशाहीनता छटपटाहट, संदिग्धता तथा अकेलापन उसके अपने अस्तित्व को बनाये रखने की तीव्र आकांक्षा से उद्भूत हैं । उसके पारिवारिक जीवन की असफलता के मूल में पति-पत्नी दोनों की अहंभावना ही काम कर रही है । न आनेवाले कल के सभी पात्र अपने अहं की सुरक्षा के भावावेश में शुतुरमुर्ग की तरह अपने ही मन में सिर गढाये रहते हैं ।

"अंतराल" के श्यामा और कुमार की संबन्धहीनता के मूल में यही अहंभावना तथा अतीत में चिपटते रहने की बेबसी सक्रिय है ।

श्रीकांत वर्मा के "दूसरी बार" का अनाम पुरुष अपने व्यक्तित्व के ह्रास के भय में स्त्री से संबन्ध रखने केलिए हिचकता है तथा सारा सेक्स संबंध उसे मिचली की अनुभूति जैसी लगती है ।

"अठारह सूरज के पौधे" का अनाम पुरुष अपने व्यक्तित्व बनाये रखने में बिलकुल पराजित हो गया है । वह अपने नियता पिता का पूर्ण गुलाम है । इसलिए उसे सारी जिंदगी एब्सेर्ड लगती है ।

"रुकोगी नहीं राधिका" में राधिका का व्यक्तित्व उज्ज्वल है । उसकी जिदगी की सारी हरकतें पिता के विशालकाय व्यक्तित्व से मुक्त होने की अदम्य चाह से उद्भूत हैं ।

यों हिन्दी उपन्यासों में व्यक्ति-अस्तित्व तथा स्वतंत्रता को बनाये र के श्रम के साथ ही उससे उद्भूत समस्याओं की भी अभिव्यक्ति हुई है ।

पांचवां अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में विसंगति बोध

चवाँ अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में विसंगति (एब्सेर्ड) बोध

पूंजीवादी अर्थतंत्र द्वारा संचालित औद्योगिक समाज की निर्वासन-भावना उद्भूत "एब्सेर्ड बोध" को हिन्दी उपन्यासकारों ने अपने देश के परिवेश के कूल ही उजागरित किया है । इसके लिए उन्होंने भारतीय परिवार के ी-पुरुष संबन्धों को अपनाया । इनमें जो विघटन और अंतर्विरोध हैं, उनके ी परिप्रेक्ष्य में, उन्होंने व्यक्ति-मानव की समस्याओं का भी आकलन किया । रिवारिक घुटन, नगरीकरण और भीड भाड में वह कैसा अपने को खोया-खोया सूसता है, अपने अस्तित्व की रक्षा-हेतु वह कैसा बेबस और आतुर है, और गतियों की दुनिया में वह कैसा विवश है, इन सब का मर्मस्पर्शी चित्रण उनके न्यासों में हुआ है । आगे हम यह "एब्सेर्ड बोध" किस हद तक इन उपन्यासों में पाया है, इसका विश्लेषण करेंगे ।

य के उपन्यास - नदी के द्वीप

"नदी के द्वीप" की रेखा ने जीवन की विसंगति अपने पस-नस में जान ली । रेखा अत्यन्त रूपवती है । उसने शादी की थी, लेकिन उसे नारीत्व की भव्यक्ति के लिए थोडे ही अवसर मिले । पति की विकृत-रूचियों के कारण वह से अलग हो गयी । फिर बरसों तक अपनी आशाओं और आकांक्षाओं को दबोकर संयमित जीवन बिताती रही । अचानक एक दिन अपने परिचित चन्द्रमाधव के ध्यम से उसकी मुलाकात सुशिक्षित, उदार एवं सहृदय युवक डा॰ भुवन से होती है ।

पल भर के अंतराल में रेखा उससे आकर्षित होती है । यह आकर्षण प्रेम में बदल जाता है और वह पूर्ण आत्मसमर्पण की ओर बढता है । वह पहली बार भुवन की वजह से "फुलफिल्ड" होती है । फलत: वह गर्भवति होती है । सूचना पाकर भुवन शादी की बात कहता है । लेकिन रेखा इस प्रस्ताव को ठुकराती है । उसने अपने जीवन में अनेक धक्के खायी थीं । जीवन की निरर्थकता का एहसास कब से उसके मन में जम गया था । इसलिए ही रेखा भुवन के विवाह प्रस्ताव से मुंह मोड़ लेती है और अपने प्रेम का श्रेष्ठतम उपहार, "फुलफिलमेंट" के स्वर्गीय निमिष की अमूल्य भेंट - गर्भस्थ शिशु - को नष्ट करने का कटु निश्चय करती है । वह भुवन की अनुपस्थिति में गर्भपात के लिए दवा खाती है और अपने को असह्य वेदना में धकेल देती है । वह भुवन से कहती है - "नहीं सहा जाता भुवन । इसलिए नहीं कि कष्ट बहुत है, इसलिए कि ऐसी लडाई लडते - लडते थक गयी हूँ जो व्यर्थ है और जो अनिवार्यत: व्यर्थता में ही समाप्त हो सकती है । मान ही लो कि हम रह सकते - घर होता, संयुक्त जीवन होता, वह सर्जन बीनकार भी आता - फिर क्या ? मान लो कि मैं दस वर्ष बाद मरती हूँ - क्या उससे अच्छा नहीं कि अभी मर जाऊं ? या दस वर्ष बाद हम उदासीन अलग हो जायें - उससे हज़ार गुना अच्छा है, आज मर जाना" ।[1]

इस घटना के बाद भुवन और रेखा धीरे धीरे अलग होने लगते हैं । भुवन गोरा की ओर उन्मुख होता है । रेखा भुवन से अलग होकर संभवत: उसी की कल्याण कामना से या उसे पूर्ण-मुक्ति देने की अभिलाषा से डा॰ रमेश से शादी करती है । लेकिन रेखा इन बातों को गंभीर नहीं मानती क्योंकि उसके दिमाग में न जाने कबसे "एब्सेर्ड बोध" संपूर्ण रूप में समा गया था । वह भुवन को लिखती है - "यह क्या है भुवन ? बरसों में श्रीमति हेमचन्द्र कहलायी । उससे क्या अर्थ थे ? अब अगले महीने से श्रीमति रमेशचन्द्र कहलाऊंगी - उसके भी क्या अर्थ है ?

1॰ नदी के द्वीप - अज्ञेय - पृ॰240

कुछ अर्थ तो होंगे, अपने से कहती हूँ, पर क्या यह नहीं सोच पाती ..... मैं इतना ही सोच पाती हूँ कि मेरे लिए यह समूचा श्रीमतीत्व मिथ्या है"[1]।

भुवन ने एक बार रेखा से पूछा था - "रेखाजी आप को बालू के घर बनाना आते हैं ?" रेखा ने सहसा उत्तर दिया था - "भुवनजी और मैं ने ज़िन्दगी भर किया क्या है ?"[2] "एब्सेर्ड बोध" का इतना तीखा अहसास, इससे बढकर कैसे अभिव्यक्त हो सकता है ? रेखा अपनी ज़िन्दगी में सब कुछ खो चुकी है । उसका अपना कुछ नहीं रह गया है । भुवन पूछता है - "तुम सिर्फ कोटेशन बोल रही हो अपना कुछ नहीं कहोगी ? रेखा खोये स्वर में कहती है - "अपना क्या ? अपना क्या ? मैं सिर्फ कोटेशन बोलती हूँ, भुवन, क्योंकि मैं स्मृति में जा रही हूँ"[3]। रेखा की ज़िन्दगी में स्मृति मात्र रह गयी है । क्षणों के मंच पर नाचता स्मृति के वर्णोज्ज्वल कण मात्र ।

भुवन भी जीवन के इस "एब्सेर्ड बोध" से अभिभूत है । लेकिन उसका विश्वास है कि इस निरर्थक जीवन को हम सार्थक बना सकते हैं । "फुलफिलमेंट" का वह क्षण उसके लिए मानसिक और शारीरिक रूप में चरम तृप्ति का क्षण है । उसे वह बासी और निरर्थक जीवन को सार्थक बनाने का निमित्त समझता है - "तो क्या यही "फुलफिलमेंट" नहीं है कि कोई किसी को वह चरम अनुभूति दे सके । देने का निमित्त बन सके - जो जीवन की निरर्थकता को सहसा सार्थक बना देती है"[4]।

इस एब्सेर्ड बोध की अनुभूति के कारण ही नदी के द्वीप के पात्र क्षण में जीते हैं । क्षण की अमूल्यता और अमरत्व अपने मन में समेटकर जिन्दगी भर जीते हैं ।

---

1. नदी के द्वीप - अज्ञेय - पृ.314
2. वही पृ.118
3. वही पृ.158
4. वही पृ.160

"मानवता के सागर में प्रत्येक क्षण एक द्वीप है । खासकर व्यक्ति और व्यक्ति के संपर्क का प्रत्येक क्षण - अपरिचय के महासागर में एक छोटा, किंतु मूल्यवान द्वीप"[1]। रेखा और भुवन "फुलफिलमेंट" के उस क्षण को पवित्र और सनातन मानते हैं । वह क्षण संपूर्ण है और नैतिक मूल्यों से निरपेक्ष है । रेखा क्षणों में ही जीती है । वह पूर्णत: टूट चुकी है । उसके आगे रास्ता बिलकुल नहीं है । एक बार एक पुरुष ने उसके हृदय को खोला था, फिर बन्द कर दिया । दूसरी बार दूसरे ने खोला और दीवार खडी कर दी । तीसरे ने फिर खोला है पर वह मन को समझाने का रास्ता भी नहीं है । वह एक पडाव है, जहां वह अब बैठ गयी है । जीवन का अंतिम पडाव"[2] । उसने भविष्य मानना छोड दिया है । भविष्य हुआ ही नहीं । निरंतर वर्तमान ही है । जिन्दगी पानी के फव्वारे पर टिकी हुई गेंद सा है । क्षणों की धारा पर उछलता हुआ - जब तक धारा है तब तक वह सुरक्षित, सुस्थापित, नहीं तो पानी पर टिके होने से अधिक बेपाया क्या चीज़ होगी[3] ? भुवन को भी भविष्य में कोई आस्था नहीं है । उसने भी भविष्य मानना छोड दिया है । वह गौरा से कह रहा है - "यों तो भविष्य की बात ही नहीं सोचनी चाहिए । वर्तमान ही सबकुछ है, भविष्य केवल उसका एक प्रस्फुटन"[4] ।

अपने अपने अजनबी

"नदी के द्वीप" की रेखा "एब्सेर्ड बोध" के एहसास से मृत्यु - साक्षात्कार केलिए संयोगवश धीरज दिखाती है तो अपने अपने अजनबी के पात्र एब्सेर्ड बोध की चरम स्थिति में मृत्यु को सहर्ष स्वीकार करते हैं । हमने पहले ही सूचित किया है कि कामू की राय में विसंगति बोध से राहत पाने की एक राह है, आत्महत्या । बाढ के कारण टूटे हुए पुल से जलप्रवाह की ओर कूछकर फोटोग्राफर आत्मघात करता है उसे सेल्मा से पीने का पानी भी नहीं मिला थी । वह हताश हो बाढ का पानी

---

1. नदी के द्वीप - अज्ञेय - पृ.110
2.
3. वही पृ. 50
4. वही पृ.206

पीकर, पेचिश का शिकार होकर पुल से पागल की तरह छलांग मारता है और यों अपनी जिन्दगी की अर्थहीनता को सार्थक बनाता है ।

बर्फ के नीचे काठ-घर में फंस जाते ही वृद्धा सेलमा इस सत्य से अवगत होती है कि उसका अंत वही होगा क्योंकि वह वृद्धा है और केंसर से पीड़ित है । लेकिन युक्ती योके को बच जाने की प्रतीक्षा है । फिर भी उसे संदेह है कि क्योंकि विसंगति बोध की छाया उसके चारों ओर मंडरा रही है और इसी की वजह से वह अपनी जिन्दगी को केंसर मानती चल रही है । वह सोचती है "क्या सेलमा की प्रतीक्षा और मेरी प्रतीक्षा इसलिए भिन्न है कि उसे केंसर है और मुझे नहीं है या कि भिन्न इसी बात में है कि उसके पास क्या कारण की संगति है और मेरे पास वह भी नहीं है ? क्या मैं ज्यादा लाचार, ज्यादा इयनीय - ज्यादा मरी हुई नहीं हूँ ? क्या मुझे ही ज्यादा केंसर नहीं है - यह केंसर जिसे हम ज़िन्दगी कहतेगहैं" ।

आखिर थोके आत्मघात करती है । वह जिस प्रेमी को याद करके बर्फ की कैद को भूलती थी, वही प्रेमी छुटकारा पाने के बाद उसका तिरस्कार करता है, क्योंकि बर्फ की कोठरी से मुक्त युक्ती थोके को जर्मन सैनिकों ने अपनी वासना का शिकार बनाया था । थोके मरना चाहती है । लेकिन उसे एक अच्छे आदमी की तलाश है । मरते वक्त उसे एक सहारा चाहिए । उसकी इच्छा की पूर्ति करते हुए, युद्ध के आतंक से ग्रस्त शहर में, अजनबियों की भीड से आस्मान के फरिश्ते के समान आ जाता है, जगन्नाथन् । थोके उसकी बाहों में लाश बनकर गिर जाती है । यों जिन्दगी को केंसर माननेवाली थोके अपने विसंगति - बोध से राहत पाती है ।

---

1. अपने अपने अजनबी - अज्ञेय - पृ·58

एब्सेर्ड बोध के ही संघटक अजनबीपन और अकेलापन की समस्या पर भी "अपने अपने अजनबी" में विशेष ध्यान दिया गया है । इस उपन्यास के सभी पात्र एक दूसरे से अजनबी हैं । सेलमा की सारी जिन्दगी अजनबीपन की घुटन से भर गयी है । टूटे पुल पर एक साथ रहते हुए भी सेलमा के यान और फोटोग्राफर से अजनबी सा व्यवहार, सेलमा के पास पानी होते हुए भी फोटोग्राफर को न देना, दुगने दाम पर भूखे यान को गोश्त बेचना अजनबी ढंग से उसकी पत्नी बनकर तीन बच्चों को जन्म देना, फिर अपने बच्चों को तराई में छोड़कर पहाड़ों पर बने काठ घर में अकेलापन का जीवन बिताना, योके से अजनबी सा व्यवहार करना, और आखिर मृत्यु का आलिंगन करना, आदि सेलमा के जीवन की सारी घटनाओं और आचरणों में यह दृष्टव्य है ।

बर्फ से घिरे काठ घर में योके संयोगवश ही आ पड़ती है । उसे सेलमा का अजनबी सा व्यवहार खटकती है । इसको वह सूचित भी करती है - "मैं ने तो अजनबी डर की बात कह गयी - अभी तो हम तुम भी अजनबी से हैं, पहले हम ल ोग पूरी पहचान कर लें"[1] । लेकिन सेलमा नहीं जानती । उसका चरित्र आगे भी रहस्यमय बना रहता है । योके इस रहस्य को समझने के लिए कितनी आतुर है, यह उसके कथन से ही स्पष्ट है - "कभी कभी उसको देखते देखते, मेरा अपरिचय का भाव इतना घना हो जाता है कि मेरा मन होता है, उसके कंधे पकड़कर उसे झकझोर दूं और पूछूँ - तुम कौन हो"[2] ? साथ रहते हुए भी यह अजनबीपन इतना गहरा हो जाता है कि योके एकदम सेलमा को गला घोंटकर मारना चाहती है, लेकिन अकेलापन के झेलने के भय से विलग होती है[3] । इन दोनों की कर्म पद्धति तथा भाव विचारों में भी अजनबीपन का प्रभाव है । दोनों अंत तक आपस में अजनबी ही रहती है । योके इस त्रासद विचार से संत्रस्त है कि "वह जानती है और जानकर मरती हुई, भी जिए पा रही है और मैं हूँ कि जीती हुई भी मर रही हूँ और मरना चाह रही हूँ"[4] ।

---

1. अपने अपने अजनबी - अज्ञेय - पृ.16
2. वही पृ.24
3. वही पृ.34
4. वही पृ.35

थोके और उसके प्रेमी के संबंधों में भी इसी अजनबीपन की विषमता तथा विडंबना ध्वनित हुई हैं । थोके के लिए प्रेमी पाल अजनबी बना रहता है । हिम केद के प्रारंभ में वह सोचती है कि पाल तो रह नहीं सकेगा - ज़रूर उसे ढूंढ ही निकालेगा - पाल जो कहा करता है कि तुम दुनियां के किसी भी कोने में होती तो मैं तुम्हें खोज निकालता, लाखों करोडों में मैं तुरंत पहचान लेता[1] । लेकिन कुछ ही दिनों के बाद उसके मन में संदेह होता है - "कहीं पाल भी क्रिसमस मना रहा होगा - कहां किसके साथ ····· क्या वह भी इस समय मुझे याद करेगा - मुझे जिसके साथ ही मैं अकेले होना आया था"[2] । सेलमा की मृत्यु के बाद हिम केद में ही पाल उसके लिए अजनबी हो[3] उठता है और हिम-केद से मुक्ति के बाद जब वह दुर्भाग्यवश जर्मन सैनिकों के बलात्कार का शिकार होती है तो पाल अजनबी सिद्ध भी होता है - वह उसे नहीं स्वीकारता । हताश थोके आत्महत्या करती है ।

अजनबीपन की व्यापकता दिखाने के लिए अज्ञेय ने उपन्यास की समाप्ति के कुछ ही पूर्व एक दारुण दृश्य की सृष्टि की है । दूकान के बाहर सौदा खरीदने के लिए जो भीड उन्होंने दिखायी है, उसमें तत्कालीन यूरोपीय परिवेश में व्याप्त अजनबीपन की अनुभूति हम महसूस कर सकते हैं - "भीड बहुत थीं, लेकिन प्रतियोगी भाव के अलावा भी भीड में जब अकेले थे ····· अजनबी चेहरे, अजनबी आवाज़े, अजनबी मुद्रायें और वह अजनबीपन केवल एक दूसरे को दूर रखकर उससे बचने का नहीं है

1· अपने अपने अजनबी - अज्ञेय - पृ·15

2· वही पृ·32

3· वही पृ·113

बल्कि एक दूसरे से, संपर्क स्थापित करने की असमर्थता भी है - जातियों और संस्कारों का अजनबीपन जीवन के मूल्यों का अजनबीपन"[1]।

मोहन राकेश के उपन्यास -।- अंधेरे बंद कमरे

अंधेरे बंद कमरे के मुख्य पात्र हैं, नीलिमा और हरबंस । मुख्य पात्र न होते हुए भी मधुसूदन का आकर्षक व्यक्तित्व है और ऐसा लगता है कि वही इस एब्सेर्ड दुनिया की सारी विद्रूपता साथ लेकर चलता है, उसकी सारी धक्के झेलता है । उसका सारा जीवन एक बंद कमरा है । उसमें वह हर पल घुटता रहता है । लेकिन यह घुटन बंद कमरे तक सीमित नहीं है बल्कि हर जगह कुहरे की तरह छायी है । उसे सारी जिन्दगी उलझी हुई लगती है और यह उलझन धुंध के गोले की तरह जिन्दगी के हर मोड पर उसे टकराता रहता है । वह यह भी महसूस्ता है कि उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है । उसका अस्तित्व दूसरों में समाविष्ट है । वह महज एक डायरी है जिसमें "हरबंस और नीलिमा अपने अन्तर्द्वन्द्व, अपनी समस्यायें लिख जाते हैं"[3]। फलत: वह न हरबंस बन पाता है और न नीलिमा । वह हर पल भटकता रहता है - कभी गलियों में, कभी सड्कों पर और कभी कस्साबपु की बस्ती में । वह अलग अलग लोगों के बीच जीता है - ठकुराइन से लेकर पोलिटिकल सेक्रटरी तक और निम्मा से लेकर सुषमा श्रीवास्तव तक । वह संगति ढूंढता है - ओखला में घूमती लडकियों की आंखों में, आकाश में उड्ती चीलों की फड्फडाहट में, अपने, खुश्क होंठों में और नीलिमा के जमीन खरोंचते पैरों में । और वह महसूसता है कि ज़िन्दगी का स्वर, काफी हाऊसों की चहचहाहट नहीं है, कोलतार पर चिलकते पहियों का रौंदना नहीं है बल्कि रात के वक्त शीशे का जग टूट जाने का स्वर है, दरवाज़े पर दी जानेवाली दस्तक का स्वर है ।

1 अपने अपने अजनबी - अज्ञेय - पृ.104.

2. अपने अपने अजनबी - अज्ञेय - पृ.118

3. मोहन राकेश - परिवेश पृ. 152

इसी स्वर को पकड़ने और आत्मसात् करने के लिए ही वह आखिर कस्साबपुरा निकल जाता है ।

मधुसूदन की यह नियति है कि उसे जिन्दगी में जो कुछ भी मिलता है - पैसा, प्यार या सम्मान - सिर्फ छोटे छोटे टुकड़ों के रूप में ही मिलता है । कभी भी कुछ भी भरपूर पा लेने का एहसास उसे नहीं है । सुषमा की बाहों में अपने को खो देने के पलों में भी सहसा एक चुभन उसे साल जाती है जिससे उसे अंदर और बाहर सब कुछ पथराया हुआ लगता है और सड़क, खंभे, तारे और आकाश सब उसके लिए एक कब्रिस्तान की तरह हो जाते हैं । यह नियति सिर्फ मधुसूदन की नहीं है बल्कि आधुनिक समाज के विसंगत परिवेश में जीनेवाले लाखों करोड़ों व्यक्तियों की भी है ।

मधुसूदन की अपनी कोई दुनिया नहीं है । वह दो दुनियाओं के बीच जीता है - एक दुनिया निम्मा और ठकुराइन की है और दूसरी हरबंश और नीलिमा की । शायद उसकी दुनिया इनके बीच कहीं हो सकती है । मधुसूदन इन दोनों से अपने को अलग नहीं कर सकता । यही उसके जीवन की विसंगति है । यही उसके व्यक्तित्व की मजबूरी है । राकेश ने कहा है कि यही मज़बूरी इस उपन्यास के लिखे जाने की मुख्य प्रेरणा थी[1] ।

राकेश ने "अँधेरे बंद कमरे" में आधुनिक जीवन की विषमताओं और विसंगतियों से उत्पन्न विघटनों को अत्यन्त संवेद्य रूप में प्रस्तुत किया है । एब्सेर्ड परिस्थितियों में पड़कर राकेश के पात्र कुछ "होने" या "पाने" की तीव्र आकांक्षा रखते हैं, लेकिन यह आकांक्षा पूरी नहीं होती । उनके पात्र पाते नहीं बल्कि सब कुछ खोते हैं । फलत: जिन्दगी भर छटपटाहट और घुटन ही हाथ लगती है ।

---

1. मोहन राकेश - परिवेश - पृ.153

नीलिमा और हरबंस पत्नी-पति है । दोनों शिक्षित बुद्धिजीवी हैं । दोनों कुछ "कर गुज़रना" चाहते हैं । हरबंस एक सफल उपन्यासकार बनने के सपने संजोए रहता है । नीलिमा को सफल नर्तकी बनने की आकांक्षा है । अपनी आकांक्षाओं को संजोए साथ जीते-जीते दोनों महसूस करते हैं कि कहीं कुछ खिसक गया है । उनके बीच खालीपन का फासला है । हरबंस अनुभव करता है - "मेरे अंदर कहीं एक खालीपन है जो धीरे धीरे इतना बढता जा रहा है कि मेरे व्यक्तित्व के सभी कोमल रेशे झड़ते जा रहे हैं"[1] । नीलिमा भी यह महसूस करती है और हरबंस को समझाती भी है - "हम दोनों के बीच कहीं कोई चीज़ है जो हम दोनों को कहीं खटकती रहती है । हम दोनों चेष्टा करके भी उसे अपने बीच से निकल नहीं पाते"[2] । फल यह होता है कि दोनों साथ साथ चलते भी दूर भागते हैं - समानांतर चलती रेल पटरियों सी ।

हरबंस इस घुटन के वातावरण से भागना चाहता है, पर वह नहीं जानता कि कहां जाना है ? क्यों जाना है ? किस ओर किस उद्देश्य से जाना है ? वह विदेश जाने के विषय में कहता है - "इरादा कुछ भी नहीं" । फिर धीरे से आंख झपकाकर बोलता है - "सिर्फ जा रहा हूँ"[3] । ऐसा लगता है, "वह कोई मशीन हो, किसी ने चाबी दे दी और वह आटमाटिकली चल पडा ····· पहले तेज़ी से ····· पर स्पृश ढीले होते ही उसकी चाल धीमी होती गयी, वह रुक गया और खिसटने लगा"[4] । हरबंस की छटपटाहट समाप्त नहीं होती । वह अंधेरे बंद कमरों में उजाले की राह की खोज में जिन्दगी भर भटकता रहता है - "मैं तब से अब तक निरंतर अंधेरे में भटक रहा हूँ । मुझे किसी भी तरह उजाले का कोई मार्ग नज़र नहीं आता । मुझे लगता है जैसे मैं काल कोठरी में बंद हूँ और जीवन भर के लिए इस काल कोठरी में बंद रहकर हाथ पैर पटकते जाना है"[5] ।

---

1. मोहन राकेश - अंधेर बंद कमरे - पृ·62
2. वही पृ· २१५
3. वही पृ·92
4. वही पृ·147
5. अंधेरे बंद कमरे पृ· २१४-२१५

नीलिमा अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व चाहती है । नर्तकी बनने की धुन में अपने पति के बनाये कटघरे को भी वह तोडना चाहती है । दोनों में वह सफल होती भी है, लेकिन उसकी आकांक्षा पूरी नहीं होती । उसे किसी और की तलाश है । उसने एक बार कहीं थी - "विवाहित जीवन में दो व्यक्तियों का शारीरिक संबन्ध ही कुछ नहीं होता । हम लोग पति-पत्नी हैं, किंतु पति-पत्नी में जो चीज़ होती है हम में कब की समाप्त हो चुकी है"[1] । शायद इस समाप्त हो जानेवाली चीज़ की तलाश में वह बर्मी कलाकार ऊबानु के साथ कुछ दिन रहती है । मानसिक रूप में वह ऊबानु के निकट आ गयी थी, वह चाहती तो उसे स्वीकार करके पेरिस में जिन्दगी गुजर सकती थी, लेकिन न जाने क्यों हरबंस की याद उसे भारत खींच ले आती है । वह हरबंस से कहती भी है - "मैं तुम से अलग रहना चाहती थी, परंतु जब मैं हवाई जहाज़ में बैठी तो मुझे पता चला कि मैं तुम्हें छोड्कर नहीं रह सकती"[2] । यह कैसी विडंबना है कि वह हरबंस के साथ भी नहीं रह सकती, हरबंस के बिना भी नहीं रह सकती ।

"अंधेरे बंद कमरे" के सभी पात्र अजनबीपन तथा आत्मनिर्वासन के भी शिकार हैं । नौ साल के बाद दिल्ली लौटने पर मधुसूदन महसूस करता है कि उसके लिए नगर बिलकुल नया और अपरिचित है । वह कहता है - "जिन लोगों के यहां कभी मेरा उठना - बैठना था, उनमें से कोई एक तो अब बिलकुल ही नहीं पहचान पाते थे, उनके नयन-नक्शा भी वही थे, मगर चेहरे के आस-पास की हवा बिलकुल और हो गयी थी"[3] । मधुसूदन नीलिमा की बहिन शुक्ला से प्रेम करता है । लेकिन उस प्रेम को न तो व्यक्त कर सकता है और न पूरी तरह महसूस कर सकता है । फिर वह सुषमा से प्रेम करता है, जुड्कर भी न जुड्ने की प्रक्रिया से गुजरता है और आखिर असफल होकर ठकुराइन की पुत्री में अपना पडाव डालता है ।

---

1. अंधेरे बंद कमरे - मोहन राकेश - पृ.529
2. वही पृ.731
3. वही पृ. ।।

मानवीय संबन्धों की निरर्थकता में जीते इबादत अली अपने अजनबीपन को सितार के तार के झंकार से दूर करने का असफल प्रयत्न करता है । हरबंस, नीलिमा और मित्रों के साथ रहते हुए भी अपने को अजनबी सा महसूस करता है । उसका मन खोया खोया रहता है । वह कुछ नहीं कर पाता । एक अजीब बेबसी में उसका जीवन रेंगता रहता है । वह मधुसूदन से कहता है - "समझ में नहीं आता, मैं क्या चाहता हूँ । बहुत कुछ ऐसा होता है जो मैं शिद्दत के साथ महसूस करता हूँ मगर हिन्दी में लिखना चाहता हूँ तो लगता है, अंग्रेज़ी में लिखना चाहिए । अंग्रेज़ी में लिखने लगता हूँ तो महसूस होता है कि उस जुबान के मुहावरे का मुझे पता नहीं है । एक अजीब बेबसी सी महसूस होती है । मेरा मन जैसे शिकंजे में फंसा है जो मेरी किसी भी कोशिश से नहीं हट पाता । यह भी समझ में नहीं आता कि मैं लिखना ही चाहता हूँ या कुछ और चाहता हूँ"[1] । उसकी अनिर्णय की स्थिति उसे निरर्थकता की चरम सीमा में पहुंचा देती है, उसे पागल बनाती है और शराब पीने के लिए विवश करती है ।

नीलिमा आत्म-निर्वासन का भी शिकार है । इसकी वजह से वह जिन्दगी से भी ऊब जाती है और विवश हो अंदर ही अंदर खीझती रहती है । इससे हरबंस और नीलिमा के बीच का तनाव और अलगाव बढते हैं और इनका जाल लंदन से लंदन से लेकर भारत तक छाया रहता है । दोनों के बीच बनती अलगाव की दीवार को उनका बेटा अरूण तक नहीं ढो पाता । बाबा और मम्मी के रात-दिन के चख-चख से राहत पाने के लिए वह शुक्ला मौसी के पास रहना चाहता है ।

दिल्ली का प्रख्यात पत्रकार सुषमा अकेलापन के बोझ से छुटकारा पाने के लिए किसी के साथ जुडने को छटपटाती है । पत्रकारिता की व्यस्त ज़िन्दगी में प्यार की सार्थकता, पलों के लिए है । एक क्षण का प्यार दूसरे क्षण में बदल जाता है

---

1. अंधेरे बंद कमरे - मोहन राकेश - पृ. 38

सुषमा इस स्नेहहीनता और ऊब की दुनिया से उतरना चाहती है - एक अपना छोटा घर बनाकर । लेकिन क्या सुषमा इसमें सफल होती है ? नहीं ।

न आनेवाला कल

"न आनेवाला कल" में विसंगति बोध से उद्भूत विवशता, और त्रासद हो जाती है । इसमें अनेक पात्र हैं, और वे थोडी देर के लिए आकर जीवन के प्रति असंतोष और ऊब व्यक्त करके चले जाते हैं । वे सब एक पहाडी स्कूल के परिवेश में जीते हुए भी इतने अकेले हैं, और अपने संकुचित दायरे में इतने सीमित रहते हैं कि अपने अकेलापन के सिवा उन्हें किसी और का पता ही नहीं है । वे अपने आप में विवश हैं ।

उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं मनोज - जो पहाडी स्कूल का अध्यापक हैं - और उसकी पत्नी शोभा । हरबंस और नीलिमा की तुलना में इनका संबन्ध गहरा नहीं है । पति पत्नी के बीच खुल्लम - खुल्ला संघर्ष भी नहीं है, लेकिन तनाव अवश्य है । इसका कारण उनकी अपनी अतीत की जिन्दगी है । उनके बीच एक तीसरे की उपस्थिति है । शोभा का मनोज से पुनर्विवाह है । शोभा को अपने पहले पति से कोई सुख नहीं मिला था । दूसरी शादी से भी उसकी कामना पूरी नहीं होती । जीवन की रिक्तता और अकेलापन की वजह से, मनोज के साथ थोडे दिनों का उसका परिचय शादी में परिणत हो जाता है । अत: उनकी शादी में कोई गंभीरता नहीं थी । शोभा यह व्यक्त भी करती है "मुझे घर की जिन्दगी के बगैर अपने आप बहुत अधूरा लगता था । इसलिए मैं ने यह कदम उठाया था"[1] । वह मनोज के साथ रहती है तो अतीत उसे दबोचता है ।

---

1. न आनेवाला कल - पृ. 21.

उसका मन खोयी हुई ज़िन्दगी में कहीं विलीन हो जाता है । दूर रहती है तो एब्सेर्ड बोध उसे खा जाता है । यों वह रात-दिन विवश हो छटपटाती रहती है ।

शोभा और मनोज के मन में घुटन और उदासी घिरी रहती हैं । शोभा समझती है कि वह किसी अकेले आदमी का घर संभाल रही है और मनोज समझता है कि शोभा किसी दूसरे की पत्नी है जिसके घर में वह एक बेतुके मेहमान की तरह टिका था[1] । दोनों एक दूसरे से जहां तक हो सके, दूर रहते हैं । केवल एक ही बार मनोज को शोभा का ख्याल आता है जब एक बार भोजन के लिए उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है तो वह सोचता है - "अगर शोभा घर पर होती तो इस फालतूपन से बचाया जा सकता था"[2] । अत: दोनों ने वैवाहिक जीवन के जैसा जीवन एक भी दिन नहीं जिया ।

मनोज छुटकारा पाना चाहता है । मगर किससे ? इसका पता उसे भी नहीं है । वह कह रहा है - "कुछ था जिससे मैं छुटकारा पाना चाहता था । उस कुछ का दबाव शोभा के आने के पहले भी था, शोभा के साथ रहते हुए भी था, अब भी है । लेकिन यह कुछ क्या है ?"[3] आखिर शोभा उसे छुटकारा देती है । उस औपचारिक जिन्दगी से ऊबकर वह अपने स्वर्गीय पति के घर चली जाती है । लेकिन मनोज घुटन से उभर नहीं पाता । विसंगतिबोध की दारूण यंत्रणा, वह झेलता रहता है । शोभा के जाने के बाद वह बॉनी से संबन्ध जोड़ता है । लेकिन दोनों अलग अलग कटघरे में बंद रहते हैं । बॉनी किसी का बोझ सह नहीं सकती, साथ ही साथ किसी का गुलाम बनना भी वह पसंद नहीं करती । विडंबना की बात है कि वह भी अकेलापन का शिकार है । वह स्वयं कहती है

---

1. न आनेवाला कल - पृ.208
2. वही पृ.103
3. वही पृ. 29

"मैं नहीं चाहती कि किसी भी आदमी का मुझ पर इतना अधिकार हो कि मैं उसके बिना जी ही न सकूं । किसी भी आदमी के साथ घर बसाकर रहने की बात से मुझे शुरू से ही चिढ रही है । पर कई बार ऐसा भी लगता है कि मेरा मन जो इतना भटकता है, उसका वास्तविक कारण मेरा अकेलापन ही है[1]" । मनोज का आखिरी पडाव है - चपरासी फकीरों की पत्नी काशनी । दमघोंट एब्सेर्ड बोध और प्रतिशोध को तोडने की आखिरी कोशिशके रूप में मनोज काशनी से शरीरिक संबंन्ध स्थापित करना चाहता है - "एक ही झटके में स्कूल से शोभा से और आस-पास के सब चीज़ों से एक तरह का प्रतिशोध लेने का सुख प्राप्त कर सकता था....[2]" लेकिन मनोज असमर्थ निकलता है ।

पारिवारिक परिवेश का यह घुटन मनोज स्कूल में भी महसूस करता है । मनोज ही नहीं बाकी सभी अध्यापक इससे अभिभूत हैं । मनोज त्यागपत्र देता है । लेकिन वह स्वयं नहीं जानता उसने क्यों त्याग पत्र दिया ? शायद यह प्रवृत्ति घुटन से बचने का उपाय हो सकता है । लेकिन जिस वातावरण से वह भागना चाहता है उसका मोह उसे अंत तक सालता रहता है । स्कूल के परिवेश की छोटी-छोटी अनुभूतियां उससे जकडी रहती हैं, वह उनसे उभर नहीं पाता । शायद इसकी वजह से ही वह विदा लेने आयी काशनी से अप्रत्याशित कर्म कर बैठता है ।

असल में मनोज की सारी जिन्दगी एक उलझन है । उसके सारे प्रयत्न इस उजझन को सुलझाने की चेष्टा है । लेकिन वह सुलझता ही नहीं, सिवा इसके कि सुलझे हुए धागे में एक गांठ और पड जाती है[3] । और वह महसूसता है कि "हिन्दी मास्टर के रूप में जिन्दगी मेरी अपनी नहीं थी । शोभा के पति के रूप में भी जिन्दगी अपनी जिन्दगी नहीं थी । उसे लेकर कुछ करना था । लेकिन क्या और उससे कुछ हासिल हो सकता था । लेकिन ....[4]" ।

---

1. न आनेवाले कल - पृ.14।
2. वही - पृ.137-138
3. वही - पृ. 12
4. वही - पृ. 30

यही अनिश्चयात्मक बोझ लिए वह ज़िन्दगी भर छटपटाता रहता है । यह अनिश्चयात्मकता एब्सेर्ड बोध की ही देन है ।

अंतराल

"अंतराल" में एब्सेर्ड बोध की खुली छूट मिलती है । विवशता अपनी सीमा पर पहुंच जाती है । परिणामत: संबन्धों का फासला बढ जाता है, जीवन अकेलापन में घिसते घिसते नदारद हो जाता है ।

अंतराल के श्यामा और कुमार पत्नी पति नहीं हैं । लेकिन एक हद तक हमसफर हैं । दोनों का अपना अतीत है । श्यामा दो वर्ष अपने पति देव के साथ रही थी । इन दो वर्षों में उसके शरीर में सिलवटें आयीं, लेकिन उसके मन से कभी प्यार की गूंज नहीं गूंज उठी । उसकी मृत्यु के बाद श्यामा ने अपनी पढाई ज़ारी रखी और प्रोफसर कुमार की घनिष्ठता में आयी । कुमार के जीवन में लता को न पा सकने के कारण एक अभाव था । दोनों का अभाव भाव में बदल जाता है । लेकिन दोनों स्त्री-पुरुष के बीच शारीरिक संबन्धों के अतिरिक्त कुछ और खोजते हैं । दोनों संबन्धों को बिना नाम दिए उसमें से सब कुछ पा लेने की आकांक्षा रखते हैं । कुमार जानता है कि शारीरिक आकर्षण से हटकर एक और आकर्षण होता है, व्यक्तित्व का चुंबक आकर्षण जो शारीरिक आकर्षण से कहीं अधिक मन को खींचता है[1] । लेकिन कुमार एक पल के आवेश में, श्यामा को बाहुपाश में बांध लेना चाहता है, पर श्यामा छिटककर अलग हो जाती है । वास्तव में श्यामा भी कुमार के साथ जीना चाहती है । "उपलब्धि का क्षण" पाना चाहती है । अपनी जगह सही होने के विश्वास से वह किसी भी परिस्थिति को जीतना चाहती है, कुमार की उपस्थिति को भी । अत: कुमार के प्रति

---

1. मोहन राकेश - अंतराल - पृ. 31 (राजपाल एण्ड सन्ज कश्मीरी गेट, दिल्ली, सं. 1970

शारीरिक और आंतरिक आकांक्षा उसके मन में जागरित होती तो है, लेकिन एक ओर उसका अहं, और दूसरी ओर यह प्रश्न कि शारीरिक आकांक्षा की तृप्ति सचमुच एक तृप्ति होगी या निराशा, ? अपने आप उससे भर जाएगा या और खाली महसूस होगा, ? इन सब के कारण वह कुमार के बाहुपाश से छिटक जाती है । जो भी हो यह घटना दोनों में प्यार के नाम पर गहरी वितृष्णा उत्पन्न कर देती है । श्यामा कुमार को छोड़कर चली जाती है, लेकिन कुमार के मोह से वह उभर नहीं सकी । वह कुमार को लिखती है - "मैं जा तो रही हूँ, पर यह मत सोचना कि तुम्हारा तिरस्कार करके या जो भी संबन्ध था उसे तोड़कर जा रही हूँ । हो सकता है कि फिर तुम्हें आने के लिए लिखूं, पर अबकी आना तो ऐसी वैसी बात सोचकर मत आना" ।

श्यामा का बिछुड़न कुमार के विसंगत जीवन को और विसंगत करता है । वह पूर्णत: खोखला बन जाता है । वह दूसरी शादी करता है । लेकिन वह संबन्ध छ: महीने भी नहीं रहा । वह उसे तोड़ता है और अनुभव करता है - यह जिन्दगी जानवरों से भी बदत्तर नहीं कि जिसे आदमी अंदर से नफरत करे, उसके साथ एक ही घर में बंधा रहे । झूठे रिश्ते को निभाने से बेहतर है कि आदमी मशीन की तरह काम करे और नींद आने तक किसी न किसी शोर में मन को डुबाये रखे"[2] । कुमार के माध्यम से लेखक यही कहना चाहता है कि वह कृत्रिम समझौते और रेंगती या ढोये जानेवाले रिश्तों को नहीं मानता । आज के सामाजिक जीवन में विघटन है, मूल्यहीनता है, तो इसमें जीता हुआ जीवन क्या एब्सेर्ड नहीं है ? जहां जीवन की निरर्थकता का अहसास है वहां क्या जीवन की असलियत रहेगी ? संबन्धों की दृढता रहेगी ? उत्तर विलोम है । आदमी सिर्फ यह महसूस करेगा कि जिन्दगी है, इसलिए जीना ही है । वह इस जीवन को ढोने के लिए विवश है, विकल है । यह आधुनिक जीवन की नियति है । कुमार आधुनिक मानव का प्रतिनिधि है ।

---

1. मोहन राकेश - अंतराल - पृ.217
2. वही - पृ.204

निर्मल वर्मा का उपन्यास - वे दिन

"वे दिन" का परिवेश यूरोपीय है । परिप्रेक्ष्य में युद्ध की विभीषिका है । वातावरण युद्धोपरांत मोहभंग और जिजिविषा से सना है । हर व्यक्ति के रग रग में एब्सेर्ड बोध स्पन्दित है । यह युद्ध की परिणति है । इस बोध ने उन्हें नवीन अनुभूतियां और संवेदनायें दी हैं । उन्हें अतीत से कटकर, भविष्य से निर्मुक्त होकर वर्तमान में, वह भी वर्तमान के क्षण में जीने को बाध्य कर दिया है । इसलिए ही वियन्ना से अपने पुत्र के साथ प्राग आयी रायना, दो दिन की आत्मीयता से भावुक होकर, अपने को पूर्णत: अपने इन्टरप्रेटर को समर्पित कर देती है । समर्पण के क्षणों में इन्टरप्रेटर रायना से पूछता है - "क्या तुम्हारे संग अक्सर ऐसा होता है, दूसरे शहरों में" । रायना जवाब देती है - "हां होता है, मैं ज्यादा दिन अकेली नहीं रह सकती"[1] । इस प्रकार के संबन्धों में परिचय अपरिचय का कोई महत्व नहीं । रायना कहती है - "हम एक दूसरे के बारे में कितना कम जानते हैं । तुम्हें यह बुरा लगता है, कम जानना । नहीं मुझे यह कम भी ज्यादा लगता है । हम उतना ही जानते हैं, जितना ठीक है"[2] । अत: मानवीय संबन्धों में कोई गहराई नहीं रह गयी है । इसके बदले उसमें एक प्रकार का लिजलिजापन है । समर्पण के बाद रायना अपने देश बेफिक्र लौट जाती है । विदा लेते समय वह भाव-विभोर नहीं होती । उसमें एक प्रकार की तटस्थता है ।

फ्रान्ज़ और मारिया प्रेमी - प्रेमिका हैं । फ्रान्ज़ चला जा रहा है । मारिया को साथ जाने के लिए "विज़ा" नहीं मिल रहा है । विज़ा मिलना है तो उनके बीच विवाह होना है । लेकिन फ्रान्ज़ को संदेह है । वह भारतीय छात्र (इन्टरप्रेटर) से यह प्रकट करता है - "तुम सोचते हो, क्या वह विज़ा के लिए मेरे साथ विवाह करेगी ?" छात्र पूछता है - "तुम साथ रहते हो" । फ्रान्ज़ का जवाब है - हम सिर्फ साथ रहते हैं"[3] ।

---

1. निर्मल वर्मा - वे दिन - पृ. 104
2. वही - पृ.135-36
3. वही - पृ. 64

यह कैसी विडंबना है कि टी·टी· की माँ अपने विवाह के लिए नौजवान पुत्र से अनुमति माँग रही है । टी·टी· शराब पीना चाहता है, अकेले नहीं, किसी के संग क्योंकि माँ की शादी के दिन अकेले पीना महज़ अच्छा नहीं ।

यों सारा संबन्ध आकस्मिक हैं । उनका कोई विशेष अर्थ नहीं । यह जिन्दगी तक एब्सेर्ड या निरर्थक है । यह इतनी हल्की घटना है जितनी कि हम दरवाज़ा खटखटाते हैं, और दरवाज़ा खोली जाती है । शाम को सेंट लॉरन्तो के सामने रायना की प्रतीक्षा करते हुए इन्टरप्रेटर सोचता है - "तुम बहुत से दरवाज़े खटखटाते हो, खोलते हो - और उनके परे कुछ नहीं होता, ज़िन्दगी भर" ।[1]

"वे दिन" में अकेलापन, अजनबीपन तथा आत्मनिर्वासन की अनुभूति घनी तथा व्यापक है । रायना अकेली है । पर वह अधिक दिन तक अकेली नहीं रह सकती । इसलिए हर शहर में वह निर्वासित होती है । उसे आत्मीय संकेतों की खोज है । टी·टी· की माँ अकेलापन की बेबसी से बचने के लिए बडी उम्र में भी ब्याह करना चाहती है । भारतीय छात्र को टी·टी· को अकेले छोड्ते हुए दु:ख होता है क्योंकि टी·टी· उन लोगों में से है, जिन्हें पीछे अकेला छोड्ते समय हमेशा एक भय जकड लेता है[2] । होटल, बार, पहाड्यां और उन पर यदा कदा सिमटकर पास आते हुए कुछ अपरिचित चेहरे इस एकाकीपन में अपनेपन का क्षण भले ही पैदा कर देते हैं किंतु अंतत: ओढना पड्ता है एकाकीपन को ही । टूरिस्ट हो, गाइड हो, विद्यार्थी हो सभी के साथ यही सूनापन है । सभी के चेहरे उदास, मनहूस, भावहीन और तटस्थ जैसे जिन्दगी व्यर्थ हो गयी हो ।

1· निर्मला वर्मा - वे दिन - पृ·208

2· वही - पृ·103

प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के लिए अजनबी है । सभी के अवचेतन मन अकेलापन के बोझ से भारी हैं । भारतीय विद्यार्थी का फ्रान्ज़, मारिया और टी·टी· से संबन्ध है । लेकिन इनके संबन्ध की आत्मीयता यहां तक सीमित है कि इसके बारे में वह स्वयं कहता है - "हम सिर्फ एक दूसरे को इतनी सीमा तक जानने लगे थे जहां यह पता चल जाता है कि तुम दूसरे की मदद नहीं कर सकते"[1] । एक दोपहर की वीरानी में वह सोचने लगता है - "फ्रान्ज़ के बारे में । वह अपने कमरे में होगा, पियानो के आगे । मारिया के बारे में जो अपने कमरे से बाहर हैं, टी·टी· के बारे में जो कहीं नहीं जा सकता । तब मैं ठिठक जाता हूँ, उस एक दोपहर में हम कितने अलग है"[2] । और अकेलापन के इस घोर अंधेरे में रायना और वह लगभग टटोलते हुए एक दूसरे के हाथ पकड लेते हैं - संवेदना, आश्वासन सुख और संतोष की लहर उनके बीच प्रवाहित होती है और वे फिर अलग हो जाते हैं । अपने अपने अंधेरे में खो जाते हैं[3] । अजनबीपन में परिचय की क्षणिक पकड, जिसे छुडाना कठिन होता है, किन्तु जो अनजाने अनचाहे अपने आप छूट जाती हैं ।

"वे दिन" का भारतीय छात्र आत्मनिर्वासित भी है । वह अजनबीपन की अनुभूति आदमी और आदमी के बीच भी नहीं बल्कि अपने शरीर से भी महसूस करता है । वह अपनी नंगी देह छूकर कहता है - "पहले क्षण कभी विश्वास नहीं होता, यह मेरी देह है । मैं उन्हें छूता हूँ । मुझे तब अपनी ही छुवन अपनी देह से अलग जान पडती है, जैसे मेरी देह के कुछ अंग खुली रोशनी में दूसरे अंगों को प्यार कर रहे हैं और मैं इनके बाहर महज़ एक दर्शक हूँ"[4] ।

1· निर्मल वर्मा - वे दिन - पृ·57-58

2· वही - पृ·160

3· वही - पृ·207

4· वही - पृ· 147

"वे दिन" में अजनबीपन इतना गहरा है कि पात्रोंके बीच कोई गहनतम संबन्ध जुड़ता ही नहीं है । सबका अपना अपना मतलब है । रायना अपने पति से अलग रहती है, इसलिए है कि उसके साथ का जीवन "कॉनसेन्ट्रशन कैंप" के जीवन-सा है । वह सुख की खोज में वियन्ना से प्राग आयी है । दो दिन के लिए उसे एक साथी चाहिए । इन्टरप्रेटर के रूप में उसे एक नौजवान भारतीय छात्र मिलता है । विदाई के पहले वह उसे भोगती है और बेफिक्र चली जाती है । आधुनिक जीवन की यह विडंबना है कि यहाँ किसी को किसी की सच्ची ज़रूरत ही नहीं है ।

यों "वे दिन" में जीवन घिसट रहा है, लड़खड़ाते हुए चल रहा है । प्रत्येक पात्र के मन में जीवन की आस्था टूट गयी है, बस क्षण में जीने की अनुभूति रह गयी है । इस अनुभूति के केन्द्र में एब्सेर्ड बोध की तीखी वेदनामयी चुभन है ।

कमलेश्वर का "डाक बंगला"

कमलेश्वर ने "डाक बंगला" में नारी जीवन की विसंगतियों को गहराई से आत्मसात् करके अभिव्यक्ति दी है । डाक-बंगला सुन्दरी इला की अर्थहीन भटकनों की कहानी है । इलाने स्वयं कहा है - "मैं चिर पथिक हूँ। मेरा पड़ाव कहीं भी नहीं है"[1] ।

कमलेश्वर ने जिन्दगी की तुलना एक डाक बंगले से की है -"हर जिन्दगी एक डाक बंगला है"[2] । ऐसा लगता है कि लेखक इसको इरा की

---

1. कमलेश्वर - डाक बंगला - पृ.29
2. वही - पृ.23

ज़िन्दगी के द्वारा सार्थक बनाना चाहते हैं । इरा की सारी जिन्दगी डाक बंगले सा बेगान और उदास थी । "कितने अपने और बेगान होते हैं डाक बंगले । मुसाफिर आते हैं और चले जाते हैं । आड़ू का वह डाक बंगला कितना उदास होगा इस वक्त[1] । इरा की भी यही स्थिति थी । उसके जीवन रूपी डाक बंगले में सुस्ताने के लिए न जाने कितने आये - विमला, बतरा, सोलंकी, डाक्टर, तिलक आदि - लेकिन सब उसे बेगानापन की दीन-दशा में छोड़कर चले गये । इनमें केवल विमल को दिल से वह चाहती थी । बाकी सबसे प्यार का नाटक रची । इरा की जिन्दगी अधूरी थी । उसे पूर्ण बनाने की लालसा उसमें समा गयी थी । इसलिए हर बार अपने पिछले जीवन को अपने से काटकर फेंक देती है, नया लिबास पहनती है, लेकिन पूर्णत्व प्राप्त नहीं होता, बल्कि पुरानी प्रवंचना भरी जिन्दगी दुहराने लगती है । आखिर उसे हाथ आते हैं अकेलापन और नीरवता । "अंधेरा है, घुटन है, लेकिन कोई आवाज़ नहीं है, और कोई भी ऐसा नहीं है जिसे आवाज़ दें"[2] ।

इरा की मम्मी नहीं थी । पिताजी दौरे पर रहते थे । इसलिए इरा नौकरानियों के हाथों पली । पंद्रह-सोलह साल की उम्र में कितने राजकुमार उसे सपनों में पसीना पसीना करने लगे थे । वह सोचती थी कोई राजकुमार आयेगा और रंग भरी दुनिया के एकांत में ले जाएगा । एक नया संसार उसके सामने होगा और उसमें मुक्त विहार करेगी । हर हम उम्र का लड़का उसे राजकुमार लगता था । वह उसके सपने बुनती थी । नीलाकाश की गहराइयों से वह उतर आता था और वह फूलों से सजी उसका स्वागत करती थी । लेकिन राजकुमार की यह प्रतीक्षा धीरे धीरे असहायता और भीषणता में बदल जाती है । इरा के चारों ओर कुंठित और प्यासे लोग घूमने लगते हैं । उसे ऐसा कोई नहीं मिला जिससे दिल खोलकर आधा घंटा बात कर सके ।

---

1. कमलेश्वर - डाक बंगला - पृ. 29
2. वही - पृ.122

आखिर उसे एक मिलता है - कालेज का हमसफर कलाकार विमल । विमल के साथ संबन्ध रखने के कारण वह परिवार से कट जाती है । फिर आर्थिक संकट उसे विमल से बतरा के पास पहुंचता है । किसी महत्वाकांक्षा की खोज में वह संबन्ध तोड़कर चन्द्रमोहन के पास जाती है । उस पागल को भी वह प्यार करती है । उसकी मृत्यु के बाद वह तिलक और सोलंकी के संपर्क में आती है । और उसकी जिन्दगी में सभी के साथ बिना प्यार के भी वह सब कुछ होता चला गया जो एक पुरुष और स्त्री के बीच होता है । लेकिन हर बार इरा की यही आकांक्षा थी कि कोई उसके सारे खामियों के साथ जीवन भर उसे साथ देगा । पर ऐसा नहीं हुआ । वह बार-बार अकेली रह गयी । वह तिलक से कहती है - "बडे गहरे गहरे घाव लगे हैं, मुझे । और इन घावों में खून चट्टानों की तरह जम गया है । आज मैं उन खूनी चट्टानों पर किसी को भी सुला सकती हूँ"[1] ।

ऐसा लगता है कि इरा ने अपने जीवन की इस नियति को आत्म-स्वीकृति दी है । अब वह अकेली है । लेकिन उसकी आत्मा का कोना कोना यादों से भरा है । आंखों में हर वक्त उस व्यक्ति की तस्वीर है जिसके साथ उसने थोडे से भी दिन गुज़ारे हैं । वह सोचती है - "आवाज़ों में अकेलापन का दर्द न होता तो कितनी बेमानी और सूनी होती यह दुनिया । अकेलापन के दर्द में झिलमिलाती यादें न होतीं तो यह दुनिया कितनी उदास और खामोश होती"[2] ।

बतरा भी अकेलापन की घुटन से बेबस है और इससे राहत पाने के लिए वह शीला और इरा से संबन्ध रखता है । वह इरा से कहता है - "मेरा मन भीतर भीतर रोता है, मुझे कहीं भी चैन नहीं मिलता और उस अकेलापन में जब

---

1. कमलेश्वर - डाक बंगला - पृ. 31
2. वही - पृ. 41

मैं घबराता हूँ तो रिकार्ड सुनता हूँ और "गोड" को आवाज़ लगता हूँ । मेरा अकेलापन दोहरा है । एक परत मेरी है और दूसरी परत शीला की । उन दोनों परतों के बीच मेरा दम घुटता है" ।

शीला की भी यह कैसी निरर्थक जिन्दगी है कि वह आदमियों की बीबी बनकर रहती है, जब तक वे चाहते हैं तब तक, और फिर अपने घर लौट जाती है, कुछ दिन बाद फिर आ जाती है । वह हर घर में बीवी का नक़ाब लगाकर रहती है और हर घर का इतना ध्यान रखती है जितना कि बीवियां भी नहीं रख सकतीं ।

यों डाक बंगले के पात्रों का निरंतर सहते जाने का जीवन है । ऐसा लगता है, उन्होंने जीवन की इस विसंगति को आत्मस्वीकृति दी है ।

- क्रमशः

मणि मधुकर का "सफेद मेमने"

बियावान की दमघोंट खामोशी को अपने में समेटे, "दुनिया से कितना कटा हुआ" नेगिया गांव मनहूस पडा है । परिवेश मायूसी से घिरा है । इन मायूसी की परतों को उघाड़ते हुए कुछ "मेमने" सांस ले रहे हैं । इनकी गाथा है "सफेद मेमने" । बियावान के सांय सांय में इनके निर्वासन बोध और अकेलापन गहरे हो गये हैं ।

पोस्टमास्टर रामतौर की पत्नी बन्ना रेगिस्तान के एकान्त में अकेली है । "वह छुटपन से बातूनी थी, व्यस्त और घनिष्ठ होकर बोलने की आदी थी । लेकिन रेगिस्तान की इस मनहूसियत ने उसकी छलछलाहट को सोख लिया था । कभी कभी उसमें ख्वाहिश जागती थी कि समूचे, शुष्क, नीरस और बंजर माहौल पर एक उमंग-भरी नदी की तरह उमड चले, पर तभी उसकी नज़रें अपने आसपास कुछ खोजने लगती थी - नदी, कहां है वह नदी ? उसके अंतरंग में तो नहीं है"[1] ? वह कभी सूख गयी है । पति रामतौर के साथ उसका संबन्ध भी कभी टूट गया था । पति-पत्नी का संबन्ध इस हद तक पहुंच गया है कि बन्ना महसूस करती है कि वह रामतौर की जिन्दगी से जितना प्यार करती है, उतना उसकी मौत से । दोनों के बीच फर्क करना या कोई विभाजन-रेखा खींच देना उसके बस की बात नहीं है[2] ।

बन्ना जब युवती थी, मामी ने उसे सैंतालीस के दंगों की कहानी सुनायी थी, जिन्होंने बन्ना के मां-बाप और भाई को सदा के लिए मिटा दिया था । "किस तरह से बाप की आंखें फोड दी गयीं, किस तरह भाई की चमडी को उबलते हुए आलू की तरह छीला गया, कैसे, आठ नौ जनों ने मां की नंगी

---

1. सफेद मेमने - पृ.83-84
2. वही - पृ.76

देह को रौंदा, स्तनों घुंडियां उतार लीं, और कूल्हों के बीच में मिरची का चूरा भर दिया - सुनते हुए बन्ना बेहोश-सी हो गयी थी"[1]। इसकी वजह से अपने शरीर के लिए उसके अन्दर का सुख भरा आकर्षण कभी बुझ गया था और जब रामतौर से उसकी शादी हुई तो वह एक निस्संग, बेजुबान हरकत भर रह गयी थी। रामतौर ने बन्ना की निष्क्रियता महसूस की थी। लेकिन वह स्वयं नपुंसक था। उसकी कमी की एहसास को बन्ना की निष्क्रियता ने एक निरर्थक उसास की ओर जोड दिया। उसने तय कर लिया कि वह बन्ना के मौन को नहीं तोडेगा, उसकी निष्क्रियता में खलल नहीं डालेगा, जो कुछ मिलता है उसीको लेकर सन्तुष्ट हो जाएगा[2]। और वह अपना बोरियत काटने के लिए कभी गलहारियों को दाना चुगाता है तो कभी हिरणों के शिकार के लिए चला जाता है

बन्ना अकेले रहते चुप्पी का खूंखार हमला सह लेती है। वह किसीसे दो लफ्ज़ कहने के लिए तरसती है। इस दमघोंट वातावरण में रहते उसके जी में आता है कि वह अपने आपको गेंद की भांति आसमान में उछाल दे, और इन तमाम स्थितियों के बीच से तीर की तरह निकल जाए जिनके होने से वह असुविधा महसूस करती है[3]। इस अकेलापन से छुटकारा पाने वह अम्मल खाने लगती है। हर तीसरे चौथे रोज़ मिनिया अपने ताऊ की बुगची में से उसके लिए अम्मल की गांठ ले आता है। अम्मल की आत्मविभोर सृष्टि में रस बस कर वह संपूर्ण हो जाती है। और इसी अकेलापन की वजह से ही वह सन्तों जैसे खतरनाक व्यक्ति से संबन्ध रखती है, उसके बीज को अपने पेट में पालती है और अपनी इस बात का समर्थन कर दिखाती है कि हर औरत किसी न किसी स्तर पर रेंडी होने के लिए विवश है।

---

1. सफेद मेमने - पृ.81
2. वही - पृ.81
3. वही - पृ.83

भानमल जो पहले नागपुर में एक पत्र का नगर संवाद दाता था, अब नेगिया गाँव में पशुओं का डाक्टर है । मकान में कुलमिलाकर ग्यारह कोठरियाँ हैं जिनमें से एक में डाक्टर रहता है, शेष में जानवर । चिकित्सालय में सिर्फ वही है और कोई नहीं । वह और जानवर । और उनके अकेलापन के साथी हैं लोहे के पतली छडों के फ्रेम में चिपकायी फिल्मी सुन्दरियाँ । कभी कभी उसके अकेलापन को तोडने कोई चिड्या किंवाड की पाटी पर बैठकर चू चू करने लगती है डाक्टर उसे भगाता है । फिर सहसा घिर आये अकेलापन के संकट से बचने के लिए वह खिड्की के सहारे खडे होकर बाहर ड्बरे लिए हुए आयी डोकरी के कमर तक घाघरा उठाकर हगने की प्रवृत्ति ताकता रहता है । कभी पोस्ट-मास्टर के यहाँ जाकर बन्ना की चिकनी, मांसल सेहतें की मधुरिमा आंखों से पीता है और उसकी कूल्हों की गोलाइयों से सटकर रहते, ताश खेलता रहता है । और एक बार यों पिछले कई सालों से झेलते आ रहे अकेलापन और तन की गरमी से मुक्त होने वह "नस उठ जाने से" त्रस्त भैंस के साथ लग्गी करता है । यों पागल भीमा के शब्दों में "गंदी" बन जाता है ।

बूढे सखे डाक खाने का चपरासी है । वह दफ्तर में ही रहता है । उसने कभी व्याह नहीं किया, न गृहस्थी जमाई, न घर की कोई दन्द-फन्द किया ज़िन्दगी भर अकेला और अपने में सिमटा - सिमटा रहा । लेकिन अवश्य उसका एक स्त्री से संबन्ध हुआ था । कभी वह डाकिया था । डाक देने उसे घर घर जाना पडता था । एक बार पाउडर से भी ज्यादा सफेदवाली एक औरत (गोली) से लग्गी करके उसने अपने नसों का तनाव ढीला कर दिया । वह किसी की चेहती थी, इसलिए छोड आया । उसका एक लड्का हुआ । वही सन्तों है जो दशहरे के मेले में गाबासी के आठ जाट लोगों पर बन्दूक दाग दी, एक जाटणी को उठाकर ले आया । एक बार औरत का लालच देकर उसने इष्टदेव भैरवी के लिए एक पुरुष की बलि भी दी । ऐसे क्रूर बेटे का, जिसे अपने पिता का भी पता नहीं है, पिता होकर सखे एकरसता की वही जिन्दगी जी रहा है, सालों से

और वह महसूस करता है कि नेगिया गांव का भी यही हाल रहेगा । वह भीमा से कह रहा है - "तीस साल हो या तीन साल । क्या फर्क पड़ेगा । इसी ठाँड जीना, मरना । यहां का हाल तो बदलेगा नहीं" । इस अकेलापन का उसका एकमात्र सहारा डाकिया जस्सू है । उनके बीच बाप-बेटे की आत्मीयता है । जस्सू के साथ उसकी बोलचाल इतनी घनिष्ठ है कि दोनों किसी से कुछ छुपाते नहीं । लेकिन सुरजा के बिछोह के बाद जस्सू बिलकुल बदल जाता है । दोनों का रिश्ता चरमरा जाता है । उसकी नींव तक हिलकर अव्यवस्थित हो जाती है । खखे फिर अकेला हो जाता है । और जब वह जानता है कि सन्तो का बच्चा बन्ना के पेट में पल रहा है तो तीव्र उत्तेजना को सह नहीं पाता, घुटनों में सिर दबाकर बैठ जाता है ।

यों "रेत के इन दूहों में रहनेवाले सभी लोगों का जीवन बांस की फटी खपच्चियों की तरह है । उन्होंने अपने आपको निरीह मोरचंगों की शक्ल में बांध लिया है और सूखी धुनें निकाल रहे हैं । वे धुनें आपस में टकराती हैं, घुलती हैं, बिखरती हैं, पर ऊपर से कुछ महसूस नहीं होता । लगता है, सब ठीक है । लेकिन अंदर ही अंदर धुनें जल रही हैं । मोरचंगा धुआं दे रहे हैं । क्या जस्सू, क्या डाक्टर, क्या पोस्टमास्टर, क्या बन्ना, और क्या खखे सब मोरचंग हैं, एक दूसरे को बजा रहे हैं । जो कितना हलाल होता है वह उतना तेज़ बजता है । छुटके मिन्निया से लेकर बुढ्ढे खखे तक यही विवशता का संबन्ध है, और कोई धर्म या गठबंधन नहीं है"[2] ।

इस प्रकार जीवन का निरर्थकता बोध अपनी संपूर्णता के साथ "सफेद मेमने" में उभर आया है । सायं सायं बियावान में सांस ले रहे ये जीव आदमी नहीं हैं, ये सिर्फ मेमने हैं - अपनी बेबसी में और माहौल की मायूसी में मिमियाते मेमने ।

---

1. सफेद मेमने - पृ.100
2. वही - पृ.110

रमेश बक्षी का "अठारह सूरज के पौधे"

"अठारह सूरज के पौधे" भीड, शोर और भागम भागम के बीच उलझे हुए मशीनी आदमी की त्रासद एवं विसंगत जिन्दगी का, बंबई की फास्ट-डबल फास्ट जिन्दगी और फास्ट-डबल फास्ट से लगातार चलती बेशुमार रेल गाड्यिों के सहारे उन्मीलन करने का प्रयास है ।

"उसका" जन्म हुआ था, चलती ट्रेन में । ट्रेन की छक् छक् आवाज़ के साथ और ज़ोर से "लियाअं - लियाअं" करता उसने ट्रेन की आवाज़ से बाजी लगायी थी । और उस अनवरत छक् छक् ध्वनि के साथ ही वह बडा हो गया था । जब वह रेल पर चलते अण्णा (पिता) और अक्का (मां) से लगातार प्रश्न पूछने लगते हैं - अण्णा, ये पटरियां किसने डालीं ? अक्का इस रेल से छक् छक् आवाज़ क्यों होती है ?, तो अण्णा चश्मे को नीचे नाक पर उतारते ऐसे घूरकर देखते हैं कि वह डर जाता है । यह डर जारी रहता है । यदि वह रेल के खेल से घर लौटता है, स्लेट लेकर अगर बैठता है, अगर रात चुपचाप दूध पी लेता है, अगर जल्दी जग जाता है तो केवल अण्णा के डर से, अण्णा के नाक पर उतरे चश्मे के डर से[1] । उसकी ज़िन्दगी के हर मोड पर अण्णा के नाक पर से उतरे यह चश्मा अनजाने ही राहगीर बन जाता है और उसकी जिन्दगी की पटरी को बदलता रहता है । वह कालेज में पढना चाहता है, लेकिन अण्णा चश्मे को नाक पर नीचे उतारकर बोलते हैं - "तुम चले जाओ ट्रेनिंग में"[2] । वह ट्रेनिंग में चला जाता है, गुड्स क्लर्क बनता है, और थोडे समय के अंतराल में टी·टी·आर· बनकर बंबई आ जाता है । वहां ट्रेन उसका घर बन जाता है, चलती ट्रेन में ही खाना, खाना ही नहीं, सोना, नहानां और पाखाना भी ।

1· अठारह सूरज के पधे - पृ·6, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1965

2· वही - पृ·33

चलती ट्रेन में ही कुरलेवाली लड्की से उसकी मुलाकात हो गयी थी । एक दिन कुरले स्टेशन पर, चलती ट्रेन के गेट के धक्के पर एक आवाज़ आयी थी - "प्लीज़ हेल्प मी" । वह धक्के में घुसा और उस आवाज़ को अंदर ले लिया । लड्की पसीना - पसीना हो गयी थी । उसके एक हाथ में डब्बा था और दूसरे में कोई फाइल । दो हाथ (संगमरमर) का, और बीच में जलता दीपक । दीपक की ज्वाला से उसका दिल प्रज्वलित हो गया था । और फिर उस लड्की से वह लगातार भीड में मिलता रहता है । भीड में ही मिलता है क्योंकि भीड में कोई दो बातें करते दिखाई देते हैं तो लोग समझेंगे कि दो यात्री हैं, भाई कर रहे होंगे बातें । कोई संदेह नहीं करेगा । एक दिन वे गेट - वे ओफ इण्ड्या के "दिलदार" में बैठे, समुद्र की ओर पीठ किये आती हुई कारें देख रहे थे । उसके ट्रेन में ही सप्ताह भर रहने की बात पर वह हँसती है और उस हंसी हंसी में उसके कंधे पर हाथ भी रख देती है । असल में उसने हाथ ही नहीं रखा, हल्के से अपने नज़दीक भी खींच लिया था । उसे अण्णा का डर लग आया और उसके हाथ नीचे उतार दिया । और बाद में कितनी बार रेल-गाडी छक् छक् करती चली गयी और उनकी मुलाकातें भी होती गयीं । हर दिन रात वह याद करता रहता है कि वह कब कहां मिली है और किन किन सीढियों पर पैर रखती उसके नज़दीक आ गयी है, उसे हमेशा यही लगता रहता कि वे उसी लांच में बैठे हैं, ज़ोर ज़ोर से भड भड शोर हो रहा है, वह उसके सामने बैठी है और वह बोल रहा है - "देखो, हम अब इतने परिचित हो गये हैं, एक दूसरे की, किसी फॉर्मेलिटी की भी ज़रूरत नहीं रही अब । कल तुम दादा से साफ साफ कह देना कि हम दोनों शादी करना चाहते हैं - जैसे सहसा लांच की आवाज़ थम गयी है और उसे लग रहा है कि अण्णा बैसाखी पर अपने आपको साधे, गेट वे पर खडे होकर उसे घूर रहे हैं - चश्मे को नाक से उतारे हुए"[1] ।

---

1. अठारह सूरज के पौधे - पृ. 7।

इस प्रेम के बीच ही उसकी शादी होती है, अण्णा द्वारा चुनी गयी लड्की से । कुरलेवाली लड्की की बात तक उसकी जीभ में नहीं आ पायी थी । जेलगांव में उसकी शादी हो रही थी, वह चाह रहा था जल्दी से जल्दी सब गुज़र जायें । जैसे किसी दुर्गन्ध के पास से हम नाक पर रुमाल लिये तेज़ी से गुज़र जाते हैं - वैसे ही सब कुछ था। उसकी पत्नी ने जेलगांव के सिवा कुछ और नहीं देखा था । वह कभी कहीं नहीं गयी थी । वह भैंसों के अलावा किसी को अगर जानती थी तो साई बाबा को । शादी के बाद चौथी या पांचवीं रात क ो वह उसे बाहों में भरकर करीब खींच रहा था, पत्नी ने खुश होकर सारा भार पीछे की ओर छोड दिया था । न वह संभल पायी और न वह संभल सका । वह गिरकर बोली थी कि क्या कभी दूध नहीं पिया ? यही वाक्य काफी था । उसने उसके दिल को कांटे की तरह कचोट दिया । वह सोलह हाथ की साडी पहनती थी जिससे उसे अक्का की याद आती थी । वह सरसों का तेल सिर में लगाती थी जिससे उसकी नींद खराब हो जाती थी । बार बार उसकी अनमने भाव से और पडोसी भाउ के कहने से पत्नी ने मान रखा था कि उसने पहले किसीको दिल दे दिया है । हर दिन पत्नी इस बात पर तुनककर बोलती थी और झगडा हो जाता था । इसके बीच कुरलेवाली लड्की से वह मिल चुका था । लड्की ने उसके जमाये तीन सौ रुपये वापस दिये थे । वह कुछ कहने को तैयार हो गया था, इतने में वह चली गयी थी । और उससे कहता भी क्या यह कि "अण्णा ने मेरी पटरी बदल दी है और जबरन शादी कर दी और मेरी बीवी फूहड हैं और उसका बाप भैंस ले आया है"[1] । फिर एक बार ट्रेन उसका घर बन जाता है और जब वह (पत्नीके) घर जाने की बात सोचता है तो भाउ की हंसी सुनायी देती है, सरसों के तेल की बदबू आ जाती है, किसी भैंस को गोबर करते देखता है, पत्नी को फिर सोलह हाथ की साडी पहने देखकर मछलियों का ख्याल आ जाता है और वह कदम लौटा

---

1. अठारह सूरज के पौधे - पृ.94

देता है । और वापस ट्रेन में बैठ जाता है । ट्रेन में ही सारी रात सोता है, ट्रेन में ही सारा दिन काटता है, सारे पुराने क्रम दुहराता है, खूब खाना खाता है, और खिड़की से लगकर शीश गिराये बैठे बैठे गुजरते हुए नदी-पहाड पेड पौधे खेत खलिहान देखता रहता है ।

और यों एक दिन वह भाग जाता है । वह अंधेरे में आँखें मूंदे भाग रहा था । यह भाग जाने की इच्छा बरसों से उसके मन में सोयी पडी थी । अण्णा ने चश्मा नाक पर नीचे उतारकर ट्रेन में डाँटा था तब, गुड्स की ट्रेनिंग - पर भेजा गया था तब, कर्नाक ब्रिज पर अनलोडिंग करवाता था तब, रामवाडी के "इ" ब्लाकवाले बरामदे में पैताने कुत्ते को देखकर खाट पर सोता था तब, पूणे में जब कुरलेवाली लड़की के दादा से मिला था तब, पत्नी ने सोलह हाथ की साडी पहनी थी तब, उसके बालों से सरसों के तेल की बदबू आयी थी तब - उसने भाग जाना चाहा था, लेकिन पटरी नहीं मिली थी । और भागकर वह पठानकोट आ जाता है । वहां पर्दे की उन गुडियों से उसकी मुलाकात होती है जो यह दावा करती हैं कि हम उन सबसे बडी हैं जिनको छोड़कर आप आये हैं या जिन तक आप जाना चाहते हैं । सब उजाले में, पर्दे के बाहर उनके मरहम लगे जांघों का घिनौनापन और कभी साफ नहीं किये जानेवाले सार्वजनिक पेशाब घर जैसे वातावरण का अहसास उसे होता है तब वह पत्नी के पास वापस भाग आता है, लेकिन दम तोड़ता है कुरलेवाली लड़की की कोठरी में आकर । अब वह कहीं भाग जाना नहीं चाहता । भागते - भागते वह थक गया है । आंधी और ओले और धूल और कोयले से परेशान हो गया है । कुरलेवाली लड़की उसके लिए चाय बनाती है । वह चाय पीकर उसकी तरफ हाथ आगे बढाता है कि लड़की दोनों प्याले उठाकर हाथ पीछे करती है । एक पल में सारी बंबई उसके पैरों से खिसक जाती है । सारी बंबई चकरी की तरह उसकी आंखों के

---

1. अठारह सूरज के पौधे - पृ.96

सामने घूम जाती है । वह फिर कल फैसला करने की बात कहता है तो लड़की सांत्वना देती है कि ठीक है । कल शाम पांचवाली ट्रेन में आप आइए । मैं यहां स्टेशन पर ही मिलूंगी, तभी फैसला कर लेंगे ।

दूसरे दिन । ट्रेन छक् छक् चल रही है । वह ऊपरवाली बर्थ पर सो पडा है । एक एक स्टेशन उसके सिरहाने से गुजरता चला जा रहा है । वी·टी· से कुरला ही कितनी दूर, लेकिन वह सो गया है । भयखला, माटुंगा, शिव एक एक स्टेशन गुजरता जा रहा है । सहसा उसे याद आती है कि ट्रेन फास्ट है और कुरला नहीं रूकेगी । उसका हाथ आगे बढा है और उसने जंजीर को पकड लिया है । और सामने कुरला गुज़र रहा है और उसका हाथ जंजीर के हैंडिल पर से फिसलकर नीचे गिरता है ।

ट्रेन छक् छक् चल रही है । ऊपरी बर्थ पर वह सो पडा है और कल्पना कर रहा है । कोई एक ट्रेन । वी·टी· पर आ रूक गयी है । सब उतर चुके हैं । लेकिन एक साहब अब भी उतरा नहीं । ऊपरी बर्थ पर सो पडा है सिपाही साहब को हाथ पकड खींचता है । लेकिन जागता नहीं । एंजिन डब्बे को धक्का देता है और साहब भट्टे से सारा शरीर पंखे में अटकता नीचे आ गिरता है । सिपाही चीख पडता है - "लाश" । सब डब्बे की तरफ दौडा पडते हैं । वह चाहता है कि उठ बैठूं और कहूं कि यह मेरी लाश है[1] । वह अपनी मृत्यु की ऐसी ही कल्पना करता है । यही अनवरत छक् छक् ध्वनि और कभी न टूटनेवाली नींद । जिस गोद में पली उसी में आखिरी नींद ।

1· अठारह सूरज के पौधे - पृ·7

व्यक्तित्व की नियामक शक्ति है, पारिवारिक परिवेश । परिवारवालों का, विशेषत: मा-बाप का सशक्त प्रभाव बच्चों पर पड़ता है । घर की चहारदीवारी के भीतर घटनेवाली घटनाएं और वहां पनपनेवाली संस्कृति ही, बच्चे के भावी व्यक्तित्व, उसके चिंतन-मनन एवं आचरण का नियामक आधार बन जाती हैं । काम, और काफ्के जैसे अस्तित्ववादी दार्शनिकों का त्रासद वैयक्तिक जीवन इस तथ्य को पुष्ट करता है । इनके अस्तित्ववादी दार्शनिक बनने की पृष्ठभूमि में बचपन के त्रासद अनुभव, पारिवारिक परिवेश और बाद की वैयक्तिक जिन्दगी की म्रियमाणता की विशाल विद्रूपता है, शुष्क एवं नीरस बियावान है । मशीनी संस्कृति और मशीनी परिवेश की पृष्ठभूमि और पारिवारिक म्रियमाणता की वजह से कैसे आदमी व्यक्तित्वहीन हो जिंदगी गुजारने को मज़बूर होता है और यों जीते जीते कैसे उसका जीवन अर्थहीन बनता जाता है, या जीते हुए ही लाश की निर्जीवता ओढनी पड़ती है इनका चलता वर्णन है - "अठारह सूरज के पौधे में । सचमुच यह आधुनिक मानव के विसंगत अनुभवों का दस्तावेज़ है ।

- पृष्ठ३:

उषा प्रियंवदा के उपन्यास

पचपन खंभे लाल दीवारें

उषा प्रियंवदा अपने उपन्यासों में नारी जीवन की विसंगतियों को सशक्त रूप से उजागर करती दिखायी देती है । "पचपन खंभे लाल दीवारें" की सुषमा अकेलापन की घुटन में अपनी सारी जिन्दगी बिताने अभिशप्त हो गयी है । वह प्राध्यापिका है और गर्लस होस्टल का वार्डन भी । वह अपने संकुचित दायरे में अकेली रहती है, नितांत अकेली जीती है । बरसों पहले उसके जीवन में शादी का मौका आया था, लेकिन वह किसी तरह टल गया । और बरसों बाद एक परिचित मित्र नील से उसकी मूलाकात होती है । वह प्रसन्न होती है और उसके अवचेतन मन में सुप्त पडी कामनायें जागरित होती हैं । वह नील को अपनाना चाहती है । फिर भी नील के शादी प्रस्ताव को वह ठुकरा देती है क्योंकि वह नील से पांच साल बडी है । वह नील से कहती है - "मुझे अकेली छोड दो" यधपि वह बार बार महसूस करती है - "नील के बगैर मैं कुछ भी नहीं हूँ केवल एक छाया, एक खोये हुए स्वर की प्रतिध्वनि"[1] ।

सुषमा कालेज के जीवन को अपना अंतिम पडाव स्वीकार कर चुकीहै । उसे मालूम है कि वह परिस्थितियों के झंझावात् से उखडी हुई एक इकाई है, उसका जीवन निरर्थक है, वह कुछ भी नहीं है । उसे इसका भी अहसास है कि मन की वीरानियों में भटकती हुई अपनी जिंदा लाश ढोते रहने के सिवा उसे और कुछ नहीं करना है[2] । सोलह वर्ष बाद, जब आज की नयी पीढी इस कालेज में प्रवेश लेने आयेगी, तब भी सुषमा यहीं होगी - कालेज के पचपन खंभों की तरह स्थिर अचल[3] ।

---

1. उषा प्रियंवदा - पचपन खंभे लाल दीवारे - पृ॰128
2. वही - पृ॰128
3. वही - पृ॰115

रूकोगी नहीं राधिका

"डाक बंगले" की इला की तरह, "रूकोगी नहीं राधिका" की राधिका भी विसंगत परिस्थितियों से उद्भूत उलझनपूर्ण मनस्थिति से विकल है । उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व की चुनौती के रूप में पिता का व्यक्तित्व हमेशा उस पर हावी रहता है जिससे वह कभी मुक्त नहीं हो पाती । राधिका भी किसी महत्वाकांक्षा की खोज में कहीं कहीं भटकती है, कई पुरुषों के संपर्क में आती है, अनिश्चितता की धुंध में कस जाती है और आखिर पडाव डालने का निश्चय करती है ।

राधिका अपनी इच्छा से विदेश से आये पत्रकार डैन से शादी करके विदेश चली जाती है । लेकिन जलदी यह संबन्ध उसे खटकने लगता है । जिसकी उसे खोज थी, वह उस संबन्ध में नहीं थी । डैन भी उसमें अपना खोया यौवन ढूंढ रहा था, अपनी पत्नी को छोड्कर चले जाने की कड्वाहट धोना चाहता था । लेकिन दोनों असफल होते हैं और इसलिए अलग हो जाते हैं ।

विदेश से लौटने पर राधिका अपने को तनाव की स्थिति में पाती है उसे निरर्थकताबोध ऐसा जकड लेता है कि कुछ न बदलने का अहसास उसे घेर लेता है । राधिका ने मां के चल बसने से बचपन से या बरसों से जाना है कि अकेलापन कितना भयावह होता है । इसलिए वह इससे बचने के लिए अक्षय और मनीश से संबन्ध रखती है । लेकिन यह संबन्ध उसमें अनिश्चितता और सारहीनता का बोध कराता है । वह अपने को परिवेश से कटा हुआ पाती है । "तब भी राधिका में एक बेहद अनमनेपन ने घर कर लिया था । अक्षय से भेंट होती रहती, अवसर नीचे शंकर के घर से भी उसे बुलावे मिलते रहते, पर सब कुछ करते हुए भी विचित्र अ अनिश्चितता और सारहीनता का भाव छायी रहती"[1] । इस विचित्र मन:स्थिति में भी उसके अवचेतन मन में ऐसे व्यक्ति को अपनाने की लालसा जाग्रत थी जो उसके

---

1. उषा प्रियंवदा - रूकोगी नहीं राधिका - पृ·84

अवगुणों को स्वीकार करें, उसके अतीत को झेल लें । वह कह रही है - "मेरे जीवन में प्लेबॉय का कोई स्थान नहीं है । मैं चाहती हूँ जिसमें स्थिरता और औदार्य हो, जो मुझे मेरे सारे अवगुणों के साथ स्वीकार कर ले, मेरे अतीत को झेल ले"[1] । लेकिन आखिर वह मनीश को चुन लेती है जबकि वह मानती है कि वह प्लेबॉय से कम नहीं है । उसकी तुलना में अक्षय ही उसे उपयुक्त है जिस पर विश्वास करके उसने अपना शरीर सौंप दिया था । राधिका का यह चुनाव जीवन के प्रति उसकी अनास्था और निस्सारता को व्यक्त करता है जो अवश्य एब्सेर्ड बोध से उद्भूत है ।

- क्रमशः

प्रमोद सिन्हा का "उसका शहर"

"उसका शहर" के पात्र राकेश के पात्रों के समान परस्पर जुडे रहने की बेबसी से छटपटानेवाले हैं । आज शाश्वत संबन्ध की बात निरर्थक है । संबन्ध भी, एक सुविधा है या लाचारी । लूपिका और दशानन दंपति हैं । लेकिन भिन्न रूचियों एवं व्यक्तित्वों के कारण वे जुड नहीं पाते । दांपत्य संबन्ध समर्पित व्यक्तित्व चाहता है, लेकिन लूपिका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व कायम रखना चाहती है । फलत: तनाव होता है, संघर्ष बना रहता है । फिर भी उनका संबन्ध ज़ारी रहता है । एक तरह की सुविधा का संबन्ध । इससे दोनों को मानसिक रति-सुख मिलता है ।

मित्र और एग्नि का संबन्ध भी ऐसा ही है । साथ रहते हुए भी दोनों बेगानापन से पीड़ित हैं । दोनों सिर्फ साथ रहते हैं - समानांतर रेखाओं स

संबन्धों का यह विघटन विसंगत परिवेश की देन है । यह आधुनिक मानव की अस्तित्व-स्थिति है जिसमें रहते जाने की संवेदना उसे सताती है, कचोटती है । लूपिका सोचती है कि यह बीतना अपने क्रम में कितना भयानक है, उसके लिए इसका अहसास आत्महत्या की तरह है जो उसके अस्तित्व केलिए खतरनाक है । लेकिन मानव इन स्थितियों से गुज़रने के लिए अभिशप्त है, यह उनकी नियति है ।

कृष्ण सोबती का - "सूरजमुखी अंधेरे के"

मानव-जीवन की संचालक शक्ति है, स्त्री-पुरुष संबन्ध । और स्त्री-पुरुष संबन्ध की नियामक शक्ति है संभोग-प्रवृत्ति । इसके अभाव में यह संबन्ध

---

1. प्रमोद सिन्हा - उसका शहर

निराधार एवं विचलित हो जाता है, उसकी उपादेयता ही नष्ट हो जाती है । कृष्णा सोबती अपने उपन्यास "सूरजमुखी अंधेरे के" में "फ्रिजिड" हो गयी एक औरत की जिन्दगी को अत्यन्त तीव्रता के साथ उजागर कर रही है । और यों एब्सर्ड बोध के एक नये आयाम का भी आकलन करती हैं ।

रत्ती बचपन में बलात्कार का शिकार होने से उत्तेजनाहीन या "फ्रिजिड" हो जाती है । मानसिक स्तर पर यौन संबन्धों के लिए सक्रिय रहते हुए भी वह शारीरिक स्तर पर काठ रह जाती है । वह महज एक चिथडा रह जाती है, समूची औरत नहीं बन पाती । "हर बार कहीं पहुंच सकने की न मरनेवाली चाह और हर बार वीरान वापसी अपनी ओर"[1] । यही उसकी विडंबना है । वह पथरीली अहल्या रह जाती है जो न पिघलती है, न टूटती है, न छोटी होती है और न बडी । उसके संपर्क में आनेवाले सभी पुरुष - रोहित, बाली, राजन्, श्रीपत सभी उसके व्यवहार से निराश और हताश हो जाते हैं । रोहित और बाली को वह ठंडी और मनहूस औरत लगती है और राजन् उससे कहता है "मुझे हमेशा शक था कि तुम औरत हो भी कि नहीं"[2] । और श्रीपत कहता है "तुम जमे हुए अंधेरे की यह पर्त हो जो कभी उजागर नहीं होगी"[3] । अत: रत्ती वह सड्क बन जाती है जिसका कोई किनारा नहीं है । वह आप ही अपनी सड्क का आखिरी छोर है[4] । लेकिन आखिर उसे मोक्ष मिलता है । वह अंधेरी के पति दिवाकर के साथ संभोग में प्रवृत्त होकर उजागर हो उठती है । यों उपन्यासकार रत्ती की जिन्दगी की निरर्थकता को सार्थकता में बदल देती है ।

---

1. कृष्णा सोबती - सूरजमुखी अंधेरे के - पृ॰-11.
2. वही पृ॰- 92.
3. वही पृ॰- 97.
4. वही पृ॰।।

महेन्द्र भल्ला का "एक पति के नोट्स"

यह उपन्यास भी संबन्धों की निरर्थकता को उजागर करता है - प्रेम और संभोग के माध्यम से । उपन्यास का नायक विवाहित है और यह कहना मुश्किल है कि वह अपनी पत्नी से प्रेम करता है या नहीं । लेकिन उसके लिए दांपत्य संबन्ध का अर्थ खो चुका है । फिर भी वह क्यों यह नाटक करता रहता है ? क्योंकि वह जानता है कि इस नाटक के भीतर और बाहर निरर्थकता है । इसलिए ही राकेश के नायकों के समान अपनी पत्नी को वह नहीं छोडना चाहता । छोडने के भ्रम से वह मुक्त है । पर वह अजनबीपन की उस स्थिति में पहुंच चुका है जहां कुछ भी किया जा सकता है । इस दृष्टि से राकेश के उपन्यासो की अपेक्षा इसकी निरर्थकता संपूर्ण है । और यह निरर्थकता पति-पत्नी के संबन्धों को एण्टी रोमांटिक ही नहीं बल्कि भोगवाद में बदल देती है । शारीरिक भोग में वह अपनी निरर्थकता को फोडने का प्रयास करता है लेकिन, उसे इस व्यापक निरर्थकता में ही पहुंचा देता है । "उस समय वह न खूबसूरत लगी, न बदसूरत । खूबसूरती और बदसूरती के बीच, निरर्थकता के रंग जैसी ····· उफ् । मैं ने तब महसूस किया कि असल में मैं इस चीज़ को फोडना चाहता था, इसी पिरर्थकता को, इसीको और यही ज्यों की त्यों बनी हुई है"[1] । फिर वह पत्नी की एकरसता से बोर होकर शायद निरर्थकता से बचने के लिए अपने पडोसी की पत्नी सद्धा में उलझकर, उसे घर बुलाकर उससे संभोग करता है; लेकिन इससे कुछ हाथ नहीं लगता । "अभी कुछ हुआ, वह वही था जो सीता के साथ हो रहा है । इतना ही नहीं यह सीता के साथ ही हुआ है, संध्या के साथ नहीं"[2] । यों घोर निरर्थकता उसे जकड लेती है । लेकिन अंत में यह प्रेम की निरपेक्ष निरर्थकता आध्यात्मिक करुणा में बदल जाती है । "मेरा मन करुणा से लबालब भर गया ।

---

1. महेन्द्र भल्ला - एक पति के नोट्स - पृ·77
2. वही - पृ·89

हर किसी के लिए, सीता के लिए, अपने लिए, उन बच्चियों के लिए, सिगरेट के पैकटों के लिए"[1]। यों वह स्वस्थ बनता है। वह सोचता है, सब कुछ स्वभाव है, अंतर कहाँ पड़ता है, ऐसे ही जीते रहना है। यों अपनी बुनियादी अक्षमता का स्वीकार उसे निराश, बीमार या कुंठित बनने से बचाता है।

रामदरश मिश्र का "अपने लोग"

रामदरश मिश्र ने "अपने लोग" में जीवन के संपूर्ण परिवेश में व्याप्त "एब्सेडिटी" का सशक्त चित्रण किया है। प्रमोद बीस वर्षों तक दिल्ली में सुविधा की ज़िन्दगी भोगने के बाद अपने गाँव गोरखपुर लौट आता है। शहर में रहते हुए गाँव के प्रति लगाव की वजह से वह एक अजीब अजनबीपन महसूस करता था। लेकिन गाँव में, अपने लोगों के बीच रहकर भी प्रमोद को सूनापन और बेगानापन घेर लेते हैं। वह अपने को खोया-खोया और कटा-कटा महसूस करता है। प्रमोद के परिजन उनकी संवेदनशीलता पर गहरी चोटें करते हैं, उसे तंग करते रहते हैं जिनकी वजह से उसे ऊब होने लगती है और मानसिक और शारीरिक रूप में वह क्षत-विक्षत हो जाता है। प्रमोद अनुभव करता है कि अपनेपन का घेरा कितना खोखला और बोझिल है, कितना उबाऊ और कुरूप है। इससे प्रमोद इतना चिढ जाता है कि अंत में विद्रोह करके इससे राह निकाल लेता है।

समाज असंगतियों का पिटारा बन गया है। राजनीतिक जीवन कलुषित हो गया है। लेखक ने बडी तटस्थता और निस्संगता से इन स्थितियों का बेनकाब किया है। अपनी नौकरानी से व्यभिचार करनेवाला शिवनाथ वर्मा कुटिल चालों से लोगों को ठगाता रहता है, फिर भी चुनाव में बाजी ले जाता है

---

1. महेन्द्र भल्ला - एक पति के नोट्स - पृ.103

प्रमोद अनुभव करता है कि सारी पार्टियां मिलकर जनता को फुटबाल की तरह मार रही हैं। सारा वातावरण दूषित हो उठा है। समाजवाद शब्द उर्थहीन हो गया है। सामाजिक व्यवस्था से चोट खाकर या उत्पीड़ित होकर साधारण जनता असहाय हो गयी हैं। लोग कमज़ोरों पर ही वार करते हैं, ताकतवारों से टकराने की हिम्मत नहीं करते। रामविलास की पत्नी अपनी अंतिम चूड़ीबेचकर इलाज करती है। बच्चा गुज़र जाता है, पर हृदयहीन डाक्टर लाश के पास खडे होकर तीस रूपये फीस मांगता है। रामविलास वेग से दहाड उठता है। इस दहाड में पुत्र के साथ साथ तीस रूपये खोने का दर्द भी छिपा है। मानव-जीवन की कैसी विडंबना है, कैसी "एब्सेर्डिटी" है।

महीप सिंह का उपन्यास "यह भी नहीं"

"यह भी नहीं" में महानगरीय विसंगत परिवेश के उलझे - जटिल संबन्धों के भीतर टूटती, पनाह खोजती, बेपनाह जिन्दगी का यथार्थ चित्रण हुआ है। इसकी कथा बंबई में घटती है। गांवों और कस्बों से अनेक युवक-युवति बंबई आते हैं। सभी एस्टाब्लिषमेंट के महाजाल से पीड़ित और कुंठित होते हैं। वे एक प्रकार की जिन्दगी चुनते हैं, जीते हैं और जब उससे ऊब जाते हैं तो एक नये पडाव की ओर जाते हैं। उन्हें किसी में भी आत्मीयता नहीं मिलती। यों जिन्दगी एक व्यापक ऊब से उबरने की फिसलती कोशिशों का निरर्थक सिलसिला बन जाती है।

शीता का जीवन "डाक-बंगला" की इरा की भांति भटकनों की एक लंबी कतार है। वह दिल्ली से अंग्रेज़ी के प्रोफेसर सोहन के साथ भागकर बंबई आती है। उससे शादी करती है, मां बन जाती है। लेकिन उसका भटकन समाप्त नहीं होता। वह दर्शन, खोसला, विकास, प्रीतमलाल, प्रभाकर राय और भी न जाने कितने मर्दों के साथ संपर्क रखती है, लेकिन उसका आन्तरिक मन

अतृप्त रहता है । स्वच्छन्द सेक्स उसकी रूचि है, और पत्नी के रूप में, उसकी सबसे बड़ी समस्या भी यही है । पंकज उसे हाउस बोट कहता है, सोहन उसे स्वपिंग । वह पत्नीत्व नहीं निभा पाती, मातृत्व उसके बस का रोग नहीं ।

शोता अपने अन्तर्मन में एक दोहरी जिन्दगी जी रही हैं । वह विका से आलिंगित होकर होने लगती है तो प्रीतम लाल के आलिंगन में सबके सामने आने, और उसके साथ नाचने में गौरव समझती है । शोता अपने साथ अनेक महत्वाकांक्षाएं भी समेटकर चलती हैं । नौकरी वह मज़बूरी से करती है, दूसरी शादी के प्रति वह बेहद तत्पर है । विकास के साथ फिल्म बनाना चाहती है, लेकिन उसकी कोई भी महत्वाकांक्षा कभी पूरी नहीं होती, सबसे उसे हाथ धोना पड़ता है । वह सिर्फ इस बांह से उस बांह में हिचकोले खाती हुई रोज़ शाम को आ जानेवाले बुखार को समर्पित हो जाती है ।

निष्कर्ष

करीब बीस साल के अंतराल में विभिन्न मानसिक स्तर के व्यक्तित्वों द्वारा लिखित इन उपन्यासों की भाव-चेतना की गहराई में उतरते उतरते एहसास हुआ कि भारत के ये सृजनकार अपने माध्यम के प्रति, अपने परिवेश के प्रति पूर्णत: सजग एवं ईमानदार हैं । उन्होंने अवश्य प्रभाव ग्रहण किया है, लेकिन उसका उन्होंने अपने माहौल के अनुकूल मरोड़कर संवारा है, अपने परिवेश का लिबास पहनाया है, कि रचनायें बिलकुल भारतीय लगती हैं । इसके अपवाद में दो ही उपन्यास हैं - "अपने अपने अजनबी" और "वे दिन" ।

। · महीपसिंह - यह भी नहीं

भारत का अपना परिवेश है । उसकी अपनी संस्कृति और विचारधारा हैं, उसका अपना विसंगति-बोध भी है - जिसका हमने उन्यत्र उल्लेख किया है । लेकिन यहां कुछ बातें ऐसी हैं जो सनातन समझी जाती हैं । अत: प्रभावित होने पर भी, भारतीय साहित्यकार को इन भारतीय परिस्थितियों से समझौता करना पड्ता है, या प्रभावित तथ्य के भारतीय रूप को ही उन्हें अभिव्यक्त करना पड्ता है । साहित्यकार होने के नाते यह उनकी मज़बूरी है ।

इस समझौते के अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं । हरबंस के साथ जीते जीते, मानसिक स्तर पर शून्यत्व की भाव-चेतना में पहुंचने पर भी नीलिमा, उसके संग ही जीने का निश्चय करती है । मधुसूदन निम्मा पर अपना सारा एक्सर्ड बोध निगलकर स्वस्थ हो जाता है । सुषमा को भी किसी के संग घर बसाने की प्रतीक्षा है । (अंधेरे बन्द कमरे) निरर्थकता अपने रग रग में समेटकर चलनेवाली रेखा, श्रीमतीत्व को मिथ्या मानती हुई भी एक पुरुष की छाया में ही सांसें लेती है । भुवन गौरा को अपना कर अपनी सारी निरर्थकता और "क्षण"की अनुभूति कहीं फेंक देता है । (नदी के द्वीप) "अंतराल" की श्यामा कुमार के मोह से उबर नहीं पाती । उसे फिर आने का निमंत्रण देती है । "डाक बंगला" की इरा को ऐसे पुरुष की प्रतीक्षा है जो उसे अपनी सभी खूबियों सहित अपनाये । "फ्रिजिड" होने के कारण जिन्दगी भर निरर्थकता से जूझनेवाली रत्ती को आखिर संभोग - सुख की अनुभूति प्राप्त होती है । (सूरज मुखी अंधेरे के) "एक पति के नोट्स" के नायक के प्रेम की निरपेक्ष निरर्थकता आखिर आध्यात्मिक करुणा में बदल जाती है । ऐसा लगता है कि इनका एब्सेर्ड बोध संकुचित दायरें में सीमित है गहरा नहीं है, बल्कि बुरी तरह सतही है । और इनकी "एब्सेर्डिटी" ज़िन्दगी से निरासक्त होने से नहीं बल्कि उससे ज्यादा जुड्ने या ज्यादा प्रतीक्षा करने की वजह से उद्भूत हो गयी है ।

इस समझौते के कारण ही ये उपन्यासकार ऐसे एक पात्र के सृजन में असमर्थ हो गये हैं जो विसंगतिबोध को कामू के मीरसाल (अजनबी, द आउट साइडर

की भाँति उसकी संपूर्णता के साथ अपने व्यक्तित्व में समेटकर चल सकता है । मीरसाल अपनी माँ की मृत्यु की यथार्थता कितनी अनमनी से अपनाता है, कितनी बेफिक्री से वह अरब की हत्या करता है और कितनी उदात्त दार्शनिक भावना से मृत्यु को स्वीकार करता है । वह धर्म-उपदेश देने आए "प्रीस्ट" से कहता है - "सभी अंत में मरने के लिए अभिशप्त है । आपकी भी बारी ऐसी ही आयेगी" ।

हिन्दी उपन्यासकार कभी कभी विसंगति बोध को उसकी संपूर्णता में अभिव्यक्त करने की कोशिश करते दिखायी देते हैं, लेकिन वे बीच में ही फिसल जाते हैं । नदी के द्वीप की रेखा विसंगति-बोध की चरम सीमा में गर्भस्थ शिशु को नष्ट करने, और अपने को तीव्र वेदना में धकेल देने केलिए तैयार हो जाती है, लेकिन उसका वह गर्भपात अपनी राह को निष्कंटक बनाने का एक उपाय मात्र लगता है । "दूसरी बार" और "एक पति के नोट्स" के नायकों को संभोग-क्रिया में मिचली (नॉसिया) की अनुभूति होती है । सार्त्र के नायक "मैथ्यू" के नॉसिया बोध का विशाल कैन्वस यहाँ नहीं है । "मैथ्यू" के समान जीवन की समग्रता को अपनानेवाले सशक्त पात्र भी नहीं ।

फिर भी परिवेश की म्रियमाणता की वजह से व्यक्तित्वहीन हो अर्थहीन जिन्दगी को ढोने रहने की आधुनिक मानव की बेबसी का हृदय विदारक चित्र उतारने में ये उपन्यासकार सफल हुए हैं (सफेद मेमने, अठारह सूरज के पौधे) ।

यह स्थिति हिन्दी उपन्यासकार के और हमारे परिवेश के सीमित दायरे को व्यक्त करती है । रचना के लिए अनुभूति चाहिए, और अनुभूति के लि अनुभव का ताप भी । यदि विसंगतिबोध पश्चिम की भाँति भारत में उभर नहीं आ पाया है तो इसका कारण सृजनकार पर नहीं, बल्कि वह किस मिट्टी में पाँव अडाकर खडा है, वहीं खोजना चाहिए ।

❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀

छठा अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में मृत्यु तथा मृत्यु संत्रास

छठा अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में मृत्यु और मृत्यु-संत्रास

मृत्यु-विचार, अस्तित्ववादी दर्शन की महत्वपूर्ण चिंतन धारा है । इसका विशद-विवेचन हो चुका है । हिन्दी उपन्यास साहित्य में इसका प्रथम प्रयोग अज्ञेय के माध्यम से ही हुआ । यह स्वाभाविक भी था क्योंकि "अज्ञेय एकमात्र लेखक थे जो कप्तान बनकर सैनिक मार्चे पर गये थे । उन्होंने इस विश्वयुद्ध का अनुभव एक नये ही प्रकार से किया था और वे इससे उत्पन्न नैतिक ह्रास एवं अंतकरण की म्रियमाणता से स्तब्ध रह गए थे"[1] ।

• अज्ञेय की दृष्टि में मृत्यु, जीवन को रसमयता और अर्थवत्ता प्रदान करनेवाला महत्वपूर्ण तत्व है । वेकहते हैं -"सांस की बाधा ही जीवन बोध है क्योंकि उसी में हमारा चित्त पहचानता है कि कितनी व्यग्र ललक से हम जीवन को चिपट रहे हैं । इस प्रकार डर ही समय की चरम पाप है । प्राणों का डर"[2] अत: मृत्यु-साक्षात्कार में ही जीवन की सार्थकता है या निरंतर मृत्यु-भय से गिडगिडाना ही जिदगी है । लेकिन मृत्यु से अधिक सतर्कता या सजगता,

---

1• हिन्दी उपन्यास साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव - भारत भूषण अग्रवाल-पृ•329

2•

जीवन की सार्थकता को नकारती है और सर्जनात्मकता के सम्मुख चुनौती बनकर खडी होती है । अज्ञेय के पात्र इन दोनों विचार धाराओं को अपने में समेटे हुए हैं ।

शेखर एक जीवनी

शेखर एक जीवनी के प्रथम भाग की भूमिका में अज्ञेय ने लिखा है कि शेखर घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए "विशन" को शब्द बद्ध करने का प्रयत्न है । यह "विशन" उन्हें कैसे प्राप्त हुई ? इसकी भी सूचना उन्होंने दी है । आधी रात के वक्त पुलीस डाकुओं की तरह उन्हें बंदी बनाकर ले गयी थी । पुलीस के उच्च अधिकारियों से उनकी बातचीत हुई, फिर कहा-सुनी और थोडी मार पीट भी हो गयी । फलत: यह एहसास उन्हें कचोट लगा कि जीवन की इतिश्री शीघ्र ही होनेवाली है । इससे उनके मन में घोर निराशा जम गयीअऔर उससे उन्हें यह विशन भी प्राप्त हो गयी । वे लिखते है "घोर निराशा (व्यक्ति को) अनासक्त बनाकर द्रष्टा होने के लिए तैयार करती है"[1] । अज्ञेय की इस आत्मस्वीकृति से यही समझ में आता है कि "शेखर एक जीवनी" की सृजन - प्रेरणा, मृत्यु संत्रास से उद्भूत निराशा रही है ।

यद्यपि अज्ञेय ने अज्ञेय और शेखर के बीच सीमा-रेखा खींची है फिर भी उन्होंने इसकी सम्मति प्रकट की है कि शेखर का जीवन दर्शन सामान्यतया उसके लेखक का भी जीवन-दर्शन है[2] । शेखर के मन में न जाने क्यों बचपन से ही मृत्यु के प्रति एक विशेषण आकर्षण रहा । एक बार निश्चल झील में भाइयों को तैरते देखकर शेखर मुग्ध हो जाता है - "कितनी भली भी पानी को चीरती हुई उनकी भुजाओं की गति, कैसा असह्य आकर्षक था उनका पंखयुक्त कांपते हुए बाण की तरह अग्रासरण"[3] । शेखर देर तक नहीं देख सका । वह भी कूद पडा ।

---

1. शेखर एक जीवनी - प्रथम भाग - भूमिका - सप्तम संस्करण ।96।
2. वही
3. वही - पृ.8।

उसके हाथ भी उसी तरह चलने लगे जैसे वह भाइयों के हाथ चलते देख रहा था । थोडी देर बाद जब उसे होश आया तो वह औंधा लेटा हुआ था, भाई उसके पीठ दबा रहा था और आसपास मांझी खडे हुए थे जिन्होंने उसे खींचकर बाहर निकाला था । कुछ दिनों के बाद खेलते वक्त अन्य लडकों से उसका भाई उसके पानी में डूब बचने की बात कहता है । सुनकर शेखर गर्व से उद्घोषित करता है - "अरे अभी हुआ क्या है, अभी तो मैं फिर किसी दिन वह करूंगा । डूबकर देखूंगा, मरना क्या होता है । मैं जरूर किसी दिन ऐसा ही मरूंगा" । लडके एकाएक उसे सहमकर देखने लगे, फिर चले गये । उनके इस आचरण से शेखर और चिंतित हो गया । क्या मृत्यु सचमुच डरने की चीज है ? सोचते सोचते वह एक दिन मां से ही पूछ बैठा "मां तुम कब मरोगी ?" उत्तर मिला था, पिताजी की ओर से तडातड तीन चार थप्पड के रूप में । शेखर और गंभीर हो गया । सोचने लगा -"क्या मृत्यु इतनी भयानक है ? जिज्ञासा वश वह दीदी सरस्वती से भी पूछता हैकि मरते कैसे हैं ? पर सरस्वती से भी उसे सही उत्तर नहीं मिला ।

द्वितीय महायुद्ध के दिन थे । शेखर के परिवार के सब लोग बीमार पड गये । सिवाय सरस्वती के । दिनों बाद सबके ठीके हो जाने पर भी शेखर पडा रहा । एक दिन शेखर के सिरहाने बैठी हुई सरस्वती ने कहा "आज सिर बहुत दुख रहा है"। शेखर बोला "अब तुम बीमार पडोगी" । "नहीं अभी नहीं । पहले तुम अच्छे हो जाओ । फिर मैं बीमार पड भी गयी तो कोई बात नहीं" । "मैं नहीं अच्छा होता" जाने क्या सोचकर शेखर ने कहा, शायद सहानुभूति पाने केलिए "मैं तो अब मर जाउंगा" ।

"धत् पागल ऐसी बात नहीं करते" ।

शेखर फिर बोलता है - "तुम मरने से नहीं डरती" ।

"नहीं"

"मरना बहुत डरावना होता है ?"

"नहीं !"

"सब लोग क्यों डरते हैं ?"

"इसलिए नहीं डरते कि मरना बहुत खराब होता है, इसलिए डरते हैं कि जीना अच्छा लगता है"[1] ।

शेखर के पिता ने पटना शहर में नया मकान ले लिया है । गंगा के किनारे पर । फिर शेखर का मुख्य काम यही रहा कि केले के स्तंभों पर लेटकर गंगा में बहना । एक बार उसने तीन स्तंभों को बांधकर एक नाव बनायी फिर गंगा में उसे ले जाकर, उस पर सीधा लेटकर, हाथ से उसे धार में खेकर ले गया, और फिर हाथ समेटकर निश्चल कभी इधर, कभी उधर और कभी आकाश की ओर देखने लगा - "वर्षा हो चुकी थी । बादल के छोटे-छोटे टुकडे इधर उधर भागे फिरते थे । कभी एक दूसरे से भिड़कर एक हो जाते थे । कभी देखते-देखते आकाश की प्रगाढ नीलिमा में घुल जाते थे । ओह, कितना सुन्दर था उस प्रकार उस विस्तीर्ण नीलाकाश में घुलकर लुप्त हो जाना··· शेखर ने भूले हुए सा सोचा, ऐसे मरूंगा, जहां बाधा नहीं होगी····"[2] ।

युवा शेखर, कालेज में पढते वक्त राष्ट्रीय काग्रेस के अधिवेशन के स्वयंसेवक दल का सदस्य बनता है और एक सी·आइ·डी· इंस्पेक्टर को पीटने के झूठे इलजाम पर महीनों तक जेल की सजा भोगता है । जेल से छूटने के बाद शेखर ग्वालमण्डी के पास एक चौमंजिले मकान की सबसे ऊपर की मंजिल में बारह रूपए महीने में भाडे पर डेढ कमरा लेता है । क्रांति के प्रेरणादायक साहित्य रचना की बात सोचता रहता है । वह बीच बीच में शशि से मिलता है और शशि उसकी महत्वकांक्षाओं को त्वरित करती है । आखिर बहुत परिश्रम के बाद "हमारा समाज" नामक विषय पर एक लंबा लेख लिखता है । उसके प्रकाशन के फिक्र में व्यस्त रहते हुए एक दिन, दिन के प्रकाश के साथ तार आता कि मां का देहांत हो गया है । उसके मन में सहसा एक विचित्र प्रकार की वेदना उठी जो दु:ख से भिन्न थी । फिर मन शून्य हो गया । थोडी देर बाद मृत्यु की विराटता की बात सहसा उसे चुभ जाती है । शाम को वह रावी-

---

1· शेखर एक जीवनी - पहला भाग - पृ·88-89

2· वही - पृ·109

पर चला जाता है । उसने श्मसान कभी नहीं देखा था और उसे ध्यान हुआ कि मृत्यु की यथार्थता शायद एक अंतिम संस्कार देखे बिना समझ में नहीं आ सकती । श्मसान में दो-तीन चितायें जल रही थीं । उन्हें जलते हुए बहुत समय हो गया था, चिता के भीतर देह का आकार नहीं पहचाना जाता था और श्मसान में कुछ कुत्तों के अलावा केवल शेखर ही था । वह लौटा और कमरे में गुमगुम रहते, एक पतंग को लालटेन में जलते देखकर सहसा उसके मन में अस्तित्व की विराट-समस्या उद्भासित हो उठती है और यह सत्य उसे कचोटता है । कि इस दुनिया में अब माँ नहीं है[1] ।

फिर बीमार शशि की शुश्रूषा करते करते, शेखर उसके तिल-मिल होकर मिटने की संत्रस्त एवं दारुण स्थिति का साक्षी बनता है । आँखों के सिवाय शशि का सारा शरीर निस्पन्द होते हुए और फिर सिर्फ दिन की लाल किरणों से उसका चेहरा जीवन के रंग से दीप्त देखकर शेखर ठिठक रह जाता है । उसे लगता है कि उसका अपना अस्तित्व ही मिट गया है । वह एक छाया, एक सपना रह गया है । मृत्यु भी उसे छाया-सी लगाती है । और मनुष्य का देह एक मशाल हैं । उसे एक न एक दिन जलकर मिटना ही है, पर उसकी लौ तो ऊपर उठती है, वह अक्षय और मुक्त है । मृत्यु उसे कुछ भी नहीं कर सकती[2] ।

शशि की मृत्यु के साथ "शेखर एक जीवनी" का दूसरा भाग समाप्त होता है । तीसरा भाग अभी तक नहीं निकला है । अत: शेखर के क्रांतिकारी कार्यों का विशद वर्णन उपलब्ध नहीं है । प्रथम भाग के प्रवेश खण्ड में वर्णित घटनाओं से यही अंदाज मिलता है कि क्रांतिकारी कार्यों में सक्रिय भाग लेने की वजह से शेखर को मृत्यु दण्ड मिलता है । मृत्यु की प्रतीक्षा में रत शेखर अपनी क्रांति धारणाओं की नश्वरता से अभिज्ञ है । वह सोचता है कि मेरी विद्रोह चेष्टा कहाँ जाएगी । मैं प्रत्येक वस्तु में घोर परिवर्तन, एक मौलिक क्रांति का आदर्श लेकर आया हूँ, वह क्या एक फांसी के फन्दे में ही घुटकर मर

---

1. शेखर एक जीवनी - पृ॰114-116
   (दूसरा भाग)
2. वही - पृ॰248-249

जाएगा ?"[1] लेकिन शेखर को मृत्यु का डर बिलकुल नहीं है । वह ज्यादा रोमान्टिक है, इसलिए उसकी फांसी की कल्पना और मृत्यु-धारणा कविता सी मनोहर है "मुझे तो फांसी की कल्पना सदा मुग्ध ही करती रही है । उसमें सांप की आंखों सा एक अत्यन्त तुषारमय किंतु अमोघ सम्मोहन होता है.... एक सम्मोहन, एक निमंत्रण जो कि प्रतिहिंसा के इस यंत्र को कवितामय बना देता है, जो कि उस पर बलिदान होते हुए अभागे - या अतिशय भाग्यशाली को जीवन की सिद्धि दे देता है, और उसके असमय अवसान को भी संपूर्ण कर देता है"[2] । मृत्यु वास्तव में कुछ भी नहीं है, वह एक आपरेशन के समान सरल है "मुझे लगता है कि मृत्यु एक आपरेशन है जैसे दांत उखडवा देना । कुरसी पर बैठना पडता है, डाक्टर एक झटका देता है, एक तीखा दर्द होता है और फिर शांति मिलती है, छुटकारा हो जाता है । मृत्यु भी वैसी ही है....[3] । उसकी राय में मृत्यु का ज्ञान और जीवन की कामना में कोई भिन्नता नहीं है । मृत्यु डरने की वस्तु नहीं है और जो मृत्यु से डरता है वह जिंदगी जीने में भी कामयाब नहीं होता-"शायद मृत्यु का ज्ञान और जीवन की कामना एक ही चीज है । यह बहुत बार सुनने में आता है कि जीना वही जानता है, जो मरना जानता है । .... लोग समझते हैं कि जो जीवन को प्यार करते हैं, वे मृत्यु से डरते हैं । बिलकुल गलत । जो मृत्यु से डरते हैं, वे जीवन से प्यार कर ही नहीं सकते, क्योंकि जीवन में उन्हें क्षण भर भी शांति नहीं मिलती"[4] । और यहां तक कि शेखर मृत्यु को ही अपने जीवन की सिद्धि मानता है क्योंकि उसके जीवन में और कोई सिद्धि नहीं हैं - "मुझे जीवन का मोह नहीं करना चाहिए । पर मैं ऐसा मोह करता कहां हूं ? मोह तो तब होता, जब इस जीवन की कोई सिद्धि होती । और मैं सोच रहा हूं मृत्यु ही इसकी सिद्धि है"[5] साथ ही उसकी मृत्यु एक मरण की भूमिका है जिसमें लाखों और करोडों आगामी जीवन निहित है[6] ।

---

1. शेखर एक जीवनी - प्रथम भाग - पृ.36
2. वही - पृ.15
3. वही - पृ.127
4. वही - पृ.128
5. वही - पृ.36
6. वही - पृ.37

यों बालक शेखर के मृत्यु के प्रति आकर्षण, युवा शेखर में मृत्यु सत्य एवं विराटत्व की अभिज्ञता में बदलकर, धीरे धीरे मृत्यु की अवश्यं भाविता तथा उसे निडर हो जीवन-सिद्धि मान लेने की दार्शनिक उच्चता प्राप्त करता है ।

अपने अपने अजनबी

अपने अपने अजनबी की वृद्धा सेल्मा और युवती योके बर्फ के नीचे काठ घर में फंस गयी हैं । किसी भी क्षण आ सकनेवाली मृत्यु के इंतजार में गिडगिडाते जीने के लिए वे विवश हो गयी हैं । लेकिन बूढी सेल्मा अपनी मृत्यु का निश्चय हो जाने पर घबरा नहीं उठती । वह केंन्सर से पीडित है । उसने मौत को स्वीकार कर लिया है । लेकिन मृत्यु के आतंक से वह जीवन की रसमयता नहीं खोना चाहती । जीवन जितना है और जैसे भी हो उसे भरपूर जी लेना है । इसीलिए उसे आगामी क्रिसमस की प्रतीक्षा है । उसे खुशी है कि क्रिसमस के अवसर पर बर्फ ही बर्फ होगी । बर्फ से काम नहीं चलेगा, इसलिए वह आग जलने की योजना बनाती है । उसे ताश खेलने की इच्छा होती है । खेलते खेलते वह सो जाती है और आंख खुलने पर सहज ही हाथ का पत्ता खोल देती है । उसका विश्वास है कि घिरी बर्फ के उस पार खुली निखरी हंसती धूप है । वह कल्पना करती है कि ऐसे घिरे हुए काठघर की चिमनी से शैतान उतरकर नहीं आता, संत निकोलस आता है[1] ।

सेल्मा के इन भावों के पीछे मौत से उसकी पहचान अभिव्यक्त है । वह कहती भी है - "थीसिस में डर का एक ही चेहरा होता है, और उसे देखे बिना काम नहीं चलता । उसे पहचान लेना ही अच्छा है - तब उतना अकेला नहीं रहता । निरे अजनबी डर के साथ कैद होकर कैसे रहा जा सकता है"[2] । वह यही सिद्ध करती है कि मृत्यु में ही जीवन की सार्थकता है । ईश्वर साक्षात्कार का माध्यम भी यही है - "शायद मन से ईश्वर को तब तक पहचान ही नहीं सकते

---

1. अपने अपने अजनबी - पृ.12-13-25-37
2. वही - पृ.16

जब तक मृत्यु में ही उसे न पहचान लें । इसलिए मौत ही तो ईश्वर का एकमात्र पहचाना जा सकनेवाला रूप है"[1] ।

सेल्मा तटस्थ भाव से मृत्यु को देख रही है । जीवन के प्रति उसकी असंलग्नता ने उसे जीवन जीने की एक नयी दृष्टि प्रदान की है । वह जानती है कि मनुष्य को पूर्वनिश्चित परिस्थितियों के चंगुल में जीवन बिताना है, परिस्थितियों को वरण करने की स्वतंत्रता उसे नहीं है, लेकिन उनके बीच रहकर मनुष्य अपनी स्वतंत्र निर्णयक्षमता द्वारा अपने अस्तित्व को परिभाषित कर सकता है, उसे अर्थ दे सकता है । वह कहती है - "कुछ भी किसी के बस का नहीं है योके । एक ही बात हमारे बस की है इस बात को पहचान लेना"[2] । कार्ल जास्पर्स भी यहीकहता है कि मनुष्य दायित्व वहन द्वारा अस्तित्व का अनुभव कर सकता है । वह परिस्थितियों को बदलने में सक्षम नहीं है बल्कि उन्हें अन्तदृष्टि से परख कर आवश्यकतानुसार संशोधित कर अपना सकता है[3] । कामू की भी यही मान्यता है कि जीवन की विद्रुपताओं को स्वीकार कर उनके प्रति विद्रोह करने में ही जीवन की सार्थकता है । उनके अजनबी उपन्यास (आउटसाइडर) का नायक मीरसाल मृत्यु-दंड का निर्णय सुनकर घबरा नहीं उठता उसे मौत से डर नहीं है ।[4] वह उस सन्निकट अंत के बारे में सोचता रहता है । उसे सारी जिंदगी निरर्थक लगती है । एक दिन उसकी काल कोठरी में एक पादरी अंतिम धर्म उपदेश देने के लिए आ जाता है । बातचीत के दौरान वह उससे पूछता है कि क्या तुम्हें मरणोत्तर जीवन में विश्वास नहीं ? वह उत्तर देता है कि मैं ने कभी भी उसके बारे में न सोचा है, लेकिन उसकी उतनी ही विशिष्टता है जैसे कि धनी होने या तेज तैराकी होने की इच्छा[5] ।

---

1. अपने अपने अजनबी - पृ.81
2. वही - पृ.26-47-60
3. "I am in my situation in the world, it encounters limits which cannot in any way be got round, or reduced or explained." Quoted in Six existential Thinkers - A.J. Blackham - P.52
4. Meursault, on the eve of his execution accept death as the culmination of his own individuality - transmit homeland where death itself is a happy silence -"

पादरी का धर्म उपदेश सुनकर वह गुस्से से उसका कालर खींचकर कहता है "सभी तरह अंत में मरने के लिए अभिशप्त है । आपकी बारी भी ऐसी ही आएगी । और इससे क्या फरक पडता है कि चाहे हत्या का अभियोग लगाकर मरो इसकी वजह से कि मां के अग्नि संस्कार के वक्त रोया नहीं"[1] । मीरसाल की दृष्टि में पादरी की जिदगी उसकी अपनी जिन्दगी से भी हेय है । पादरी की एक मुर्दा की जिदगी है क्योंकि वह जीवित रहता या नहीं इससे वह स्वयं अनभिज्ञ है । लेकिन मीरसाल जो एक मामूली आदमी है, फिर भी अपने बारे में अपनी जिदगी और आनेवाली मौत के बारे में निश्चित ज्ञान रखता है । वह इस सत्य से अभिज्ञ है कि सब मर जायेंगे । यह पहचान उसे मौत के प्रति निरासक्त बना देती है । उसकी केवल यही इच्छा हैकि फांसी के क्षण वह अकेले न हो, उस समय घृणा और तिरस्कार की आवाज़ों से उसका स्वागत करनेवाली भीड हो[2] ।

यहां ध्यान रखने की बात है कि मीरसाल की खुशी दुनिया की खूबसूरती या लौकिकता के साथ जुडी है । अपनी मां की मृत्यु के दिन वह "स्विमिंग पूल" जाता है, एक लड्की के साथ संभोग करता है और उसके साथ सिनिमा देखने जाता है । इतना ही नहीं मां की मृत्यु पर वह बिलकुल दु:ख प्रकट करता नहीं । इसी निमर्मता की वजह से उसे मृत्यु-दंड मिलता है, न कि अरब की हत्या की वजह से । पहले तो इसके विरुद्ध वह विद्रोह प्रकट करता है, फिर सन्तोष स्वीकार करता है, यह सोचकर कि आखिर यही होता है - सभी किसी न किसी तरह मरने के लिए अभिशप्त है ।

सेल्मा और मीरसाल की जिदगी और व्यक्तित्व में अनेक भिन्नताएं हैं, फिर भी उन्के मृत्यु-भय से मुक्त होकर जीने में बहुत कुछ समानताएं हैं । सेल्मा बूढी है । केन्सर से पीडित है । उसने जिदगी भर-पूर जी ली है ।

---

1. दि औटसैडर - आलबेर कामू - पृ॰117
2. आलबेर कामू - फिलिप तोडी - पृ॰58

उसके तीन संतान हैं, पति मर गया है । उसने सांसारिक जीवन की सारी अर्थवत्ता-लौकिक जीवन की सुविधाओं और कटुताओं - को पूर्णत: समझ लिया है और जिदगी की आखिरी मंजिल पर पहुंच गयीहै । बर्फ के नीचे काठ घर में फंसकर मृत्यु का इंतजार कर रही है । उसे मालूम है कि अपनी इच्छा शक्ति से परे मनुष्य की जिदगी का नियंत्रण करनेवाली एक बाहरी शक्ति है । मनुष्य उसके चंगुल में पड्कर पिस रहा है । वह उपेक्षित, असहाय, एवं बेबस है । काल रूपी विराट शक्ति मनुष्य को अवश बनाती है और उसे अंधेरे गुफा में धकेल देती है । काल की गुलामी से छुटकारा असंभव है । मृत्यु जब याहे आ सकती है और मनुष्य के अस्तित्व को उखाड फेंक सकती है । इसीलिए ही सेल्मा योके से कहती है कि कुछ भी किसी के बस का नहीं है योके । वरण की स्वतंत्रता कहीं नहीं है । हम कुछ भी स्वेच्छा से नहीं चुनते[1] । अत: वह मृत्यु को मीरसाल के समान सहर्ष स्वीकार करने तैयार रहती है । मीरसाल को अकेलापन का भय है और भीड का सहारा पाना चाहता है तो सेल्मा ईश्वर के हाथ पकडने का विफल श्रम करती है । वह मृत्यु में ही ईश्वर का अहसास पाती है- "मुझे किसका सहारा है ? मैं नहीं जानती हूँ । ईश्वर का है, यह भी किस मुंह से कह सकती हूँ ? शायद मृत्यु का ही सहारा है । वह है बिलकुल पास है, सामने खडी है - लगता है कि हाथ बढाकर उसे छू सकती हूँ । ..... ईश्वर ..... ईश्वर का नाम लेना तो बडा आसान है, लेकिन बडा मुश्किल भी है । और मौत और ईश्वर को हम अलग अलग पहचान भी कभी-कभी ही सकते हैं, बल्कि मन से ईश्वर को तब तक पहचान ही नहीं सकते जब तक कि मृत्यु में ही उसे न पहचान लें"[2] । सेल्मा पूर्णत: आस्थावादी पात्र है जब कि मीरसाल उससे कहीं भिन्न आस्थाशून्य व्यक्तित्व का अधिकारी है ।

युक्ती योके प्रारंभ में आस्थाशून्य है जिसकी वजह से बूढी सेल्मा से उसकी टक्कर होती है और बूढी को समझने में वह असमर्थ निकलती है ।

---

1. अपने अपने अजनबी - पृ.98
2. वही - पृ.48-49

लेकिन बाद में विष खाकर आत्माघात करते वक्त वह भी आस्थावादी बन जाती है ।

बर्फ की सैर करने आयी योके संयोगवश बर्फ के तूफान द्वारा सेल्मा के काठ घर में कैद हो जाती है । उस पल से ही बर्फ के नीचे दबकर मरने का डर उसके प्राणों में समाया हुआ है । योके जवान लड़की है । उसके भविष्य की सारी संभावनाएं आगे पडी हैं । और वह बर्फ से दबे काठ घर में, केन्सर से पीड़ित, मृत्यु का इंतजार करनेवाली बूढी औरत के साथ बंद हो गयी है - उसके लिए यह मृत्यु-संत्रास स्वाभाविक है । सेल्मा के आचरण देखकर योके के मन में यह शंका होती है कि सचमुच आण्टी सेल्मा का यही अनुमान है कि वे दोनों अब बचेंगी नहीं, यह बर्फ से ढका हुआ काठ का बंगला उनकी कब्र बन जाएगा[1] । सेल्मा गाकर मृत्यु को स्वीकारने तैयार रहती है तो योके हर पल भय से गिडगिडाती रहती है । वह चिंतित एवं हताश है । वह बुढिया से बार-बार चिढ जातीहै । उसके मन में ऐसी घृणित भावना उठती है "जलती हुई लकडी उठाकर उसकी कलाइयों पर दे मारूं जिससे उसका आग को असीसने का दुस्साहस करनेवाला हाथ नीचे गिर जाय - एकाएक जिसके सदमे से हृदगति बंद हो जाय"[2] । योके हर पल त्रस्त है । वह सेल्मा से अपनी स्थिति की तुलना करती हुईमहसूसती है कि सेल्मा से ज्यादा लाचार वही है "मृत्यु···· मृत्यु···· उसी की एकमात्र प्रतीक्षा, ऊपर बर्फ हो या न हो - और हां केन्सर भी हो या न हो । क्या सेल्मा की प्रतीक्षा मेरी प्रतीक्षा से इसलिए भिन्न है कि उसे केन्सर है और मुझे नहीं है या कि भिन्न इस बात में है कि उसके पास कार्य-कारण की संगति है और मेरे पास वह भी नहीं ? क्या मैं ज्यादा लाचार, ज्यादा दयनीय ज्यादा मरी हुई नहीं हूं ? क्या मुझे ही ज्यादा केन्सर नहीं है - यह कैन्सर जिसे हम जिंदगी कहते हैं"[3] ।

---

1. अपने अपने अजनबी - पृ.11
2. वही - पृ.36
3. वही - पृ.58

एक दिन बूढी सेल्मा मर जाती है । उसके शरीर से छूटनेवाली मृत्यु-गंध इस तरह छा जाती है कि अंत तक मृत्यु के त्रास से उभरने का कोई रूप सामने नहीं आता । मृत्यु भय से आक्रान्त योके को लगता है कि वह गंध और कहीं से नहीं आ रही है बल्कि उसकी देह की तहखानों से आ रही है "वह दरवाजें से उठ गयी और खिड्की के पास गयी । फिर उसने एक गिलास उठाकर खिड्की के बाहर से उसमें बर्फ भरी और बर्फ की मुट्ठिया बांधकर उससे अपने हाथ, अपनी बाहें, अपना चेहरा रगडने लगी .... व्यर्थ..... वह गंध छूटती नहीं, वह योके में भीतर तक बस गयी है । वह योके की अपनी गंध है योके ही वह गंध है । उसने एक बार विमूढ भाव से अपने हाथ की ओर देखा, फिर गिलास उठाकर सूंघा ---- उर्फ बर्फ भी मृत्यु गंध से भरी हुई थी। या कि उसके स्पर्श से ही वह गंध बर्फ में बस गयी है[1]" ।

सेल्मा की मृत्यु के बाद योके को अकेलापन इस तरह उद्वेलित कर देता हैकि यह प्रश्न उसके सामने उभर उठता है इस चरम अकेलापन और मृत्यु में क्या अंतर है[2] ? मृत्यु-भय, उसे और संत्रस्त करता है ।

असल में मृत्यु-भय व्यक्ति को जीवन का स्वाद लेने नहीं देता । मृत्यु से भयभीत व्यक्ति या तो दूसरों की हत्या करता है या अपनी । योके ने यही किया । पहले उसने सेल्मा का गला दबाकर मारने का असफल प्रयत्न किया, फिर स्वयं आत्महत्या की[3] ।

हम देखते हैं कि बर्फ से घिरे काठ-घर में रहते हुए योके स्वयं हत्या करने की बेबसी में मचल उठती है । वह कभी कभी सोचती है कि अपने बाल नोच लूं, आइने के सामने खडी होकर अपने को मारूं, छोटी कैंची उठाकर अपने गलों में चुभा लूं, अपने माथे, नाक, कान, ठोडी पर घाव कर लूं कि पानी का

---

1. अपने अपने अजनबी - पृ.96
2. वही - पृ.109
3. एक बूंद सहसा उछली - अज्ञेय - पृ.316

जग उठाकर आइने पर पटक कर उसके और आइने के भी टुकडे टुकडे कर दूं । आइने के भी और उसमें झांकते हुए अपने प्रतिरूप के भी जो इतनी बेहयाई से मुझे ताकता है और मेरी सब अराजक जिंघासाएं वापस मेरे मुंह पर मारता है"[1] ।

हमने सूचित किया है कि बामू की यही मान्यता है कि विसंगत जीवन से छुटकारा पाने का, एक ही तरीका है आत्मघात । आखिर योके यही करती है और अपनी असफलताओं से उभर पाती है । योके जिस प्रेमी की याद में बर्फ के कैद के दु:ख भूलती थी, वही छुटकारे के बाद उसे तिरस्कार करता है । इसका कारण भी है । बर्फ की केद से मुक्त योके को सुनसान जगह में अकेली पाकर जर्मन सैनिक उसका बलात्कार करते हैं । प्रेमिका को कलंकित समझकर प्रेमी आखें फेर लेता है । हताश योके मरना चाहती है । लेकिन वह भी सेल्मा और मीरसाल की भांति कुछ सहारा चाहती है । उसे एक अच्छे आदमी की तलाश है।और युद्ध के आतंक से ग्रास्त शहर में अजनबियों की भीड में आसमान के फरिश्ते के समान आ जाता है, जगननाथन । योके उसकी बाहों में जहर खाकर मरती है । मरते वक्त वह जगन्नाथन से क्षमा मांगती है । ईश्वर को भी वह माफी देती है । यह उसके आ शील-विकास का सूचक है । सेल्मा की मृत्यु के बाद ही उसमें क्षमा-महिमा के विचार ज़ोरों से उठे थे- "क्या कहीं भी ईश्वर है, सिवा मानवों के बीच के इस क्षमता याचना के संबन्ध को छोडकर ? यह क्षमा तो अभ्यास नहीं है, याचना भी अभ्यास नहीं है, तब यह सच है और ईश्वर है तो कहीं गहरे में इसी में होगा"[2] ।

योके भी इस अहसास से अभिभूत होता है कि इस दुनिया में रहते मनुष्य वास्तव में बहुत अकेला है, अस्वतंत्र है । सेल्मा ने कहा था कि वरण की स्वतंत्रता कहीं नहीं है, हम कुछ भी स्वेच्छ: से नहीं चुनते हैं, ईश्वर भी शायद स्वेच्छाचारी नहीं है, उसे भी सृष्टि करनी ही है क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है[3] । काठ घर से मुक्त होकर प्रेमी द्वारा तिरस्कृत योके भी अनुभव करती है कि कहीं भी वरण की स्वतंत्रता नहीं है । हम अपने बंधु का वरण नहीं कर सकते, और अपने अजनबी का भी नहीं .... हम इतना भी स्वतंत्र

---

1. अपने अपने अजनबी - पृ.37
2. वही - पृ.111

नहीं है कि अपना अजनबी भी चुन सकें[1]। आखिर जिदगी को ही केन्सर माननेवाली योके विष पीकर उद्घोष करती है कि मैं ने चुन लिया, मैं ने स्वतंत्रता को चुन लिया। मैं बहुत खुश हूँ। मैं ने कभी कुछ नहीं चुना। जब से मुझे याद है कभी कुछ चुनने का मौका मुझे नहीं मिला। लेकिन अब मैं ने चुन लिया, जो चाहा चुन लिया। मैं खुश हूँ[2]। यहाँ मृत्यु की बेबसी और आत्महत्या के चुनाव में कोई अंतर नहीं है। योके भी अस्तित्ववादियों के समान यही स्थापना करती है कि मानव को चुनाव करना ही पड़ता है चाहे मृत्यु ही क्यों न हो। मानव चुनने केलिए अभिशप्त है।

वास्तव में मृत्यु मानव-जीवन की निरुपाय स्थिति है। मानव का अनिवार्य अभिशाप है। उसे अस्वीकार करने की क्षमता या स्वतंत्रता मानव में नहीं है। अज्ञेय इस सत्य की बुलन्दी के लिए ही मृत्यु-साक्षात्कार की स्थितियों के जीवन्त चित्र "अपने अपने अजनबी" में उतारे हैं जिनमें दो का विवेचन हम कर चुके हैं - सेल्मा की मृत्यु और योके का आत्मघात। मृत्यु-साक्षात्कार की एक और घटना फोटोग्राफर का आत्मघात है। बाढ के कारण टूट कर लटते हुए पुल पर सेल्मा, यान और फोटोग्राफर फंस जाते हैं। सेल्मा के व्यवहार से फोटोग्राफर बुरी तरह हताश होता है। उसे सेल्मा से पीने का पानी भी नहीं मिलता है। आखिर निरर्थकता और अनिश्चितता से बचने के लि पुल पर से पागल की छलांग लगाकर मृत्यु का वरण करता है।

यहाँ यह देखने की बात हैकि अज्ञेय ने मृत्यु साक्षात्कार की इन घटनाओं को एक अलग दृष्टिकोण से देखा हैं। अस्तित्ववादी मृत्यु बोध के सूक्ष्म क्षण का विश्लेषण करते हैं क्योंकि उनके लिए मृत्यु-साक्षात् का क्षण ही चरम जीवन बोध का क्षण है। लेकिन अज्ञेय ने मृत्यु के साक्षात क्षण को नहीं, कालव्यापी परिस्थिति को अन्य सब परिस्थितियों से अलग करके एकान्त भाव से देखने और समझने का प्रयत्न किया है और इसीलिए उन्होंने असाधारण परिस्थितियों का चुनाव भी किया है[3]।

---

1. अपने अपने बजनबी - पृ.101
2. वही - पृ.109
3. एक बूंद सहसा उछली (लेखक का परोक्ष स्पष्टीकरण) - पृ.258

वे दिन

"वे दिन" में मृत्यु का वर्णन नहीं है । लेकिन सारे उपन्यास में मौत की रेंगती छाया है । हर पात्र की मानसिकता में मृत्यु - बोध की सघनता है । कथानक का परिवेश यूरोपीय या यूरोपीय युद्धोत्तर जीवन की पृष्ठ भूमि है । और कथानक युद्धोपरांत मोहभंग की मानसिकता तथा मृत्यु से बचकर आए युवा-पीढी के जीवन की जिजीविषा से जुडा हुआ है ।

रायना अपने लड्का मीता के साथ वियन्ना से प्राग आयी हुई है । इन्टरप्रेटर के रूप में एक भारतीय छात्र से उसका परिचय होता है । दो दिनों के अंतराल में इनका परिचय शारीरिक परिचय की ओर बढ जाता है ।

रायना के जीवन का एक हिस्सा युद्ध में बीत चुका है । युद्ध की विभीषिकाएं उसके मन में गहरे रूप में धंस गयी है । रायना अपने इन्टरप्रेटर से पूछती है - "क्या तुम ने कैंप देखे हैं । लडाई के दिनों में वे हर जगह थे । जाक (रायना का पति) वहां रहता था और मरा नहीं"[1] । कभी कभी इन्टरप्रेटर के साथ चलती चलती रायना महसूस करती हैकि वह नहीं है, जैसे लडाई कभी नहीं हुई है[1] । कभी ऐसा एहसास भी होता हैकि युद्ध के पूर्व तो वह जीती थी, पर उसके बीच और उसके बाद वह जीना भूल गयी है । वह कहती है - "हां मैं काफी छोटी हूं । अगर तुम लडाई के साल बीच में से निकाल दो । और वे सब साल बाद में आए थे"[2] ।

विगत युद्ध की भीषण-स्मृतियों से केवल रायना ही नहीं, सभी पात्र आक्रान्त है । फ्रान्ज का बचपन लडाई में बीता था । युद्ध की भीषण छाया अब भी उसके जीवन व्यवहार में मंडरा रही है । वह भारतीय छात्र से कह रहा है - "तुम्हें अपना बचपन लडाई में गुजारना नहीं चाहिए । वह जिन्दगी भर पीछा नहीं छोडती"[3] । इन स्मृतियों के साथ पात्रों की मानसिकत

---

१. वे दिन - पृ.124

२. वही - पृ.114

में सधन पडी मृत्यु-चेतना कभी उजागरित होती है और सब ठिठक जाते हैं "टी·टी· भारतीय छात्र से कह रहा है - "एक बार मैं उँचे टॉवर पर चढा था । तुम जानते हो ···· उस दिन मैं ने पहली बार मृत्यु के बारे में सोचा था । उस दिन मुझे काफी हैरानी हुई थी, क्योंकि उससे पहले मैं ने कभी इसके बारे में नहीं सोचा था"[1] ।

"वे दिन"के पात्र भय, संत्रास और आतंक से भी पीडित हैं । सर्वत्र भय रेंगता सा प्रतीत होता है । खुशी डरावनी बन जाती है, स्वर फुसफुसाने लगता है । "भय और खुशी के साथ तुम ज्यादा देर नहीं रह सकते ····· सिर चकराने लगता है, जैसे तुम हवा में टँगी रस्सी पर चल रहे हो"[2] । और इस भ्रम के बीच कही न कहीं निराशा दबी पडी है, व्यक्ति मानो जीना नहीं चाहता, आखिर उसकी चाह है " मरने का"[3] ।

संत्रास एकांत भय की स्थिति है । निपट अकेलापन की स्थिति जहां आदमी भीड में होने पर भी अकेला [illegible] हो । पर जब आदमी बाहर निकलकर दूसरे आदमी से कोई रिश्ता बना लेता है तब वह रिश्ता उसे राहत देती है । डर को भगाता है । रायना का मन संत्रस्त था । उसे इन्टरप्रेटर सहारा देता है । वह डर को भगाने का श्रम करता है । वह उससे कहता है - "इट इस नथिंग····· तुम बार बार अपने से कहते हो कि लगता है, तुम डर गए हो । यह कुछ नहीं है । डर कभी इतना हास्यास्पद नहीं होता । होता नहीं । वह है, फिर नहीं है । जलती-बुझती बत्ती सा"[4] । हम ने सूचित किया था कि हेडगर की राय में संत्रास का सबसे बडा लक्षण यह है कि वह किसी भी वस्तु के साथ कार्यकारण रूप में संबंध नहीं किया जा सकता । वह जितनी भी कोशिश की जाय, पकड में नहीं आता हाथ से छूट जाता है ।

1· वे दिन - पृ·153
2· वही - पृ·120
3· वही - पृ· 88
4· वही - पृ· 62

इस भय और संत्रास के साथ किसी "अज्ञात" भी "वे दिन" के हर पत्र का पीछा करता रहता है। इन्टरप्रेटर महसूस करता है कि कोई तीसरा आदमी उनका पीछा कर रहा है - "पहली बार उस शाम को मुझे आभास हुआ मानो हम तीनों के अलावा कोई और व्यक्ति है जो हमेशा हमारे बीच में है । उसे हम देख नहीं सकते, किन्तु वह हमसे अलग नहीं हो सकता"[1] । इस अज्ञात का एहसास रायना के साथ शारीरिक संपर्क के वक्त भी उसे आतंकित करता है - "मेरे पास उसका चेहरा था····· पिछले दिनों की पहचान के बाहर पर उस "अज्ञात" ने मुझे आतंकित सा कर दिया, किंतु कुछ देर केलिए"[2] ।

असल में सभी पात्र एक अभिशप्त मानवीय स्थिति और नियति से बंधे हुए हैं, उससे छूटना चाहते हुए भी छूट नहीं पाते हैं । रायना और भारतीय छात्र अपनी इस नियति को जानते हैं, इसलिए प्रेम उनकी आकांक्षाओं का स्वर्ग नहीं है । अकेलापन और संत्रास के घोर अंधेरे में वे लगभग टटोलते हुए एक दूसरे का हाथ पकड लेते हैं, क्षण की अनुभूति से उद्भूत सुख और संतोष की लहर से वे गुजर जाते हैं और फिर अलग हो जाते हैं । अपने अपने में ताबूत में खो जाते हैं ।

यों वे दिन में मृत्यु का साक्षात्कार नहीं है बल्कि मृत्यु के आतंक और संत्रास एक डरावने साँप से सभी पात्रों के रग रग में रेंग रहे हैं और पल पल संत्रस्त हो जिंदगी गुजारने बाध्य कर रहे हैं ।

चलता हुआ लावा

पूर्णत: मृत्यु के परिप्रेक्ष्य में तथा पूर्व दीप्ति (फ्लाष बाक) शैली में लिखा गया उपन्यास है - "चलता हुआ लावा" । एक मृत घोषित व्यक्ति

---

1. वे दिन - पृ. 128
2. वही - पृ.208

अपने जीवन की जीवन्त घटनाओं का प्रत्यवलोकन कर रहा है ।

उसकी एक नयी तरह की मौत हो गयी है । उसकी धड़कनें चल रही हैं और "टेकनिकली" वह जिन्दा है । उसका दिमाग शायद ही लौट आएगा, फिर भी उसे मरा हुआ जान लेने में कोई हर्ज नहीं है । डाक्टर ने "डेथ सर्टिफिकेट" भी दी है । और चार लोग उसे अर्थी में लिटाके बांधकर दक्षिण कलकत्ता के सबसे पवित्र श्मशान घाट "केवड़तल्ला" ले जा रहे हैं । यात्रा के बीच उसका दिमाग लौट आता है और वह काम करने लगता है । बीती घटनायें एक एक होकर उभर आती हैं । श्मशान पहुंचकर संस्कार के लिए इन्तजार करते करते, बन्धन काटकर भागने तक यादों का सिलसिला जारी रहता है।

उसका संपूर्ण व्यक्तित्व मृत्यु-बोध से सधन है । परिवेश मृत्यु गंध से भीगा भीगा है और उसके ईदगिर्द घूमनेवाले सभी व्यक्तित्व मृत्यु-संत्रास की सनसनीखेज स्थिति से गुजरते जाते हैं ।

उसका बड़ा परिवार था । उस परिवार में हमेशा कोई न कोई मरता रहता था । इसलिए बचपन से ही मृत्यु का वह आदी हो जाता है और यहां तक कि मृत्यु का खेल खेलने की भी उसकी आदत पड़ जाती है । बच्चे मिलकर यह सोच लेते कि उनमें कोई मर गया है । फिर उत्साह से अर्थी सजाई जाती, मुर्दे को उस पर लिटाया जाता । कई बार मुर्दे बनते वक्त वह हंस देता था । दूसरे बच्चे उसे पीटते कि लाश को हंसना नहीं चाहिए । तब से उसके मन में यह विश्वास जम गया कि लाश बनना कठिन काम है[1] ।

वह क्लर्क है । उसकी शादी सामाजिक ढंग से माता-पिता द्वारा होता है और पहली रात ही पत्नी द्वारा उसका दिमाग खराब कर दिया जाता है । वह पत्नी के कंधे पर हाथ रखते ही पत्नी कहती है - "आप

---

[1] । चलता हुआ लावा - पृ।१७

कविता सुनाइए"[1] उसकी चुप्पी देखकर वह और रोमानी ढंग से कहती है "पहली रात को सब कविता सुनाते हैं"[2]। वह पूरी तरह घबरा जाता है। सुबह पिता को अलग ले जाकर कहता है "मैं इस लड़की के साथ नहीं रह सकता"[3] शादी के तीन महीने बाद उसे लगने लगता हैकि उसने शादी नहीं की है बल्कि समाज सुधार का काई ठेका ले लिया है। पत्नी के साथ रहते उसके दिन वैसे ही शुरू हो जाते हैं जैसे किसी विधुर के दिन हो। उसे हमेशा यह याद रहता है कि उसकी पत्नी मर गयी है और जिन्दा रहना भी मुश्किल कर रही है।

एक दिन "पे" (Pay) मिलते ही उसको मिठाई लाते हुए देखकर पत्नी बोलती है - "मुझे नहीं खाना। हम कोई बच्चे हैं जो आप मिठाई से बहला रहे हैं"[4]। तब उसे अपनी ओर सटाने की कोशिश करता है वह। लेकिन वह तुनककर बोलती है - "जैसे मिठाई बहलाने का तरीका है, वैसे ही यह भी तरीका है। आप जानते हैं कि औरत यहाँ तो कमजोर ही पड़ेगी"[5]। सहसा वह हाथ झटाकर कहता है "यह "टेकनीक" है तो तुम्हें कभी नहीं छुऊँगा"। इस पर पत्नी तैश में आकर एक भयंकर बात कहती है "यह भी सुन लो कि अगर मुझे छुआ तो उसका मतलब होगा कि अपनी माँ के शरीर को छुआ है"[6]।

हकीकत में उसे पत्नी की जरूरत ही नहीं क्योंकि पत्नी का मतलब उसके लिए केवल यही है कि वह उसका जीवन "शेयर" करनेवाला अस्तित्व है। और पत्नी की दृष्टि में वह एक नाकाबिल आदमी है। यह वह कहती भी है "हर मामले में नामर्द हो तुम। कभी कुछ नहीं कर पाओगे"[7]।

---

1. चलता हुआ लावा - पृ.36
2. वही - पृ.36
3. वही - पृ.36
4. वही - पृ.58
5. वही - पृ.58
6. वही - पृ.58
7. वही - पृ.47

पति-पत्नी के बीच का तनाव बढ जाता है कि एक दिन पत्नी आत्महत्या करने की कोशिश करती है । वह फ्लिट पी लेती है । पति बेहताशा उसे टैक्सी में अस्पताल ले जाता है । दूसरे दिन वह ठीक हो जाती है । पर घर में अलग कमरे में रहने लगती है । पति पर इसका बुरा असर पडता है । तनाव सीमा लांघता है और दोनों अलग हो जाते हैं ।

दिनों के बाद उसकी एक "स्मार्ट गर्ल" "गुड्डम" से मुलाकात होती है गुडडम के नाम पूछने पर वह अपना परिचय यों देता है - "मेरी शादी हो चुकी है । मैं पिता हूँ । मैं ने आत्महत्या की कोशिश की है। मैं अब ऐसे बिन्दु पर खडा हूँ कि मेरे सांस लेने का कोई मतलब नहीं, मैं खुद कई बार आफिस में जब भी फुरसत में होता हूँ तो यह लिखा करता हूँ, किसी न किसी कागज़ पर कि मैं मर चुका हूँ, केवल यह कसर है कि चार भले लोगों को बुलवाकर मेरे जबरदस्ती चलने-फिरने को कुर्क करवा दिया जाए । और स्टेटसमान के "डेथ कालम" में यह छपवा दिया जाना चाहिए कि मैं फलां-फलां तारीख को मर चुका हूँ"[1] । यह सच भी है । उसने पत्नी से विदा होने और गुडडम से मिलने के अंतराल में बार बार आत्महत्या करने की कोशिश की और मृत्यु के संबन्ध में काफी ज्ञान भी प्राप्त किया कि "मौत एक बेहोशी है, एक गहरी नींद, घना अंधेरा, दूर तक सूना आंगन, सीलन भरा तलघर, एक लगातार उलझन, किसी क्षण सांसों का बिखर जाना, एक ऐसा चक्रव्यूह कि हम निर्णय ही न ले पायें, एक ऐसी स्थिति कि हमारा समर्थ मस्तिष्क काम न कर पाए, सोच न पायें हम हाथ उठाना चाहे, तो हाथ न उठा पायें..... ये सब चीज़ें अगर सघन हो जायें और वैसा ही वैसा लगातार होता रहे तो एक क्षण पहले जिसे हम जिन्दगी का टुकडा कहते हैं उसे ही मृत्यु कह सकते हैं"[2] ।

फिर दोनों प्रेम करने लगते हैं । लेकिन इनका अजीब प्रेम है । दोनों "रोमान्स" में दिलचस्पी नहीं रखते या जानते ही नहीं । दोनों को

---

1. चलता हुआ लावा - पृ.59
2. वही - पृ.97

उसकी "एलर्जी" है । उनकी मेरी स्थिति हो जाती है कि प्रेमी को शायद "ह्योमांस" से जुकाम हो जाय तो प्रेमिका को निश्चित ही उससे उबकाइयां आने लगेंगी । एकाध बार ऐसा होता भी है कि उससे मिलकर गुडडम बोलती है - "आज उलिटयां आ रही हैं"[1] । कारण पूछने पर वह कहती है "आज तुम्हारे शरीर से बडी छायावादी गंध आ रही है"[2] ।

दोनों का हर पल मृत्यु-चिन्तन से ही गुजरता लगता है और उनके बीच रोग, आत्महत्या तथा मृत्यु की ही चर्चा होती रहती है । एक बार वह गुडडम को संबोधित करते हुए कहता है - "देखो, गुडडम अगर कल से तुम्हें टी·बी· घोषित हो जाये या मुझे कैंसर तो उससे क्या अंतर पडता है, मैं तो उदास भी नहीं होऊंगा । अगर डाक्टर कह दें कि तुम दोनों दो महीने बाद मर जाओगे तो हम "टाइम एलिमेंट" वाले सिद्धांत को उठाकर फेंक देंगे । हम किसी सबेरे ही एक साथ रहना शुरू कर देंगे । जैसे "मोकम्बो" में लंच केलिए सीट रिज़र्व करवाई है वैसे ही किसी अस्पताल में दो बिस्तर रिज़र्व करवा लेंगे"[3] । एक दिन मरने के संत्रास तथा भीषणता की भी चर्चा होती है । वह सुनाता है कि "हम किसी पुल पर से गुजर रहे होते हैं और सहसा ऊपर की कमानियों पर बैठे सारे गिद्ध हम पर टूट पडते हैं, कोई एक आंख ले भागता है, कोई एक नाक छीन ले जाता है और बात की बात में हमारा अंग-भंग हो जाता है । तभी कई सारे गंदे कुत्ते हमारा पीछा करने लगते हैं हम सीढियां उतरते जाते हैं और आगे एक अंधेरा तलघर दिखायी देता है । फिर हम दौडते-दौडते एक अग्निकुंड में जा गिरते हैं । उस समय उस आग में से केवल हडडी के कुछ ढांचे उठते हैं और वे हमारे शरीर पर भुना जा रहा मांस नोच नोच कर खाने लगते हैं"[4] ।

1· चलता हुआ लावा - पृ·82

2· वही - पृ·82

3· वही - पृ·82

4· वही - पृ·76

वह एक दिन "हाराकीरी" फिल्म का टिकट "ब्लैक" में खरीदता है वह टाल देती है - "छोडो, उस फिल्म को नहीं देखते, इसमें वही आत्महत्या फिर देखें, "मूड ओफ" होगा"[1]। वह जिद करता है कि उसे ही देखेंगी। फिल्म देखते हुए दोनों उसमें डूब जाते हैं। कुछ देर बाद वह कहता है - "नहीं भाई, मुझसे हाराकीरी नहीं हो सकती"[2]। और गुडडम को चुप देखकर वह पूछता है "क्या तुम कर सकती हो"[4]। वह दृढ होकर बोलती है "मैं इससे भी ज्यादा मुश्किल हाराकीरी कर सकती हूं"[4]।

और एक दिन गुडडम आत्महत्या करने की कोशिश भी करती है। इसके कारण भी थे। उसके घरवाले अनजाने ही उसके प्रेम में बाधायें उपस्थित करने लगे। माता वर ढूंढने लगी। एक दिन वह उससे कहती भी है "अच्छा घर ढूंढेंगे, ढंग का लडका देखेंगे, सलीके से शादी करेंगे"[5]। लेकिन गुडडम की राय में यह सब बोर "प्रोसस" थी। इसलिए यों ही टाल देती है। एक दिन प्रेमी उससे बहुत बिगडी बातें कहता है जिससे वह पूर्णत: "मूड ओफ" हो जाती है और उदास हो लेट जाती है। उसकी नींद गायब। आंखें पत्थर सी हो जाती हैं। और करवटें बदलते बदलते वह हैरान हो जाती है, आखिर "बाथरूम" जाकर सिर धो लेती है कि बुखार कम हो जाए। पर बुखार कम न होता है। तो वह एकाएक उठकर गलास भर पानी लाती है और नींद की गोलियां खा लेती है। धीरे धीरे वह मौत महसूस करने लगती है। उसे ऐसा लगता है कि किसी ने उसे बाहों में उठा लिया है। और हाथों में वह झुला रहा है और फिर उसने उसे सारी ताकत लगाकर कहीं फेंक दिया है। फिर भी मौत उसे ऐसी नहीं लगीं जैसे प्रेमी ने उससे कहा था। बाद में वह उसे लिखती भी है - "मुझे तो लगा जैसे किसी ने मेरे स्वागत के लिए मखमल विछा है और ऊपर से फूल बरस रहे हैं। तुम ने मौत को एक गंदी और लिजलिजी चीज के रूप में

---

1. चलता हुआ लावा - पृ. 59-60
2. वही - पृ.59-60
3. वही - पृ.59-60
4. वही - पृ.59-60
5. वही - पृ.88

देखा है, वैसे ही मैं ने उसे एक चमकते हीरे के रूप में देखा है । और यह बात तुम्हें अच्छी नहीं लगेगी कि मरते समय तुम याद नहीं आये"[1] ।

यह बात प्रेमी को बुरी तरह खटकती भी है क्योंकि उसने उससे कहा था कि तुम इसलिए कभी मर नहीं पाओगी कि तुम्हें मेरा ख्याल आयेगा और मेरा ख्याल तुम्हें मरने नहीं देगा[2] । गुड्डम बच जाती है और उस आत्महत्या की कोशिश उसकी आखें खोल देती है । लेकिन इससे यह स्थापित हो जाता है कि प्रेमिका उसे कितना दूर समझ रही थी । प्रेमी तो सोते, उठते और बैठते एक मिनिट भी उससे अलग नहीं रह सका था और प्रेमिका को गोलियां खाते वक्त उसका ख्याल भी नहीं आया और यह नहीं सोची कि एक के अन्याय की सजा दूसरे निरपराध को फांसी भी दे सकती है[3] । इसका फल यह होता है कि वह "गुडडम" से "गुड बै" कहता है ।

गुड्डम से विदा होकर वह कहीं कहीं घूमता रहता है । आखिर दार्जिलिंग की चढाई पर चढते चढते उसके मन में यह ख्याल आता है कि मृत्यु किसी कारण से नहीं होती है । वह एक निश्चय के रूप में मन में पक्का हो जाता है और फिर भले किसी भी बिंदु पर हम अपने को खतम कर लें··· पत्नी से झगड़ा हो जाने पर, ट्रेन का शीश गरदन पर गिर जाने के क्षण, या ऐसे ही हांफते हुए"[4] ।

यों चढते चढते वह गिर जाता है जिसकी वजह से वह अब परिनिर्वाण की स्थिति में लेटा है । लेटे हुए वह सोचता है क्या ऐसे लेटे रहने में शांति है," उस समय न पत्नी का ख्याल कि उससे तलाक लेना है या उसे खर्च का

1· चलता हुआ लावा - पृ·91-92

2· वही - पृ·93

3· वही - पृ·93

4· वही - पृ·105

रूपया देना है, न यह विचार कि मेरे बच्चे की उम्र चार साल की होगी और उसे किसी बेहतर स्कूल में दाखिला दिलवाना है, न मां की फिक्र कि वे जिन्दा है या मर गयीं और न झंझट कि दस बज गये आफिस जाना है सो शेव करें, कपडें पहनें न ही गुड्डम की याद·····"[1]।

लेकिन इस बात से वह पूर्णत: अवगत है कि यधपि एक छोटा सा रास्ता पार कर चार लोग उसे केवड्तल्ला लाये हैं, लेकिन हकीकत में वह उस जगह एक लंबा रास्ता पार करके ही आया है । "शादी के लिए चमकदार कपडे पहनकर निकलें या सारा सामान ढोकर शहर बदलें या चौरंगी में से खाली जेब गुजरें···· वह सब लंबाई रस केवड्तल्ला तक ही हमें पहुंचाती है"[2]। फिर भी वह एक त्रासद संघर्ष में है । वह मृत घोषित कर जाने पर भी इस संघर्ष में है कि वह मरा नहीं है, लेकिन वर्षों से वह अनुभव करता आ रहा है कि वह बहुत पहले ही मर चुका है । यों त्रिशंकु की भांति वह शून्यता में कहीं लटक गया है ।

यों इस उपन्यास में मृत्यु अपनी संपूर्ण विकरालता एवं भीषणता के साथ उभर आयी है । मृत्यु के विभिन्न रूपों एवं उसके निदान के विभिन्न आयाम का संत्रस्त परिवेश में कलात्मक आकलन हो पाया है । अत: यह संपूर्ण रूप में मृत्यु की नींव पर बना उपन्यास है, इसीलिए ही अस्तित्ववाद के प्रभाव की बात तर्कातीत है ।

निष्कर्ष

हिन्दी के कतिपय उपन्यासों में ही अस्तित्ववादी अवधारणाओं के आधार पर मृत्यु की अभिव्यक्ति हुई है । शेखर एक जीवनी में ही इसकी

1· चलता हुआ लावा - पृ·102

2· वही - पृ·48

शुरूआत होती है । शेखर में बचपन से ही मृत्यु के प्रति मोह है । यह मोह फिर सिद्धि मान लेने की ओर बढता है । लेकिन कामू के मीरसाल की भाति जीवन के प्रति अनासक्त भाव शेखर में नहीं है । और ठोस अनुभवों के अभाव में शेखर की मृत्यु संबन्धी धारणाएं सतही लगती हैं ।

"अपने अपने अजनबी" की सेल्मा कार्ल जास्पर्स के समान ही मानती है कि मनुष्य पूर्वनिश्चित परिस्थितियों के चंगुल में जीवन बिताने के लिए अभिशप्त है । परिस्थितियों को बदलने या वरण करने केलिए वह सक्षम नहीं है । कामू भी मानते हैं कि जीवन की विद्रूपताओं को स्वीकार कर उनके प्रति विद्रोह करने में ही जीवन की सार्थकता है । उन्होंने इसकी भी सूचना दी है कि जीवन की निरर्थकता से बचने का एक उपाय आत्महत्या है । योके यही करती है ।

"वे दिन" में मृत्यु व मृत्यु साक्षात्कार का वर्णन नहीं है । लेकिन सारे उपन्यास में, मृत्यु-संत्रास की रेंगती छाया है । सभी पात्र एक अभिशप्त स्थिति से गुजर रहे हैं । "चलता हुआ लावा" पूर्णत: मृत्यु के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया उपन्यास है । मृत्यु के विराट सत्य की भी घोषणा इसमें हुई है ।

****

सातवाँ अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में मूल्य विघटन

सातवाँ अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में मूल्य विघटन

प्रारंभिक अध्याय में सूचित किया गया है कि वैज्ञानिक विकास से उद्भूत औद्योगिक क्रांति ने पूंजीवाद को जन्म दिया । पूंजीवाद फिर साम्राज्यवाद में बदल गया और इससे दो विश्वमहायुद्ध फूट निकले । महायुद्धों के नरसंहार तथा उससे उत्पन्न विशृंखल परिस्थितियों ने परंपरागत मूल्यों को विघटित कर बेमानी सिद्ध कर दिया । इनकी वजह से ही पारिवारिक तथा सामाजिक मान्यताओं में दरारें पड गयीं । लेकिन इसके साथ ही नवीन परिस्थितियों में नवीन मूल्यों की संरचना के लिए ज़मीन भी तैयार कर दी ।

महायुद्धों के तुरंत बाद सारा विश्व एक सांस्कृतिक संकट से गुजरता रहा । इसके कारण भी थे । यह सूचित किया गया है कि समस्त मध्यकाल में निखिल सृष्टि, मानव जीवन तथा जीवन-मूल्यों का नियंता किसी मानवोपरी सत्ता को माना जाता था । लेकिन आधुनिक युग में प्रवेश करते करते इस अलौकिक सत्ता का अवमूल्यन हो गया । मानव की प्रतिष्ठा हो गयी । पर महायुद्धों ने फिर इस प्रतिष्ठा को हिला दिया । मानव ने अपने को दिग्भ्रान्त पाया । अपनी नियती के तथा इतिहास निर्माण के दायित्व के क्षेत्र से मानव की वरीयता

---

1. नित्शे द्वारा ईश्वर की हत्या की घोषणा तथा अतिमानव की कल्पना

निषेध होने लगा । इस संदर्भ में सार्त्र जैसे आधुनिक अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने अपने अनुभवों के प्रकाश में मूल्यों के क्षेत्र से ईश्वर को पूर्णत:निष्कासित किया और मूल्यों को आत्म केन्द्रित मानकर उनके निर्माण एवं परिवर्तन की नियामक शक्ति के रूप में मनुष्य को प्रतिष्ठित किया ।

विश्व में उपन्यास और पूंजीवाद का विकास समानांतर हुआ है । अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में ही दोनों के बीज पडे थे । फिर पूंजीवाद के विकास के साथ ही उपन्यास में भी व्यक्ति स्वातंत्र्य की बुलन्दी, फिर उसके साम्राज्यवाद में बदलने पर व्यक्ति मन की कुंठा आंतरिक उलझन आदि भी स्पष्ट दिखायी पडे[1] । महायुद्धोत्तर उपन्यास साहित्य में भी तत्कालीन मानवीय संकट के विविध भावों का - विषाद, निराशा दुश्चिन्ता, और बेचैनी की प्रतिध्वनि मिलती है । धर्मवीर भारती ने पश्चिम के इस विकराल संकट को एटिथसिटवेल की पंक्तियां उद्धृत करते हुए व्यक्त किया है "अपने हृदय पर कीलों से ठुकी हुई जैसे सलीव पर चोर । मैं लटक रही हूं बीचोबीच "जीसस" के और इस खाई के - जहां इस संसार का अंत हो गया है ।" भारती की राय में यह सिटवेल की ही नहीं समस्त यूरोप की ही स्थिति रही थी । उस समय पश्चिम की समस्त व्यवस्था तूफान में पडे हुए ऐसे जहाज की तरह हो गयी थी जिसके पाल फट चुके हैं, पतवारें टूट चुकी हैं, माझी बेकाम हो चुके हैं । उत्ताल लहरों पर निरूद्देश्य डोलता हुआ एक विशाल पोत[2] । यह संकट केवल पश्चिम या पूर्व का ही नहीं वरन समस्त विश्व का रहा और विश्व-साहित्य में विभिन्न रूपों में प्रकट हुआ ।

भारत भी इस संकट से अछूता न रहा । रचना परिवेश के संदर्भ में भारतीय परिस्थितियों का हम ने विश्लेषण किया था, फिर भी मूल्य-विघटन के परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन सामाजिक जीवन की गतिविधियों के आकलन की जरूरत है

---

1. मानव-मूल्य और साहित्य - डा॰धर्मवीर भारती - पृ॰46
2. वही

बीसवीं शताब्दी में भारतीय सामाजिक क्षेत्र की सबसे बडी घटना थी संयुक्त परिवार का विघटन और "केन्द्रक" परिवार - जिसमें केवल पति-पत्नी और संतान होते हैं - का प्रस्फुटन । "इसके कारणों में औद्योगिक क्रांति, यातायात की सुविधा, जनसंख्या में वृद्धि, नगरीकरण, स्वतंत्रता और समानता के आदर्श, स्त्रियों की आधुनिक शिक्षा आदि प्रमुख हैं"[1]।

दूसरी प्रमुख घटना थी, भारतीय संस्कृति का आधार स्तंभ विवाह-प्रथा में समूल क्रांति । भारत में प्रेम विवाह को कानूनी सुरक्षा और मान्यता मिल गयी । ऊंच-नीच जाति के बीच विवाह सर्वसाधारण हो गया और इसके साथ ही विवाह केलिए जो यौन-पवित्रता की मांग रहती थी, उसमें ढीलापन आ गया । विवाह धार्मिक अनुष्ठान न रहकर स्त्री-पुरुष के बराबरी के स्तर पर होनेवाला समझौता मात्र हो गया ।

नवीन परिस्थितियों के संदर्भ में नर-नारी संबन्धों में भी परिवर्तन हुआ । स्त्री भी पुरुष के साथ कंधे से कंधे भिडाकर चलने लगी । सभ्यता ने उसकी स्वतंत्रता को स्वीकारा । कानून ने उसे बराबरी का हक दिया । आधुनिक शिक्षा ने उसमें स्वाभिमान का भाव भरा । यों सभ्यता कानून और शिक्षा ने उसके शारीरिक बेडियों को काट दी[2] ।

लेकिन वास्तव में भारतीय समाज में नारी को असली मुक्ति नही मिली है । यद्यपि उसे प्रेम, विवाह तथा यौन कर्म में थोडी स्वच्छन्दता मिली है फिर भी वह अब भी इस पुरुष-मेधा समाज में पुरुष का गुलाम है । संस्कारों में वह प्राचीना ही रही है । पुरुष अब भी स्त्री को सामंतीय संस्कारों में आबद्ध रखना ही चाहता है । सीता की कल्पना अब भी समाज में प्रज्ज्वलित है अत: नारी ने फैशन के रूप में ही आधुनिकता को ओढ लिया है । वह इस विभाजित व्यक्तित्व से सदा संत्रस्त रही है ।

---

1. हिन्दी वाङ्मय - बीसवीं शती - संपादक डा॰नगेन्द्र - पृ॰6।
2. वही - पृ॰185

और आधुनिक युग में भी भारत का सामाजिक-जीवन अंतर्विरोधों से भरा पडा है । एक ओर औद्योगिक तथा तकनीकी प्रगति से उद्भूत नयी चेतना के कारण परंपरागत रूढियों और मूल्यों को नकारने की प्रवृत्ति है तो दूसरी ओर सामंतीय संस्कार के ही अवशेष नरबली, सती-प्रथा, तथा तंत्र-विद्या को बनाये रखने का भी श्रम चल रहा है । अत: "आधुनिकता के साथ परंपरा भी यहां बनी हुई है । भूत और वर्तमान दोनों काल एक साथ चलते हैं"[1] ।

यों अंतर्विरोधों से भरपूर भारतीय सामाजिक जीवन में परंपरागत मूल्यों का जो विघटन हुआ था उसका प्रतिबिंब तत्कालीन साहित्य पर भी पडा। इसका विश्लेषण ही हमारा काम है ।

उपन्यास साहित्य में मूल्य विघटन का सशक्त एवं व्यक्त रूप नर-नारी के रागात्मक संबन्धों - प्रेम, विवाह और यौन कर्म- में ही दिखायी पडा पश्चिम में भी यही हुआ था । इसकी कारण यह है कि "किसी भी भाषा के रचनात्मक साहित्य का अधिकांश, स्त्री पुरुष के पारस्परिक आकर्षण एवं संबंधों पर आधारित (रहता) है । विशेषकर कथा-साहित्य में तो यही एक विषय है जिसकी किसी भाषा के किसी लेखक ने उपेक्षा नहीं की है । यह इतना सर्वकालीन, सर्वदेशीय एवं सर्वव्यापी है"[2] । इस संदर्भ में डा॰धर्मवीर भारती लिखते हैं - "बाह्य घटनाओं की अपेक्षा साहित्यकार का ध्यान सामाजिक व्यवस्था द्वारा उद्भूत जटिल रागात्मक स्थितियों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विषमताओं, विकृतियों तथा असंतुलन पर केन्द्रित रहता है और वह उन्हीं का परिहार एवं परिष्कार करता है"[3] ।

स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण नैसर्गिक है । नैतिक-मूल्यों का आधार यह नैसर्गिक प्रवृत्ति रही है और इस प्रवृत्ति का नियंत्रण मानव

---

1. द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास-लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ॰57
2. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन-डा॰गणेशन - पृ॰196
3. मानव-मूल्य और साहित्य - डा॰धर्मवीर भारती - पृ॰153

सभ्यता के विकास का परिचायक माना जाता है । अत: सामाजिक जीवन का इतिहास वासना की इस प्राकृतिक प्रवृत्ति एवं मनुष्य द्वारा निर्मित नियमों के पारस्परिक संघर्षों से भरा हुआ है"[1] ।

अस्तित्ववादी साहित्य में सेक्स संबन्धी सामाजिक नियमों को तोडने का प्रयास है । उन्होंने पार्थिव जीवन में उपलब्ध निरर्थकता तथा खोखलीपन के प्रतीक के रूप में "सेक्स" का अतिशय चित्रण किया । यान्त्रिक जीवन की विवशताने मानवीय संवेदन-शीलता का हनन किया है और जीवन की जटिलता इस हद तक यान्त्रिक हो गयी है कि आदमी मशीन से भी तुच्छ हो गया है । संवेदनहीनता के इस भाव को उन्होंने सेक्स चित्रण द्वारा उभारने की चेष्टा की ।

हिन्दी उपन्यासकारों ने भी यही पद्धति अपनायी । इसलिए उपन्यास में यौन चित्रण की खुली छूट मिलती है । जगदीश चतुर्वेदी का अभिमत है कि यौन चित्रण की खुली छूट मिल क्रांति स्त्री-दासता का उन्मूलन करती है । यह मुहावरा नहीं बल्कि परिवर्तित मानव-मूल्यों का दस्तावेज है[2] ।

हिन्दी अस्तित्ववादी उपन्यासों का अध्ययन करते हुए चतुर्वेदी की यह दृष्टि ठीक लगती है । उपन्यासकारों की इस यौन क्रांति के मूल में अवश्य अस्तित्ववाद का प्रभाव है और साथ ही सामंतीय प्रेम परंपरा की प्रतिक्रिया भी काम कर रही है । यूरोपीय समाज की स्त्री की तुलना में भारतीय स्त्री की अपनी विशिष्टताएं हैं । भारतीय नारी वर्षों तक सामाजिक नियमों का गुलाम रही है । इसलिए उसका कुंठित व्यक्तित्व है । स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियों में उसे थोडी स्वतंत्रता मिली, इसकी अतिरंजित साहित्यिक अभिव्यक्ति है - उपन्यासों में परिलक्षित यह क्रांति । और यहां यह भी ध्यान रखने की बात है कि यह भोगवाद भारत का अपना है । तांत्रिकों के इस देश में, जहां सैकडों साल तक समान भाव से मरघट प

---

1. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन - पृ.20।
2. विद्रोह और साहित्य - सं.नरेन्द्रमोहन तथा देवेन्द्र इस्सर - पृ.134

मुर्दा स्त्री के साथ और वास-स्थान पर नौ, दस, ग्यारह साल की अक्षत योनिका लोलिताओं के साथ रमण करके अपने को मंत्रसिद्ध करने की आदत रही है[1] अत: सेक्स की इस अतिरंजिता में कोई नयापन नहीं है ।

आगे हम हिन्दी उपन्यासों के रागात्मक (संक्षिप्त ऐतिहासिक अध्ययन के साथ) तथा अन्य मानवीय संबन्धों के क्षेत्र में मूल्यों का जो विघटन हुआ है उसका विश्लेषण करेंगे ।

– क्रमश:

---

1. आधुनिक भाव-बोध की संज्ञा - अमृतराय - पृ॰22

प्रेमचन्द का प्रेमवर्णन

प्रेमचन्द की अपनी प्रेमधारणा थी । उनका प्रेम आदर्शात्मक था और वह कभी सामाजिक नैतिक मान्यताओं का उल्लंघन भी नहीं करता । इसके साथ तत्कालीन युग की याने गाँधीजी की प्रेमधारणा का प्रभाव भी उनपर पडा था । गाँधीजी ने तो अपनी प्रेमसंबन्धी मान्यताओं में दैहिकता को पूर्णत: अस्वीकार किया था और विवाह संबन्धों में भी ब्रह्मचर्य की महत्ता पर ज़ोर दी थी ।

"सेवासदन" में सुमन और सदन का प्रेम पूर्ण नहीं होता क्योंकि सुमन अनमेल विवाह करके वेश्या-जीवन बितानेवाली है, उसका अपने से कम उम्रवाले सदन से प्रेम और पुन: विवाह अनैतिक है । "निर्मला" की निर्मला यौन कुंठा से त्रस्त है । लेकिन वह लगातार अपने सतीत्व की रक्षा करती रहती है । उसका विचार है - "वह बुड्ढे हो या रोगी, पर हैं तो उसका स्वामी ही । कुलवती स्त्रियाँ पति की निंदा नहीं करती, वह कुलटाओं का काम है"[1] । "प्रतिज्ञा" की प्रेमा के मन में अवश्य अमृतराय के प्रति खिंचाव है लेकिन एक पतिपरायण स्त्री के मन में परपुरुष के प्रति आकर्षण अनैतिक है, इसलिए प्रेमा संयमित रहने को विवश है । "रंगभूमि" के विनय और सोफिया के बीच गहरा प्रेम है । लेकिन उनका प्रेम न विवाह में परिणत होता है और न उनके बीच कोई शारीरिक संबन्ध ही होता है । दोनों उद्विग्न, विकल एवं अधीर रहते हैं । लेकिन नैतिक बन्धनों की दृढता दोनों को मिलने न देती । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यौनाचार की बाधा नैतिक धारणायें ही हैं । प्रेमचन्द की दृष्टि में शरीर-संपर्क के लिए विवाह की ज़रूरत है और विवाह के लिए भी समाज की हिदायत अनिवार्य है ।

---

१. निर्मला - पृ.१०।

गोदान में आते आते प्रेमचन्द की प्रेमधारणा में थोडा परिवर्तन आता है । सिलिया और मातादीन के संबन्ध में यह परिवर्तन हम देख सकते हैं । सिलिया चमारिन और मातादीन ब्राह्मण हैं । श्रेष्ठ वर्ग का निम्न जाति की स्त्रियों से अनैतिक संबन्ध साधारण है । लेकिन यहाँ अन्त में मातादीन सिलिया के साथ अपने व्यवहार से पश्चात्ताप करता है और खुले आम अपनी पत्नी बना लेता है । इसी उपन्यास के प्रो॰ मेहता के प्रेम और विवाह संबन्धी विचार सामन्तीय हैं । प्रो॰ मेहता और मालती के बीच गहरा प्रेम संबन्ध होता है लेकिन परिणति यौनाचार या विवाह में नहीं होती । विवाह आत्मसमर्पण चाहता है - "विवाह तो आत्मसमर्पण है । प्रेम जब आत्मसमर्पण का रूप लेता है तभी व्याह है । उसके पहले वह ऐय्याशी है"[1] । प्रो॰ मेहता और मालती के संबन्ध से इस बात की पुष्टि मिलती है कि शारीरिकता शुद्ध वासना का पर्याय है और उससे असंपृक्त संबन्ध ही उत्तम है ।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में प्रेम-चित्रण

जैनेन्द्र के युग में मनोविज्ञान का प्रभाव समकालीन नैतिक धारणा पर पडा था, उसीका प्रतिफलन प्रेम-धारणा में भी हुआ । इस परिवर्तित प्रेम-धारणा का परिपाक जैनेन्द्र के उपन्यासों में हम देख सकते हैं । लेकिन जैनेन्द्र का प्रेम भी प्रेमचन्दीय धारणा का विकास या समर्थन है । कोई महानतम कदम उन्होंने नहीं रखा है ।

जैनेन्द्र के पहले उपन्यास "परख" में प्रेमचन्दकालीन प्रेम-धारणा का ही समर्थन मिलता है । कट्टो और बिहारी का कोई शारीरिक संबन्ध नहीं होता ।

---

1. गोदान - पृ॰245-246

विधवा कट्टो का पुन: विवाह भी नहीं होता । "त्यागपत्र" में जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द के पतिव्रता-धर्म को परिवर्तित किया है । उनके अनुसार पतिव्रता धर्म पति की सेवा नहीं बल्कि पुरुष की सेवा है - जो चाहे उसीकी सेवा, जो न चाहे उसका त्याग । इसलिए ही मृणाल अपने आपको कोयलेवाले को समर्पित करती है और पति प्रमोद से अलग रहती है । लेकिन यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि जैनेन्द्र स्त्री की सामाजिक परिस्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं लाये हैं । प्रेमचन्द से तुलना करने पर, अवश्य उसने नारी को यौनाचार में कुछ छूट दी है, लेकिन नारी पुरुष की दासी ही रही है, वह पति हो या और कोई । लेकिन यह देखने की बात है कि इस यौनाचार की छूट मृणाल के प्रसंग में स्त्री को धरोहर के रूप में रखने के प्रति विद्रोह है और यों वह सामाजिक नैतिकता के प्रति विद्रोह का रूप भी लेता है । और जैनेन्द्र ने भी विवाह पूर्व संबन्धों की मान्यता नहीं दी है । मृणाल को प्रेम के संबन्ध में यही अनुभव होता है कि प्रेम अपराध है । "कल्याणी" में कल्याणी की आर्थिक स्वतंत्रता है लेकिन वह अपने सारे व्यक्तित्व को परंपरागत पत्नीत्व के सम्मुख समर्पित करने को तैयार है । क्योंकि पति व्यक्ति नहीं, प्रतीक है । इसलिए सती को यह सोचने का अधिकार नहीं है कि पति सदोष हो सकता है । अपंग हो, विकलांग हो, पति पति है, वह देवता है । यह प्रेमचन्द की निर्मला की धारणा ही है । सुनीता भी मृणाल की तरह अपने को पुरुषहित का माध्यम मात्र मानती है, पुरुष चाहे श्रीकान्त या हरिप्रसन्न । वह सोचती स्त्री फिर किसलिए है यदि पुरुषों को प्रयोजनदान, फलदान में नियोजित नहीं करती । और स्त्री और पुरुष का केवल एक ही संबन्ध है - ~~स्त्री और पुरुष का केवल एक ही संबन्ध है~~ - स्त्री और पुरुष का । बाकी सब आरोपित है । "सुनीता स्त्री है, हरिप्रसन्न पुरुष है । उन नामों के बहुत नीचे जाकर दोनों में बस एक, स्त्री रह जाती है, दूसरा पुरुष रह जाता है । कुटुंब और परिवार पीछे जाते हैं, नाम-गोत्र, मत-पंथ वर्ग, संप्रदाय सब पीछे जाते हैं"[2] । सुनीता अवश्य हरिप्रसन्न से आकर्षित है ।

---

१. सुनीता - जैनेन्द्र कुमार - पृ.63

2. वही

वह उसके सामने निर्वसन भी होती है । लेकिन हरिप्रसन्न की कायरता सुनीता के सतीत्व की रक्षा करती है और इसकी वजह से नैतिकता तोड़ने के अपराध से जैनेन्द्र भी बच जाता है । लेकिन सुनीता ने भी कतिपय बातों पर विद्रोह प्रकट किया है । उसने विवाह नामक संस्था और पति के ईश्वरत्व की सार्थकता पर संदिग्धता प्रकट की है - "क्या यह विवाह लौकिक नीति है ? क्या वह आदमी की नाप-जोख करने की वृत्ति मुझमें क्यों होती है" ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यही समझ में आता है कि जैनेन्द्र की प्रेमधारणा मूलत: प्रेमचन्दीय है । वे अवश्य उसमें परिवर्तन लाये हैं, लेकिन वे सतही है, गहरे नहीं ।

अज्ञेय के उपन्यासों में प्रेम

शेखर एक जीवनी

हिन्दी उपन्यास के इतिहास में पहली बार "शेखर एक जीवनी" में प्रेम की सर्जरी हो जाती है । प्रेम के विविध आयामों का अत्यन्त सूक्ष्म आकलन इसमें होता है । इसके लिए जमीन तैयार करता है - शेखर, शेखर का विशेष व्यक्तित्व ।

शेखर भावुक है, घोर अहंवादी एवं असमझौतावादी भी । उसका व्यक्तित्व विघटित एवं विभाजित है - "तब से मुझे जान पड़ता है कि मेरे मन के दो टुकड़े हो गये हैं । कभी कभी दो से अधिक जान पड़ते हैं किन्तु दो तो अवश्य हो गये हैं"[2] । इसीलिए वह सभीसे जो कुछ भी हो, पाना ही चाहता है,

---

1. सुनीता - जैनेन्द्रकुमार - पृ॰112
2. शेखर एक जीवनी - पृ॰226

देना नहीं । प्रेम भी ग्रहण करने की प्रक्रिया है, देने की नहीं - वह प्यार भोगता ही रहा है, प्यार देना उसने जाना ही नहीं । हमने सूचित किया कि शेखर के इस विशेष व्यक्तित्व के कारण ही उपन्यास में प्रेम का एक विराट रूप उजागरित हो पाया है ।

किशोरावस्था में शेखर का प्रेम - संबन्ध शुरू होता है । किशोर शेखर अन्तर्मुखी है और उसकी सबसे बडी समस्या है, अकेलापन । अकेलापन की बेबसी से शेखर का मन किसी अनजान चाह से धूम रहा था । "जिस प्रकार धोंधे के भीतर रहनेवाला जीव तभी बाहर निकलता है, जब वह भूखा होता है या जब वह प्रणयी खोजता है, और तृप्त होकर फिर धोंधे के भीतर घुस जाता है, उसी प्रकार असन्तुष्ट और अतृप्त शेखर भी बाहर निकला हुआ था" । इस अवसर पर शेखर को सबसे पहले मिलती है - सरस्वती, उसकी अपनी बडी बहिन । शेखर की दुनिया में शेखर था, सरस्वती थी, और कोई नहीं था । सारे संसार का अस्तित्व ही मिट गया था । शेखर सरस्वती को अकेले पाकर उससे विविध बातें करने लगता और उसे एकटक देखते रहता । बहिन के गीत सुनते सुनते उसके मन में कोई अज्ञात भाव जागने लगता और अत्यन्त कोमल स्पर्श से बहिन के कपोलों को छूकर वह कह देता - "कितनी अच्छी लगती हो तुम । सरस्वती को सरस कहने वह तरस रहा था और एक मूसलधार बरसाती दिन में उसने सचमुच उसे "सरस" बना दिया । सरस्वती की शादी के दिन और बाद में बहिन को पत्र लिखते समय भी सरस्वती सरस ही रही, बहिन कभी उभरकर नहीं आयी । शेखर को पहली बार प्यार और नारी सौन्दर्य की अनुभूति बहिन से ही प्राप्त होती है ।

---

१. शेखर एक जीवनी (प्रथम) - पृ.24

सरस्वती के चले जाने के बाद शेखर के किशोर मन में इन्द्रधनुषी आभा के साथ उतर आती है शारदा । शेखर शारदा के माध्यम से उपन्यास में रोमांटिक प्रेम के अपूर्व रागों का आलाप हो गया है । इस प्रेम के अन्तराल में शेखर एक रहस्यपूर्ण अबूझ-प्रक्रिया से गुजरता है । प्रेमावेश की अनुभूति में वह नव-प्रस्फुटित कोंपल-सा कंपित एवं तरलित हो जाता है और नारी के कोमल एवं मांसल जिस्म के संग से उसका मन बहार की सुगन्धित हवा-सी तरंगायित हो बह जाने लगता है - "शेखर शारदा के पीछे आकर झपट कर दोनों हाथों से उसकी आंख दबा लेता है, शारदा का शरीर तनता क्यों है ? कांपता क्यों है ? एक दुर्दम्य प्रेरणा से शेखर झुकता है, अपनी ठोढी शारदा के सिर पर टेक देता है, उसके रूखे केशों को सूंघता है, फिर अपनी नाक उन केशों में दबा देता है, और दो, तीन, चार, पांच बहुत लंबी लंबी सांसें खींचता है"[1] । लेकिन यह सिर्फ किशोरावस्था के भावावेश पर आधारित स्वप्निल प्रेम था । उसमें यथार्थ की म्रियमाणता नहीं थी, इसलिए वह शेखर की कलई छुडाकर उसकी ओर देखे बिना चली जाती है ।

फिर आकाश का फैलाव और सागर की गहरी अपने मन में संजोए, शेखर के मरूस्थलीय जीवन को समेटने की विराट आस्था लिये आ जाती है शशि - उसकी मौसेरी बहिन । मानवीय संबन्धों के बियावान में शेखर की अपनी खोज । असंख्य जीवधारियों के इस संसार में अपने प्रेम के संकुचित दायरे में बिठाने के लिए अपनी मौसेरी बहिन को ही उसने खोज निकाला था ।

शशि के आ जाने से शेखर अकेलापन और निरर्थकता की अनुभूति से मुक्त हो जाता है । उसके टूटे दुरूस्त मन को शशि की सप्तपर्णी छाह सहलाती है विवाहित शशि उसे सब कुछ देती है । वह शेखर के लिए भाई, बहिन, माँ, बेटी से कहीं बढकर और कुछ बन जाती है उसे शेखर बनाने के लिए वह सहर्ष टूट जाती है

---

1. शेखर एक जीवनी (प्रथम) - पृ.173

अपने को मिटाने में उसने कोई कसर न रखी, ज़रा भी कंजूसी न की ।

हिन्दी उपन्यास के इतिहास में शशि अज्ञेय की याने शेखर की सही पहचान है । उसमें विवेक तथा प्रेम का अद्‌भुत सम्मिश्रण है । "वह मरकर भी शेखर की चिरंतन प्रेरणा बनी रहती है । अत: उसकी मृत्यु व्यर्थ नहीं मानी जा सकती । उसकी मृत्यु में स्नेह की विजय है, जीवन की गरिमा है"[1] । उसकी मृत्यु शेखर के प्रेम को तीव्रतर बनाती है - वह स्वयं शशि हो जाता है । यह प्रेम की चरम स्थिति है[2] । वह महसूसता है - "बाद में मैं स्वयं शशि हो जाता हूँ, उसके विचार सोचता हूँ, उसकी स्मृतियाँ याद करता हूँ, उसकी वेदना सहता हूँ, उसका मौन, स्पर्धाहीन अटूट अभिमान मुझमें जाग उठता है .... शशि नहीं है, किन्तु मैं शशि हूँ"[3] ।

यों हिन्दी उपन्यास में प्रेम के एक नये आयाम का भी उद्‌घाटन होता है । इसके दो और हाशिये भी हैं - (1) शेखर जिस घनीभूत एकात्मकता के साथ शशि से प्रेम करता है, उसीके समानांतर उसकी मृत्यु भी चाहता है ताकि बीमार की असह्य वेदना से मुक्ति मिले । "मेरसी किल्लिंग (Mercy killing) की यह भावना आधुनिक है । (2) प्रेम या किसी भी गहरे भाव-विलोडन के क्षणों में व्यक्ति सहसा यह महसूसता है कि उसमें पूर्णता नहीं है । प्रेम में हम पाते हैं कि हम कहीं भी, कभी भी अपने अलग व्यक्तित्व को एक में या दूसरे में या प्रत्येक को दोनों में लीन नहीं कर सकते । इसके पीछे व्यक्ति के अपने अस्तित्व को स्वतंत्र रखने की तीव्र अभिलाषा ही काम करती है । शशि की गहरी आत्मीयता पाने के बाद भी शेखर कहीं यही महसूसता है कि उसने अभी तक कोई ऐसी

---

1. हिन्दी उपन्यास - डॉ. सुषमा धवन - पृ.244
2.
3. शेखर एक जीवनी (दूसरा भाग) - पृ.183

गहरी अनुभूति नहीं जानी है, जिसके प्रति वह अपने को उत्सर्ग कर दे । एक क्षण भी ऐसा नहीं आया है, जब कि शेखर के मन में ज्ञान बिलकुल मिट गया हो कि वह शेखर है ..... और तो और उसके जीवन में कितनी कन्यायें आयी हैं उनमें किसीसे उसकी सच्ची घनिष्ठता नहीं हो सकी" ।

शेखर और सेक्स

सेक्स के प्रति शेखर की रूझान रूग्ण एवं दकियानूसी है । बचपन में उद्घाटित इस रूझान से वह अंत तक उबर नहीं पाता । उसे साधारणीकृत और उदात्तीकृत नहीं कर सकता । अपने संपर्क में आनेवाली सभी औरतों के प्रति उसकी सेक्स भावना जागरित होती है । बहिन सरस्वती और नौकरानी अत्ती भी इसका अपवाद नहीं । लेकिन उसके मन में जम गयी गहरी पाप-भावना उसे पीछे हटाती है । सेक्स-संबन्धी पुस्तक पढकर जब शेखर को गर्भ-रहस्य का अहसास होता है तब उसके मन में उस सेक्स भावना के प्रति गहरी वितृष्णा उभरती है - "वह सबकुछ समझ गया । जो अस्पष्ट संकेत उसने देखे थे, सब सुलझ गये, मां की छाती पीटना, पिता का क्रोध, नाचती हुई जिन्नियां की नंगी टांगें, अमृतसार की वेश्या, रसोइया का व्यंग्य, अत्ती की नंगी पीठ, गीता - गोविन्द के पद, अठमासा बच्चा, छिन्नमस्ता के नीचे पुरुष और प्रकृति का चित्र, कविता का सुख ..... और हां सरस्वती की लज्जा, शांति के आंसू, सावित्री का मौन, शशि का आग्रह, शारदा का कंपन - सब एक ही सूत्र में गुंथे हुए, स्पष्ट हो गए, समझ में आ गया न ..... सबकी गति एक ही ओर है, एक ही घृणित पाप-कर्म की ओर, जिसे उसके माता-पिता ने किया है, शारदा के माता-पिता ने किया है सृष्टि के आरंभ तक सब माता-पिता करते आये हैं । यही है प्यार, यही जिसके लिए वह शारदा को चाहता है, वह अकथ्य, घृणित, अचिंतनीय भ्रष्टाचार, अच्छा कि शारदा मर जाए, अच्छा है कि सारा संसार मर जाए, यदि यही होना है तो"[1]

---

1 शेखर एक जीवनी - (पहला भाग) पृ० १४।

बालक शेखर की यह भावना पुरुष शेखर में भी बनी रहती है । जब शशि को शेखर चूम लेता है तब शशि चीख पड़ती है - "नहीं शेखर, नहीं नहीं, वे जूठे हैं" । तुरन्त शेखर लज्जित होता है । वह ठंढ हो जाता है । उसकी इस प्रतिक्रिया में सेक्स की ये गहरी वितृष्णा ही सन्निहित है । सेक्स के सत्य को सहने की शक्ति शेखर में नहीं है"[1] ।

अज्ञेय ने शेखर के प्रेम और सेक्स के चित्रण द्वारा सामाजिक नैतिकता की चहारदीवारियों में गहरी दरारें की हैं । शेखर एक झंझावात के समान नैतिक धरातल पर आ टपकता है । हिन्दी उपन्यास में सबसे पहले बहिन के प्रति रति-भाव का उजागर शेखर के द्वारा ही होता है । मौसेरी बहिन के प्रति प्रेम भी उपन्यास - क्षेत्र की क्रान्तिकारी घटना है । और शशि की, पत्नी होकर भी पर-पुरुष शेखर के प्रति अटूट आस्था, एवं अनुराग, पति द्वारा घर से निकालने पर खुल्लम-खुल्ला शेखर का आश्रय पाना आदि नैतिकता की सीमाओं को पारकर दूर, बहुत दूर चले जाना है । शेखर द्वारा पवित्र पारिवारिक संबन्धों का ठुकराना भी नैतिकता पर गहरी चोट करता है । और कुमार तथा शेखर का समलैंगिक संबन्ध, बच्चे शेखर के सेक्स-संबन्धी सन्देह आदि भी परंपरागत नैतिक धारणा को बुरी तरह जख्म करते हैं ।

नदी के द्वीप

आधुनिक जीवन के सायास गढ़ित मानवीय संबन्धों के कटघरे में रहकर आज प्रेम जकड़ता जा रहा है, विसंगत परिस्थितियों के घेरे में वह लडखडाता जा रहा है । यों क्रमशः मरते हुए प्रेम की, उसकी पीडा की त्रासद अभिव्यक्ति "नदी के द्वीप" में हो पायी है ।

---

1. आलोचना - जुलाई सितंबर 2 - 1972- मोहित्र का लेख .

"नदी के द्वीप" की रेखा पति-परित्यक्ता नारी है । दांपत्य जीवन में प्रेम निभाने या पति की समलैंगिकता सहने की असमर्थता की वजह से ही वह परित्यक्ता हो गयी है । वह समाज की नैतिक दृष्टि की भी शिकार है जो स्त्री को स्वतंत्र रहने तथा अपना जीवन जीने नहीं देता । इसकी वजह से उसकी अन्तरात्मा में जीवन के प्रति तटस्थ - भाव अत्यन्त गहनतम रूप में जम गया है । लेकिन अंतर्मुखी, मितभाषी वैज्ञानिक भुवन के सामने उसकी सुप्त पडी आकांक्षाएं एक और बार जागरित होती हैं । भुवन के प्रति वह आकर्षित होती है और यह आकर्षण पूर्ण समर्पण पर पहुंचता है । जीवन में पहली बार रेखा "फुलफिल्ड" होती है । इसके लिए भुवन के प्रति वह कृतज्ञ है - "भुवन जाने से पहले मैं एक बात कहना चाहती हूँ - ऐ आम् फुलफिल्ड । अब अगर मैं मर जाऊं तो परमात्मा की प्रकृति के प्रति यह आक्रोश लेकर नहीं जाऊंगी कि मैं ने फुलफिलमेंट नहीं जाना । कृतज्ञ भाव ही लेकर जाऊंगी - परमात्मा के प्रति और भुवन तुम्हारे प्रति"[1] ।

शारीरिक समर्पण के बाद रेखा और भुवन का प्रेम लडखडाने लगता है, वह क्रमश: मरने लगता है । रेखा के भीतर लगातार आरे की तरह काटता हुआ वह अतीत है जो उसे भुवन के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने नहीं देता । इसलिए वह विरक्ति महसूस करती है । भुवन के मन में भी ईमानदारी नहीं रहती । दोनों अपने बीच पंगु होते हुए प्रेम को ढोते और अपने प्रेम की इस दुरूस्तता को छिपाने की कोशिश करते हैं लेकिन छिपते नहीं, दोनों महसूस करते हैं, "कैसे हम लोग सात बरस से व्याहे पति-पत्नी की तरह हो गये हैं । बात-चीत के लिए कोई विषय नहीं मिलता, तकल्लुए की बातें कर रहे हैं"[2] ।

---

1. नदी के द्वीप - पृ.159
2. वही - पृ.215

प्रेम मिलाता है, व्यथा भी मिलाती है, साथ रहा गया गम भी मिलाता है, लेकिन एक सीमा पार कर लेने पर ये अनुभूतियां मिलाती नहीं, बल्कि अलग कर देती हैं - सदा के लिए । भुवन और रेखा के बीच यही होता है रेखा का गर्भपात इसे तीव्र करता है, बस यही ।

नदी के द्वीप में प्रेम का एक और शहीद है - चन्द्रमाधव । उसने अपनी पत्नी को छोड रखा है और पागल है - रेखा और गौरा के पीछे । लेकिन वह असमर्थ निकलता है । फिर भी वह अपनी हार स्वीकारता नहीं, बंबई जाकर एक अभिनेत्री का हाथ पीला करता है । अलग होने के बाद रेखा और भुवन के बीच भी यही होता है । रेखा श्रीमति डॉ॰ सतीशचन्द्र बनती है और भुवन अपनी छात्रा गौरा का हमसफर । यों प्रेम मरता नहीं, नये सिरे से लंगडाकर चलने लगता है ।

यह कहने की ज़रूरत नहीं कि नैतिकता की कसौटी पर रेखा का जीवन बिलकुल खरा नहीं उतरता । उसका संपूर्ण जीवन नैतिकता के प्रति एक मूर्तिमान चुनौती है । उसके गर्भपात के साथ सारी नैतिकता झर झर कर खिसक गयी है, हां अवश्य, भुवन रेखा का भागीदार है ।

अपने अपने अजनबी

"अपने अपने अजनबी" में स्त्री-पुरुष प्रेम ही नहीं बल्कि मानव मानव में जो सहज प्यार वर्तमान है, वह भी कहीं खो गया है । उपन्यास के पात्र अपने अपने ताबूत में बंद है, एक दूसरे के लिए अजनबी हैं, इसलिए ही उनके बीच प्यार की संप्रेषणीयता संभव भी नहीं ।

बर्फ की सैर करने आये पॉल और उसकी प्रेमिका योके धुंध में कहीं अलग जा पड़ते हैं । योके बर्फ के नीचे काठ-घर में आश्रय लेती है । वहां रहते वह हर पल पॉल की प्रतीक्षा करती है । लेकिन पॉल नहीं आता । काठ-घर से मुक्त हो जाने पर उसे पॉल से मिलने की प्रतीक्षा है । लेकिन अत्याचारी जर्मन सैनिक द्वारा बलात्कार किये जाने पर उसकी सारी आकांक्षाओं पर फालिश गिर पड़ता है । वह आत्मघात करती है ।

बर्फ के काठ-घर में योके अकेली नहीं थी । मृत्यु की प्रतीक्षा करती हुई वृद्धा सेल्मा उसके पास ही थी । लेकिन दोनों अजनबी रहते हैं । इस अजनबीपन की चरम सीमा में योके वृद्धा की हत्या करने तक उद्यत होती है, लेकिन अकेलापन झेलने के भय से अपना निश्चय टाल देती है ।

सेल्मा का अपना अतीत इतिहास है । अपनी युवावस्था में नदी के टूटे हुए पल पर सेल्मा, यान और फोटोग्राफर कैद हो जाते हैं । ये इस संकट को मिलकर मुकाबला नहीं करते, क्योंकि वे अजनबी हैं, अपने संकुचित दायरे से बाहर जाना नहीं चाहते । सेल्मा फोटोग्राफर को पीने का पानी भी नहीं देती, वह बाढ का पानी पीकर, पेचिश का शिकार हो, पुल से छलांग लगाकर मृत्यु का वरण करता है । यान अधिक भाव देकर सेल्मा से गोश्त खरीदकर फोटोग्राफर की जली हुई दूकान की आंच पर उसे पकाता है । सांझ को खाने वक्त सेल्मा को भी वह निमंत्रित करता है - "अपनी अंतिम पूंजी देकर यह अंतिम भोजन मैंने खरीदा है । इसे अकेले नहीं खा सकूंगा । ..... इसे ज़रूर ही बहुत स्वाद होना चाहिए - मेरे जीवन के मोल यह खरीदा गया और फोटोग्राफर के जीवन के मोल यह पका सका । लो.... । स्वाभिमानी यान सेल्मा के अहं को तोडने में समर्थ होता है । सेल्मा समर्पिता बनती है । उसके साथ एक अजनबी सी

---

1. अपने अपने अजनबी - पृ.93-94

जीकर तीन बच्चों को जन्म देती है । पर एक दिन एक पहाडी स्थान में अपने तीन बेटों को तराई में छोड्कर वह अकेली रहती है । संयोगवश वह काठ-घर में फंस जाती है । कैंसर से पीड्ति उसका अंत भी वहीं होता है ।

यों "अपने अपने अजनबी" में प्रेम या प्यार नहीं है । सहज-मानवीय संबन्ध भी विलुप्त हो गया है । प्रेम के इतिहास के आगे थोडी देर के लिए ही सही यह उपन्यास विराम बिन्दु लगा देता है जो अवश्य एक ऐतिहासिक घटना है ।

मोहन राकेश के उपन्यास

अंधेरे बन्द कमरे

वर्तमान परिवेश की म्रियमाणता की वजह से प्रेम या तो विवशता बन जाता है या इस्तेमाल । इस भावना की अत्यन्त तीव्र अभिव्यक्ति इसमें हो गयी है । आदमी प्रेम करते हैं और पहले से अधिक अकेले हो जाते हैं, प्रेम करते हैं और अजनबी हो जाते हैं, प्रेम करते हैं और एक दिन महसूस करते हैं, कि प्रेम नहीं करते थे । यही वर्तमान प्रेम की विडंबना है, उसकी त्रासदी है । प्रेम कांच के कटघरे का व्यर्थ संवाद मात्र रह गया है । "यहां तक कि कांच के बाहर से चेहरे पर मुद्रित खीझ भी पानी में हिलती आकृति की तरह अस्पष्ट नज़र आते हैं । हमारा प्रेम उन गूंगे और बहरे लोगों का प्रेम है जिनके पास अंदर की कोई भाषा नहीं"[1] ।

अंधेरे बंद कमरे के हरबंस और नीलिमा के मन अधूरे हैं । उनमें एक अभाव है । शायद प्रेम उन्हें भर सकता था । लेकिन दोनों प्रेम करने में असमर्थ

---

1. आधुनिक हिन्दी उपन्यास - नरेन्द्रमोहन - पृ.206

होते हैं क्योंकि दोनों आत्मनिर्वासन से पीड़ित हैं । दोनों अलग रहना चाहते हैं, लेकिन अलग नहीं रह सकते । दोनों अपने संकुचित व्यक्तित्व को समेटते हुए, एक दूसरे को कोसते अंधेरे बंद कमरों में भटकते रहते हैं । यह उनके प्रेम का अभिशाप है । लगातार एक दूसरे के प्रति प्रेम और घृणा एक साथ उगलते हुए वे प्रेम की यंत्रणा भोगते रहने के लिए अभिशप्त हैं ।

एक बार हरबंस और नीलिमा अलग अलग रहने में समर्थ होते हैं । नीलिमा से ऊबकर हरबंस लंदन चला जाता है । पर जल्दी नीलिमा का अभाव उसे कचोटता है । वह विदेश से नीलिमा को लिखता है - "मैं नहीं जानता मेरे ऊपर हर समय जड़ता सी क्यों छायी रहती है । मैं अपने इर्द-गिर्द मन और आत्मा को किसी काम में नहीं लगा पाता । तुम्हारे साथ और तुम्हारे बिना, दोनों ही तरह जिंदगी मुझे असंभव प्रतीत होती है ।"[1] हरबंस महसूस करता है कि "नीलिमा के साथ और नीलिमा के बिना दोनों ही तरह जिन्दगी मुझे असंभव प्रतीत होती है" । वह नीलिमा को लंदन बुलाता नीलिमा भी एक बार हरबंस से दूर रहने का व्यर्थ प्रयास करती है । यूरोप में अपने साथी कलाकार ऊबानू के साथ मानसिक रूप में अत्यंत निकट पहुंचती है । लेकिन हरबंस की याद उसे हरबंस के लिए आतुर होने बाध्य करती है । उसका अभाव खटकता है और अपने निश्चय के बावजूद ऊबानू के साथ वह नहीं रह पाती, हरबंस के पास लौट आती है ।

हरबंस अपने प्रेम की अस्थिरता के प्रति सचेत है । अस्थिरता का विश्लेषण करते हुए वह लिखता है - प्रेम में स्थिरता और स्वामित्व लाने के लिए विशाल हृदय ही नहीं, विशाल मस्तिष्क भी चाहिए । लेकिन विशाल मस्तिष्क के कारण ही नहीं बल्कि तीव्र अहं याने अतिरिक्त स्वचेतनता की वजह से उसका

---

१. अंधेरे बंद कमरे - पृ. १५१, राजकमल प्रकाशन, १९५८

२. वही - पृ. १३०

प्रेम विडंबना का एक अविच्छिन्न सिलसिला बन जाता है । हरबंस नीलिमा को लिखता है - "मेरे लिए प्रेम दो आत्माओं को एक दूसरे का आदी बनाने के आनंद का नाम है, कभी न अकेलेवाले अंधेरे का।"[1]

हरबंस जानता है कि उसके प्रेम की त्रासदी का जिम्मेदार वह स्वयं है । खलनायक उसके भीतर ही है । लेकिन वह सुधरता नहीं । फलत: प्रेम नहीं रह जाता, रह जाती है आदत ।

असल में हरबंस और नीलिमा के प्रेम में पुराने और नये मूल्यों की टकराहट है । उसमें, पुरुष और स्त्री को एक दूसरे पर अधिकार पा लेने की होड है । हरबंस अपनी पत्नी पर स्वामित्व चाहता है । लेकिन नीलिमा विद्रोह करती है । फल होता है घुटन और संघर्ष ।

"अंधेरे बंद कमरे" के हरबंस और नीलिमा ही नहीं बल्कि सभी पात्र प्रेम की इस म्रियमाणता से परिचित हैं । शुक्ला हरबंस से प्रेम करती है । उसका विवाह होता है सुरजित से । भार्गव शुक्ला से प्रेम करता है, पर हरबंस द्वारा वह ठुकरा दिया जाता है । मधुसूदन को भी शुक्ला से प्रेम है, लेकिन इसको वह न तो व्यक्त कर सकता है, न पूरी तरह महसूस भी कर सकता है । सुषमा और मधुसूदन भी प्रेम करते हैं, लेकिन सफल नहीं होते । यों प्रेम होता है, पर वह छूट जाता है या टूट जाता है । इसमें किसीकी गलती नहीं है, यह उनकी नियति है या परिवेश की जबरदस्ती है ।

---

1. अंधेरे बन्द कमरे - पृ 155, राजकमल प्रकाशन, 1961.

एक और बात है कि नीलिमा और हरबंस के प्रसंग में प्रेम विवशता है तो मधुसूदन के प्रसंग में इस्तेमाल है । सुषमा चुंबन की सुखद गर्मी में मुस्कुराहट में मधुसूदन से अपना पति और विदेशी एजन्ट बनने का प्रस्ताव करती है तो मधुसूदन सहसा महसूस करता है - "गुंबद की दीवारें जैसे टूट गयीं, अंधेरे में उठती लहरें रुक गयीं जीरो पवर का बल्ब फिर जल उठा । सहसा सब कुछ बदल गया" ।

यों अंधेरे बंद कमरे में प्रेम-घुटन, ऊब, एकरसता, विवशता और इस्तेमाल का चकला है । वहाँ प्रेम बिलकुल नदारद है ।

न आनेवाला कल

"न आनेवाला कल" का स्कूल मास्टर मनोज 35 बरसों तक अकेलापन की जिन्दगी जीने के बाद एक दिन अचानक एक विधवा से शादी कर लेता है । पर उसका वैवाहिक जीवन औपचारिकता निभाने का व्यर्थ प्रयास मात्र रह जाता है । वैवाहिक जीवन की प्रतीक्षाएं, अनभोगे सपने सी हो जाती हैं । पति-पत्नी के मन घुटन और उदासी से घिरे रहते हैं । दोनों युद्ध विराम की स्थिति में जीते हैं । आखिर तनाव और ऊब की चरम सीमा में यह औपचारि टूट जाती है, युद्ध विराम तोड दिया जाता है, दोनों अलग हो जाते हैं ।

मनोज और शोभा के प्रेम की विफलता का कारण शायद एक तीसरे की उपस्थिति हो सकता है । शोभा अपने पहले पति के साथ सात साल रह चुकी थी उसकी मृत्यु के बाद, उसे घर की जिन्दगी के बगैरह अपने आप बहुत अधूरा लगता थ इसलिए वह अपने घरवालों की इच्छा के विरुद्ध भी मनोज से शादी करने का निश्चय

---

१. अंधेरे बन्द कमरे - पृ.२१०

करती है । मनोज के घर में आकर उसने एक नयी शुरुआत की कोशिश की थी, लेकिन मनोज महसूस करता है कि यह शुरूआत सिर्फ उसके अपने लिए थी । "उस शुरूआत में मुझे उसके लिए वही होना था जोकि वह दूसरा था जिसकी वह सात साल आदी रही थी"[1] । अपने अस्तित्व को मिटाकर, दूसरा बनना, यह मनोज सह नहीं सकता था । शोभा की आंखों की उस शहीदना भाव को सहना ही उसे सबसे मुश्किल लगता था । लगता है कि वह मनोज को नहीं देख रही है, मन ही मन उस दूसरे के साथ मनोज की तुलना कर रही है जिसके साथ वैवाहिक जीवन के सात साल उसने पहले बिताये थे । मनोज के लिए शोभा किसी दूसरे की पत्नी ही बनी रहती है जिसके घर में वह बेतुके मेहमान की तरह टिक रहा है ।

वास्तव में शोभा को अपने पहले पति से कोई सुख नहीं मिला था। उसकी मृत्यु के बाद अपने जीवन की रिक्तता भरने के लिए ही वह दूसरी बार पत्नी बनती है । लेकिन अतीत उसे छोड़ता नहीं । मनोज के साथ रहते हुए भी वह अतीत में जीती है, और महसूस्ती है कि वह किसी अकेले आदमी का घर संभाल रही है ।

पति-पत्नी की यह मनस्थिति उनकी स्वाभाविक जिन्दगी में गतिरोध उपस्थित करती है । दिन बीतते बीतते दोनों की यह आशा रहती है कि कभी किसी दिन कुछ ऐसा होगा जिससे वह गतिरोध टूट जाएगा - और उस आशा तथा तनाव की स्थिति में ही दोनों सो जाते थे । शोभा बायें बिस्तर पर बायीं करवट, मनोज दायें बिस्तर पर दायीं करवट । कभी गलत करवट में एक का हाथ दूसरे से छू जाता, तो एक शब्द से उसकी गलतफहमी दूर कर दी जाती "सॉरी" ।

---

१. न आनेवाला कल - पृ.13

हर पखवारे में तेरह दिन यही सिलसिला चलता था । जिस रात नहीं चल पाता था, उस रात दोनों के मन में एक अतिरिक्त घुटन और उदासी घिर आती थी । ऐसे एक लंबे अनचाहे सफर में किसी अनचाही जगह से अनचाहा खाना खा लेने के बाद । आखिर यह गतिरोध टूट जाता है । शोभा मनोज को अकेलापन की वही जिन्दगी - जिसका वह आदी हो चुका है - जीने को मजबूर करती हुई अपने पहले पति का घर चली जाती है ।

असल में मनोज और शोभा के बीच प्रेम की असफलता का मूल कारण वैयक्तिक खूबियों से बढकर सामाजिक परिवेश की विसंगति है । प्रेम की असफलता, आत्मनिर्वासन और अकेलापन की दारुण यंत्रणा की परिणति है । प्रेम न तो उसके लिए मानसिक तुष्टि रह जाता है न शारीरिक यौन तुष्टि । परिवेश की म्रियमाणता से विवश होकर वह प्रेम के माध्यम से अपना बचाव करने का विफल प्रयास करता है । लेकिन असफल रहता है क्योंकि उसका अकेलापन और अभाव कोई व्यक्तिगत समस्या मात्र नहीं है बल्कि सामाजिक समस्या है । मनोज पहली बार शोभा को बाहों में लेकर चूमते हुए आसपास की सब चीज़ों के साथ एक रिश्ता महसूस करने की कोशिश करता है । लेकिन उसका मन उखडा रहता है । तब उसने स्वयं अपने को समझाया था कि यह आदत बन जाने से दूसरी तरह महसूस करने लगेंगे । और यह कोशिश जारी रहती है । मगर उसमें परिवर्तन नहीं होता । शोभा के चले जाने के बाद माध्यम बनती है बॉनी हाल । बॉनी हाल उसके साथ आत्मीयता रखती है, इसलिए कि वह उसके लिए और लोगों से थोडे ज्यादा अजनबी है और वह वहां से जा रहा है, उसके साथ की गयी हरकतें और बातें उसके साथ ही चली जायेंगी । बॉनी जानती है और बोलती भी है कि मनोज की दिलचस्पी एक और लड्की के साथ रात-गुजार लेने भर में है । वह मनोज का अपने क्वार्टर जाने का निमंत्रण इनकारती है यद्यपि

---

1. न आनेवाला कल - पृ·20

वह मानती है कि यह खेल (यौन संबन्ध) कभी भी खेला जा सकता है । कहीं भी । किसी के साथ में कभी कोई कुंठा ही नहीं रही । जब वह सत्रह साल की थी, तभी से । बॉनी के चरित्र की यह खूबी है कि किसी एक आदमी के साथ घर बसाकर रहने की बात से उसे शुरू से ही चिढ रही है और वह यह भी नहीं चाहती कि किसी भी आदमी का उस पर इतना अधिकार हो कि वह उसके बिना जी ही न सके ।

अपने अकेलापन से उबरने की कोशिश में मनोज उसकी बांहों को अपनी बांहों में उलझाते हुए चलता है । अपने होंठों को बॉनी के होंठों पर लदबाता है जैसे एक गार में अपने लिए पनाह ढूंढ रहे हो । लेकिन रास्ते चलते चलते दोनों महसूस करते हैं कि सारी बातचीत उस रास्ते को लांघ जाने का बहाना मात्र है । ज्यों ज्यों रास्ता कट रहा था, दोनों साथ होते और आपस में बात करते हुए भी धीरे धीरे एक दूसरे से अलग होते जा रहे थे[1] । और बॉनी के साथ पहाडी रास्ते पार करते, और उसे बिदा लेते उसका माथा बुरी तरह जकड लेता है, सिर दर्द होता है और जिस्म की हरारत बढ जाती है ।

बॉनी हाल से असफल होने के बाद भी उसकी कोशिश जारी रहती है, एक ही झटके में स्कूल से शोभा से और आसपास की सब चीज़ों से एक तरह का प्रतिशोध ले लेने के सुख के लिए वह काशनी को अपने साथ सटा लेने की कोशिश करता है । काशनी इस तरह सट आती है कि वह रूई और कपडे की बनी एक पुतली हो - बिना किसी विरोध या प्रयत्न के वह उसके होंठों, गालों और गर्दन को चूम लेता है । लेकिन उसमें जान नहीं आती । वह आखिर उस निर्जीव गठरी को अपनी सेहत से हटा लेता है ।

---

1. न आनेवाला कल - पृ.126

मनोज के अलावा "न आनेवाला कल" के अधिकांश पात्र इस प्रेमहीनता या संबन्ध हीनता के शिकार हैं । टोनी व्हिसलर अपनी नपुंसकता की वजह से ही इतना कानूननुमा रहता है । वह जेन से छुटकारा चाहता हुआ भी उसकी नकेल में रहता, क्योंकि उसे डर लगता है कि कहीं यह बात बाहर लोगों पर प्रकट न हो जाए । इसी तरह रोज़ ब्राइट को कम उम्र के लड़कों के साथ वक्त बिताने का शौक है । इसलिए वह अपने पति को मशीन के पूर्जे की तरह काम करते रहने के लिए मजबूर करती है । चेरी और लारा ने प्रेम-विवाह किया है, लेकिन चेरी मिसिज़ दारूवाला से अनैतिक संबन्ध रखता है ।

यों उपन्यास का जीवन लड़खड़ाते हुए, घिसटते हुए चल रहा है । यहाँ प्रेम वैयक्तिक सीमाओं को लाँघकर एक सामाजिक समस्या बन जाता है । प्रेम की यह त्रासदी, सामाजिक परिवेश की यंत्रणाओं की उपलब्धि है, व्यक्ति इसका छटपटाता माध्यम मात्र है ।

अंतराल

"अंतराल" का परिवेश "अंधेरे बन्द कमरे" और "न आनेवाला कल" का नहीं है । "अंतराल" के कुमार और श्यामा का अपना अतीत है । दोनों के मन में अतीत के अनुभवों की तलहटियाँ जम गयी हैं । दोनों वैवाहिक जीवन की निरर्थकता से अभिभूत हैं । शारीरिक भोग के प्रति वितृष्णा दोनों के रग रग में व्याप्त है । पर दोनों के मन अधूरे हैं, दोनों आत्मीयता की चाह में, रिक्तता भरने की कोशिश में निकट आते हैं, पर आखिर महसूस करते हैं कि उन नामहीन संबन्धों में पूर्णता की तलाश एक भूलभुलैया है, व्यर्थता का सैलाब है ।

श्यामा दो वर्ष अपने पतिदेव के साथ रही थी । इन दो वर्षों के अंतराल में देव के प्रति प्रेम की भावना कभी उसके मन में जाग्रत नहीं हुई ।

पति के साथ होने की आत्मीयता उसने कभी भी महसूस नहीं की । वह सिर्फ यह समझ गयी कि पति-देव केवल अधिकार भाव से उससे जुडा रहता है । उसे सिर्फ उसका शरीर चाहिए ।

कुमार के जीवन में लता को न पाने के कारण एक अभाव था । एक दूसरी लड्की से शादी करके इस अधूरापन को भरने की कोशिश भी उसने की थी । लेकिन वह समझौता छः महीने से अधिक ढोया नहीं गया । वह समझ जाता है कि केवल सामाजिक रिश्तों के नाम से जीवन जिया नहीं जा सकता । वह आत्मप्रवंचना है । उसका विचार है कि यह जिन्दगी जानवारों से भी बदत्तर नहीं कि जिसे आदमी अंदर से नफरत करे, उसके साथ एक ही घर में रूंधा रहे । झूठे रिश्ते को निभाने से बेहतर है कि आदमी मशीन की तरह काम करे और नींद आने तक किसी न किसी शोर में डुबाये रखे[1] ।

यों अनुभव के परिप्रेक्ष्य में श्यामा और कुमार अपने जीवन की रिक्तता को भरने और अकेलापन को नकारने के लिए निकट आते हैं । एक विशिष्ट आत्मीयता की खोज में दोनों एक दूसरे के मन को कुरेदते हैं । पर दोनों इस आत्मीयता और निकटता को शब्दबद्ध करना नहीं चाहते । दोनों की तलाश है - प्रेम संबन्ध का वास्तविक अर्थ । और दोनों संबन्धों के बिना नाम दिए भी सब कुछ पा लेना चाहते हैं ।

श्यामा कुमार के साथ सचमुच जीना चाहती है, "उपलब्धि का क्षण पाना चाहती है । लेकिन बीच में, अनुभव की तलहटियों से यह प्रश्न उभर आता है - "शारीरिक आकांक्षा सचमुच एक तृप्ति होगी ? या निराशा ? अपने आप उससे भर जाएगा या खाली महसूस होगा ?" श्यामा हर पल स्वीकार और अस्वीक के हाशिये पर अन्तर्द्वन्द्व से पीड्ित हो छटपटाती रहती है ।

---

1. अंतराल - पृ.204

कुमार भी उपलब्धि के क्षण पाना चाहता है । वैसे ही वह श्यामा को बाहुपाश में कसमसाना चाहता है, श्यामा छिटककर अलग हो जाती है । श्यामा के मन में प्रश्न उठता है, यही प्यार है ? देव ने भी यही चाहा था । और प्यार के प्रति गहरी वितृष्णा से वह कुमार को छोड़कर चली जाती है । लेकिन कुमार के मोह से वह पूर्णत: उबर नहीं पाती । वह कुमार को लिखती है "मैं तो जा रही हूँ, पर यह मत सोचना कि तुम्हारा तिरस्कार करके, जो भी संबन्ध था उसे तोड़कर जा रही हूँ । हो सकता है कि फिर तुम्हें आने के लिए लिखूँ । लेकिन अबकी आना तो ऐसी वैसी बात सोचकर मत आना"[1] ।

इस प्रकार अंतराल में विवाह संबन्धों की निरर्थकता की नींव पर प्रेम का एक नया आयाम खड़ा कर दिया गया है । और अंतराल इसकी बुलन्दी लगाती है कि सेक्स प्रेम की नियामक शक्ति है । हम जबरदस्ती से उसे हटा नहीं सकते । श्यामा के चले जाने के बाद भी कुमार को लिखना और उसमें विशेषत: ऐसी वैसी बातें सोचकर मत आने की बात, अप्रत्यक्ष रूप में कुमार के लिए निमंत्रण है । और यह मनोवैज्ञानिक सत्य भी है कि नारी पहले इनकारती है, फिर समर्पिता बनती है । पर इससे भी बढ़कर अंतराल में यही तथ्य उभर आता है कि "प्रेम" उसका अर्थ खो चुका है । प्रेम के वास्तविक अर्थ की तलाश में श्यामा और कुमार के हाथ में यही आता है - अलगाव ।

वे दिन

निर्मल वर्मा - वे दिन में "प्रेम" नहीं है । प्रेम मर चुका है । लड़ाई के दिनों में बहुत लोग मर जाते हैं । इसमें कुछ अजीब नहीं है । लेकिन कुछ चीज़ें ऐसी हैं जो लड़ाई के बाद, शांति के दिनों में मर जाती हैं:- उनमें

---

1 अंतराल - मोहन राकेश - पृ० २१८

एक है प्रेम । मानसिक रूप में आदमी मृत होता है और मृत व्यक्तियों के बीच कोई संप्रेषणीयता नहीं, वे प्रेम नहीं कर सकते । "वे दिन" की रायना अपने दांपत्य जीवन के बारे में इन्टरप्रेटर से कह रही है - "हम दोनों साथ साथ रहते थे । ..... मुझे कभी लगता था, जैसे हम दोनों अब भी किसी "कोणसेन्ट्रेषन केंप" में रह रहे हैं । एक ही घर में । उसके बाहर जाकर वह जीवित नहीं था, मैं भी नहीं ..... मैं किसी काबिल नहीं रह गयी हूँ..... नॉट इवन् फोर लाव् ..... पीस किलड इट्"[1]

रायना जानती है कि प्रेम उसकी आकांक्षाओं का स्वर्ग नहीं है । प्रेम है, केवल एक छोटा सुख । ठिठुरती हुई ठंड में हाथ सेंकने की तरह । अकेलापन के घोर अंधेरे में दो व्यक्ति लगभग टटोलते हुए एक दूसरे के हाथ पकड लेते हैं - संवेदना, आश्वासन, सुख और संतोष की लहर दो व्यक्तियों के बीच प्रवाहित होती है और वे फिर अलग हो जाते हैं । अपने अपने दायरे में सिमट जाते हैं । उस वक्त वे न छटपटाते हैं, न विक्षिप्त होते हैं । पर एक हल्की सी पीडा के साथ उसे स्वीकार कर लेते हैं और आगे चल पडते हैं - अपनी अपनी राहों पर । यही है प्रेम । टूरिस्ट रायना, दो दिन के अंतराल में अपने इन्टरप्रेटर के सामने स्वयं ~~निर्वस्त्र~~ निर्वसन होती है, उसे भोगती है । यहाँ नैतिकता-अनैतिकता से परे प्रेम एक पल के सुख के रूप में सुंकुचित हो जाता है । उस वक्त इन्टरप्रेटर उससे पूछता है "क्या तुम्हारे संग अक्सर ऐसा होता है, दूसरे शहरों में ? रायना निस्संकोच जवाब देती है - "हाँ होता है, मैं ज्यादा दिन अकेली नहीं रह सकती"[2] ।

इस प्रेम में परिचय, अपरिचय का कोई महत्व नहीं है । रायना और इन्टरप्रेटर का प्रेम दो दिन का है । लेकिन यह कम जानना ही ठीक है । रायना कहती है - "हम एक दूसरे के बारे में कम ही जानते हैं । तुम्हें यह बुरा लगता है नहीं मुझे यह कम भी ज्यादा लगता है - हम उतना ही जानते है, जितना ठीक है"

---

1. वे दिन - पृ.२०१.
2. वही - पृ.204
3. वही - पृ.227

और भोगने के बाद रायना उससे पूछती है - क्या तुम्हें बुरा लगा ? यह शायद अनैतिक है । मैं नहीं चाहती थी कि यह तुम्हारे साथ हो । तुम्हें पछतावा तो नहीं ? एक दूसरे को बाद में पछतावा हो । "दन् इट् इस् मिसरी" ।

यों "वे दिन" में प्रेम संवेदना की नयी परतें उजागरित होती हैं । प्रेम क्षण की अनुभूति हो जाता है । वह केवल पल का संबन्ध रह जाता है । और इसमें शारीरिक पवित्रता पर आधारित नैतिकता भी बरी तरह जख्म हो गयी है । शहर शहर में निरावरण करती हुई रायना की मानसिकता ने उसे कहीं खोह में धकेल दिया है । और "वे दिन" के द्वारा हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में नारी का एक और रूप उभर आया है - नारी अभी तक भोग्य रही है, "वे दिन" में वह भोगी हो जाती है ।

कमलेश्वर का डाकबंगला

"डाकबंगला" में कमलेश्वर ने अपनी नायिका इरा के द्वारा प्रेम की नयी व्याख्या दी है । इरा कमलेश्वर की महान उपलब्धि है, अनूठी सृष्टि है । परंपरागत सामाजिक मूल्यों के सम्मुख प्रश्न चिह्न लगाती हुई, एक चुनौती का साकार रूप लिए वह हमारे सामने आती है । उसके इर्द-गिर्द विमल, बतरा, चन्द्रमोहन, तिलक और सोलंकी - पांच वीर पुरुष पांच कोणों से जुडे हुए हैं । "स्त्री की शारीरिक पवित्रता" के विघटित एवं खोखले मूल्य के आधार पर इरा का चरित्र गढित हुआ है । उपन्यास में उसका मांसल एवं भोग्या रूप ही उभर आता है । प्रेम केवल शारीरिक संबन्ध, छल या अभिनय मात्र रह गया है । और भोग - संवेदना के एक नये आयाम - पुरुष की दीन दशा से तडपकर नारी की समर्पिता बनने - का भी उद्घाटन इसमें हुआ है ।

सभी कुल-मर्यादाओं को तोड़कर, परिवार से अपना संबन्ध काटकर इरा कलाकार विमल के साथ भाग जाती है । विमल के साथ जीते हुए वह महसूस करती है - "शादी करने से कोई बडा फर्क नहीं आता, क्योंकि शादी से आत्मा का कोई संबन्ध नहीं है । अगर आत्मिक मिलन की ही बात होती तो शादियां करने की उम्र पचास के बाद होती"[1] । आर्थिक तंग से वह विमल को छोड़कर भाग जाती है और बतरा के साथ रहने लगती है । वह बतरा की सारी बुराइयां, बेईमानियां और बेवफाइयां सह लेती हैं क्योंकि हर आदमी उसे बहुत दु:खी लगता है, वह कह रही है - "हर आदमी मुझे बहुत मायूस लगता है, जब भी मैं ने आदमी को अकेले में देखा है, मेरा मन उसके लिए करूण हो आया है । क्योंकि आदमी जीवन में बहुत दु:खी है । और उसके दु:खों के बदले में प्यार ही दे सकती हूँ"[2] । शीला की वजह से इरा बतरा को छोड़कर पागल डाक्टर चन्द्रमोहन को स्वीकार करती है । इस स्वीकार में भी उसकी पुरुष के प्रति करूणा ही काम करती है । वह कहती है - "उसकी निरीहता पर मुझे तरस आता था"[3] । "मुझे बडा रहम आता था उसपर"[4] । लेकिन दिन खोलकर वह उसे प्यार नहीं कर सकती । शारीरिक भोग में भी उसे सुख नहीं मिलता - " "जब पहली बार कांपते हुए उसने मुझे प्यार से चूमा था तो मैं गिजगिजाहट से भर गयी थी .... जैसे किसी मेढक पर मेरे ओंठ पड गये हो"[5] । लेकिन चन्द्रमोहन की मृत्यु उसे झकझोर देती है और जिसे जीते जी उसने तिरस्कार किया, मृत्यु के उपरान्त सच्चे दिल से प्यार करने लगती है ।

एक और बार अपने पहले प्रेमी विमल से इरा की मुलाकात होती है वह राज्ययक्ष्मा से पीड़ित है । इरा में फिर वही रहम का भाव जाग जाता है ।

---

1. डाक बंगला - पृ·67
2. वही - पृ·75
3. वही - पृ·82
4. वही - पृ·85
5. वही - पृ·84

वह चाहती है कि विमल के रोग के कीटाणु वह स्वयं चूस ले । विमल नीरोग हो जाय । लेकिन विमल चला जाता है, सदा के लिए ।

फिर इरा के जीवन में दो और पुरुष आ जाते हैं - सोलंकी और तिलक । तिलक को अपनी आप-बीती सुनाती हुई इरा कहती है "तिलक मुझे बांहों में कस लो और मेरे सूखे हुए होंठों में अपने ओंठ रखकर मुझे बेसुध कर दो और मैं सब कुछ सच सच बता दूंगी"[1] । उस वक्त भी उसका मन बेबसी और मायूसी का सैलाब बन जाता है - "मेरी आंखों के सामने तस्वीरें आती हैं । घोडा दौडाकर जाता हुआ सोलंकी ··· और वीरान डाक बंगला सोलंकी के दिल पर क्या बीतती होगी"[2] ? आप बीती सुनाकर तिलक को इरा स्पष्ट कह देती है कि वह तिलक से शादी नहीं करेगी क्योंकि तिलक उसके जीवन का सारा राज जान चुका है । राज बता देने के बाद वह पत्नी नहीं रह सकती क्योंकि पुरुष के मन की उदारता हमेशा नहीं रहती ।

वास्तव में इरा ने विमल को ही प्यार किया था । जब विमल ने संदेह की दृष्टि से उसे देखा, तब वह सभी पुरुषों के प्रति संदेहशील हो गयी । उसके जीवन में कुछ नहीं रह गया था, इसलिए उसने प्रेम का नाटक रचा । प्रेम का खूब फरेब किया । पुरुष प्राय: स्त्री को छल करता आया है । यहां स्त्री पुरुष को छल करती है । या उससे दया दिखाती है । यों डाक बंगला की इरा की वजह से प्रेम का एक नया आयाम खुलता है । प्रेम प्रवंचना और अभिनय बन जाता है ।

बैसाखियोंवाली इमारत (रमेश बक्षी)

"बैसाखियोंवाली इमारत" में आकर प्रेम केवल संभोग रह जाता है और शादी प्रेम के गोरखधंधे से बचने का उपाय । उपन्यास के सभी पात्रों का

---

1. डाक बंगला - पृ.31
2. वही - पृ.177

व्यक्तित्व "एन्टी लव" से बना है । उपन्यास का नायक एक दैनिक पत्र का कला-समीक्षक है । वह मिलनसार है, विशेषत: लड़कियों से । लेकिन प्रेम उसके लिए "आउट ओफ डेट और प्राचीन - संस्कृति - प्रधान परंपरा - युक्त मूर्खता है"[1] । प्रेम जैसे रूढ शब्द से ही उसे नफरत है । वह ज़हर खा सकता है, लेकिन किसीसे प्रेम नहीं कर सकता । उसकी पत्नी उससे पूछती है - "क्या सचमुच मुझे प्यार नहीं करते । वह तुरंत निस्संकोच बता देता है "मैं ने तुमसे शादी की है । पति-पत्नी का रिश्ता है । प्रेम नाम की कोई मूर्खता हमारे बीच में नहीं । मैंने अरेंजड् मारियेज इसलिए की है कि प्रेम का गोरख-धंधा मुझे बेवकूफी लगता है"[2] । प्रेम नहीं रहा तो, रोमान्स का मज़ा तो रहना ही चाहिए । लेकिन उसकी पत्नी उससे भी वंचित है । वह "ब्लाउस" का "हुक" डालने के लिए पति से अनुरोध करती है । लेकिन अनमने ढंग से यह काम करते देख वह गुस्से से उसे झटककर कहती है - "हट जोओ, यह हस्बन्ट ब्लाउस इसलिए बनवाया था कि कपडे पहनते भी "रोमान्स" का मज़ा लिया जा सके"[3] ।

प्रेम का स्तर गिर गया है । "दुनिया उस सिरे पर जा पहुंची हैं जहां टेलफोण पर प्यार-मुहब्बत, मेल-मुलाकात, किस हिस सब हो जाते हैं"[4]। इसलिए पत्रकार चाहता है कि इस ढोंगी, भद्दे मुहब्बत के खिलाफ एक आंदोलन ही छिड जाय । पत्रकार का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है । वह किससेसे बंधना नहीं चाहता । उसका जीवन एक निर्बाध प्रवाह है, एक कूलहीन धारा । अपने इस विशेष व्यक्तित्व के कारण ही वह वसुधा से मिलने "विक्टोरिया मेमोरियल" में न जाकर - क्योंकि वसुधा ने उससे विवाह करने का अनुरोध किया था - मिस जायस से मिलने "मोकम्बो" में जाता है और उसकी खूबसूरत बांहों में अपने को खो देता है ।

---

1. बैसाखियोंवाली इमारत - पृ.16
2. ब वही - पृ.24
3. वही - पृ.23-24
4. वही - पृ.23

मिस जायस प्रोफसर है । उसे प्यार मुहब्बत में बिलकुल विश्वास नहीं है । प्यार को वह रोग या बकवास मानती है । वह हमेशा "मिस" रहना चाहती है । लेकिन अपनी शारीरिक भूख के लिए पुरुषों को, विशेषत: विवाहित पुरुषों को जाल में फंसाने में विश्वास रखती है । उसकी राय में विवाहित पुरुषों के साथ कोई "रिस्क" नहीं है, केवल इतना है कि पत्नी से नफरत करवा दो । जायस किसीसे गहरा संबन्ध भी नहीं रखना चाहती । वह सिर्फ प्यार के नाम पर उन्मुक्त शारीरिक संबन्धों को ही स्वीकारती है जो मनोरंजन देता है । पत्रकार के साथ भी उसका सतही अर्थात् मतलब का परिचय ही है । "कटे हुए लोग कहीं मिल जाय और मिलकर किसी भी दशा में खो जाय । मैं इसीको आदर्श मानती हूँ"[1] । इसी आदर्श की कसौटी पर वह अपना शरीर सहर्ष सौंप देती है । अपने को फ्लर्ट या चरित्रहीन समझना और समझाना, उसके लिए सबसे बडी उपलब्धि है । वह कहती है - "कोई मुझे फ्लर्ट कहे तो मैं दावा के साथ सिद्ध कर सकती हूँ कि यह मेरी सबसे बडी सामाजिक उपलब्धि है"[2] । सेक्स की भावना उसके रग रग में व्याप्त है । हर पल उसे किसीको फंसाने का विचार है । उसकी भाषा तक सेक्सीली है । वह पत्रकार से फोण पर पूछती है - "तुम्हें भी अजीब लडकियों सी आती है - उदासी नहीं, मेनसस हो जैसे"[3] ।

जायस नारी - स्वतंत्र्य की बुलन्दी लगाती है । उसकी राय में सेक्स के मामले में स्त्री को खुली छूट मिलनी चाहिए भारतीय नारी हमेशा पुरुष की भोग्य रही है, उसे पुरुष से स्वतंत्रता मिलनी चाहिए । नारी के लिए सहानुभूति प्रकट करते हुए वह कहती है - "इटली में कान्ट्रसेप्टीव पिल्स बेचने के लिए आटोमाटिक मशीनें लग चुकी हैं । यहां प्रेमिका गर्भवती होती है और प्रेमी उसे धोखा देता है तो पेट के लिए ज़माने की ठोकर खाती है"[4] ।

---

1. बैसाखियोंवाली इमारत - पृ. 134
2. वही - पृ. 37
3. वही - पृ. 115
4. वही - पृ. 68

यह है जायस का पूरा चरित्र जो मुक्त भोग की कामना में, अपने शरीर को पुरुषों की बांहों में हिचकोले करती या युवा-खिलाड़ियों के मैदान में गेंद की तरह उछलती चलती है और "स्वच्छन्द" रहने के मिथ्या मानसिक फरेब में जीती है ।

यों बैसाखियोंवाली इमारत द्वारा जायस और पत्रकार जैसे स्त्री-पुरुषों के चरित्रों का उद्घाटन करके रमेश बक्षी ने प्रेम, शादी और सेक्स पर आधारित सारे परंपरागत नैतिक मूल्यों की दीवारों में गहरी दरारें की हैं ।

दूसरी बार (श्रीकांत वर्मा)

~~श्रीकांत वर्मा~~

इसमें प्रेम निरर्थक हो जाता है, और फिर धीरे धीरे अस्तित्व की निरर्थकता की ओर बढ जाती है । प्रेम करने में असमर्थ व्यक्ति अपने अस्तित्व को नकारता है और कुछ भी करने में असमर्थ हो जाता है ।

'दूसरी बार' का नायक अपने जीवन की निरर्थकता, प्रेम और प्रेमिका के माध्यम से ही प्रक्षेपित करता है । वह प्रेम को गंभीरता से नहीं लेता । उसका प्रेम प्रेम नहीं बल्कि अकेलापन की एकरसता के बाहर एक खेल है ।

वह हमेशा एक अनजान कुंठा से पीड़ित है जो उसे प्रेम-संवेदना से दूर हटाती रहती है । "दूसरी बार" के नायक की यह त्रासद स्थिति है कि वह अपनी प्रेमिका के सघन समर्पण और आत्मीयता के स्वप्निल क्षणों में भी आत्मनिर्वासित रहने के लिए अभिशप्त है । उसे स्त्री की चलती नग्नता में भाव-विभोर होकर रहना ही पसन्द है । "स्त्री को कमरे में नग्न चलते देखना अपने आपमें एक अनुभव है । समूची स्त्री सजीव होती है । प्रत्येक अंग का अपना

सहज विन्यास होता है ····· और स्त्री का शरीर और भी लुभावना प्रतीत होता है"[1]।

वास्तव में यह संवेदनाशून्य नहीं है । ऐसा भी लगता है कि वह अतिरंजित संवेदनाओं से आक्रान्त है । मध्ययुगीन मंदिरों की दीवारों पर उत्कीर्ण अप्सराओं के याचना - भरे मुख और प्यासे ओंठों को देखकर उसके मन में अनुपम आवेग पैदा होता है । मोह, प्रेम और अंधकार शायद तीनों ही इस आवेग का उत्कर्ष है जोकि स्नायु या मस्तिष्क में हिरण की तरह चौकडी मारता है[2]। लेकिन प्रेम के इस अतीन्द्रिय अनुपम सौन्दर्य को भौतिक रूप में अनुभव करने में वह असमर्थ है । पहली बार संयोग के वक्त उसे शीघ्र स्खलन होता है । फलत: हीनताबोध उसे घेर लेता है । वह साहस बटोरता है ताकि विजय हासिल कर सके । यों सेक्स संबन्ध एक होड बन जाता है और यह होड बैटिंग के रूप में होती है । पर जिस प्रकार गेंद गोल पोस्ट के दायरे में पहुंचकर भी गोल नहीं होता वैसे ही उसकी भी स्थिति होती है । वह अपमानित होता है, उसकी विवशता की स्थिति होती है । और अंधेरे में मुंह फेरकर बायें हाथ से सीना पकड्कर के करने तक यह संबन्ध ज़ारी रहता है । अत: वह अनुभव करता है कि यह सारा संबन्ध निरर्थक है । और उसके लिए यह निरर्थकता मिचली की अनुभूति हो जाती है ।

यों "दूसरी बार" में प्रेम और सेक्स संबन्ध, वितृष्णा की चरम अभिव्यक्ति का रूप बन जाते हैं । और इसमें प्रेम से उद्भूत आत्मनिर्वासन और उससे उद्भूत निरर्थकता को गौरवान्वित किया गया है । यह प्रेम-धारणा के विकास में एक नया आकलन प्रस्तुत करता है । और प्रेम की निरर्थकता को अस्तित्व की निरर्थकता की ओर उलीचना "दूसरी बार" की एक और उपलब्धि है ।

---

1. दूसरी बार - पृ. 115.
2. वही - पृ.111

मछली मरी हुई (राजकमल चौधरी)

"मछली मरी हुई" में प्रेम नहीं है, बल्कि है यौनाचार का एक खुला दस्तावेज़ । इसमें सेक्स के विभिन्न हाशियों - होमो सेक्वालिटि लेस्बिनिसम - का भी संपूर्ण विवरण है जो सेक्स पर शोध करनेवाले विद्यार्थियों को उपयोगी हो सकते हैं ।

उपन्यास का नायक निर्मल पद्मावत है । उसकी एक हीन-ग्रन्थि है । औरतों के साथ संभोग करते वक्त, उसका शीघ्र-स्खलन होता है, वह जल्दी ठंडा हो जाता है । कल्याणी उसकी प्रेमिका है । वह तो खुलकर संभोग करने की आदी हो चुकी है । दरवाज़ा बंद करके, छिपकर संभोग करना वह पसंद करती नहीं । वह निर्मल को दरवाज़ा बंद करने नहीं देती - "इसकी क्या ज़रूरत है ? पर्दे के पीछे क्या होता है, यहां कोई झांककर नहीं देखता"[1] । अपनी हीनता-ग्रन्थि से उबरने के तीव्र आवेश में निर्मल का कल्याणी के साथ संभोग प्रतियोगिता लिए होता है, लेकिन निर्मल की बार बार हार होती है । कल्याणी ओर्गज़म के अभाव में निराश एवं रोष से चिल्लाती है - "बस इसी ताकत पर ? इतने ही के लिए ? बस इतने ही के लिए"[2]

कल्याणी के साथ कुछ रातें बिताये विश्वजीत मेहता की पत्नी शीरी को निर्मल शादी करता है । शीरी जब संभोग चाहती है तो निर्मल को सूचित करके तीसरी मंजिल के "बडे रूम" में आती है । निर्मल शीरी में कल्याणी को ही देखता है । निर्मल धीरे धीरे शीरी को उत्तेजित करता है, कपडे उतारता है लेकिन शीरी जल्दी करने के लिए चीखती है । निर्मल रति-क्रीडा प्रारंभ करता है,

---

1. मछली मरी हुई - पृ.69
2. वही - पृ.80

लेकिन जल्दी "फ्यूस" होता है । शीरी निराशा से कल्याणी की तरह आक्रोशती है - "सिर्फ इतना ही चाहते थे, मुझे मार क्यों नहीं डालते" । फिर अपनी आसक्ति की पूर्ति के लिए हस्तमैथुन करती है, या अपनी बडी बहिन या प्रिया के साथ समलैंगिक संबन्ध करने की कोशिश करती है ।

शीरी ने बरसों तक अपनी बहिन युसी के साथ समलैंगिक ज़िन्दगी बितायी थी । लेकिन युसी के विवाह के बाद वह भी विश्वजीत मेहता से व्याह करती है । बूढा मेहता उसकी अतिरिक्त आसक्ति को शांत करने में असमर्थ होता है । शीरी निर्मल की ओर खिंच जाती है । निर्मल के साथ भी उसकी आकांक्षाएं पूरी नहीं होती, तब वह प्रिया जैसे मासूम लडकियों को अपने जाल में फसाने लगती है ।

अपनी हीन भावना से उबरने के प्रयत्न में एक दिन निर्मल प्रिया के साथ बलात्कार करता है । प्रिया को वास्तविक रति-सुख की अनुभूति मिलती है डॉ॰ रघुवंश अपनी बेटी के साथ किये इस बलात्कार को स्वागत करता है क्योंकि इससे प्रिया अप्राकृतिक यौनाचार से बच गयी ।

"मछली मरी हुई" का हिन्दी उपन्यास के इतिहास में ऐतिहासिक महत्व है । यह हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में नैतिकता-मूल्यों से परे एक नये क्षेत्र, या असलियत के एक नये आयाम की ओर लेखकों, पाठकों और शोधार्थियों का ध्यान आकर्षित करता है ।

सफेद मेमने (मणि मधुकर)

सफेद मेमने में प्रेम नहीं, सिर्फ संबन्ध है - आदमी और औरत का जानवरनुमा संबन्ध । यह संबन्ध एक बार जानवर के साथ भी हुआ है । आधुनिक हिन्दी उपन्यास साहित्य में पहली बार ।

नेगिया गांव का पोस्ट मास्टर है राम तौर । उसकी पत्नी है बन्ना । इनके बीच प्रेम कभी मिट चुका है । अब दोनों की ज़िन्दगी एक समझौते पर चल रही है । शादी के वक्त ही बन्ना निस्संग थी । अपनी मामी से उसने सैंतालीस के दंगों की कहानी सुनी थी जिन्होंने उसकी मां, पिता और भाई को मिटा दिया था । जीवन के प्रति बन्ना का सारा आकर्षण इस म्रियमाणता के अहसास से सीख जाता है । वह निष्क्रिय एवं निस्संग हो जाती है । अपनी नपुंसकता की वजह से रामतौर बन्ना की निष्क्रियता सह लेता है और बोरियत से बचने कभी शिकार के लिए जाता है तो कभी गलिहारियों को दाना चुगाता है ।

बन्ना को अपनी मामी से पता लगा था कि "ठंडी" और "तेज़" औरत क्या होती है ? आदमी कैसे तालाब में "डूबता" है, "तैरता" है और "उबर" कर किनारे पर आ जाता है । मामी उसे मामा का उदाहरण देकर समझाती थी । उसका चेहरा उत्तेजन ा से कांपने लगता था और कभी कभी तो अपनी हथेलियां जांघों के दबाव में चली जाती थीं । बन्ना मामी का यह रूप देखती और विचलित हो उठती थी । अपनी तत्कालीन समझ से ही उसने जाना कि मामी एक ठंडी स्त्री है और मोमबत्ती का इस्तेमाल करती है । दो चार बार बन्ना ने भी, देखा-देखी में, मोमबत्ती को तन की उष्णता के महस रोप देने की कोशिश की थी, पर उसे एक छटपटाहट और असफलता में ही हांफते रहना पडा था"[1] । और जब उसने जाना कि सैंतालीस के दंगों के वक्त कैसे आठ नौ जनों ने मां की नंगी देह को रौंदा, स्तनों की घुंडियां उतार लीं और कूल्हों के बीच में मिरची का चूरा भर दिया, तो उसकी सारी उष्णता कहीं पानी पानी हो गयी । अपने शरीर के लिए आकर्षण मिट गया ।

---

1. सफेद मेमने - पृ.80 राधाकृष्ण प्रकाशन, 1971

वह फ्रिजिड सी हो गयी । रामतौर की नपुंसकता इसे गहराती गयी । लेकिन सन्तों का पुरुषत्व उसमें सोयी औरत को जगाता है । सन्तों के उसके कूल्हे पर हाथ रखते ही बन्ना बुरी तरह कांप उठी थी । "उसे लगा, वह कोई निर्णय नहीं ले पा रही है और एक अनजानी सुरंग में चलती हुई बेहोशी की गिरफ्त में पहुंच गयी है । कुछ पलों बाद वह खाट पर थी और सन्तों उसके रोए-रेशे बिखेर रहा था । उसकी आंखें मुंद गयीं । शरीर हल्का हल्का हो गया । सन्तों की भारी भारी सांसें उसे मसल रही थीं । होंठों को होंठों में पीसा जा रहा था और बांहों पर बढता हुआ दबाव उस गहरी एकरसता को टूक टूक कर रहा था, जो उसके भीतर पत्थर की भांति कठोर पड गयी थी । बन्ना को लगा, पहली बार उसे पुरुष ने छुआ है, उसके कौमार्य की जड्ता को अपने अनंत बल से भंग किया है । वह शान्त हो गयी और सन्तों की भुजाओं में अधर उठ गयी"[1] ।

जब रामतौर को पता लगता है कि बन्ना पेट में सन्तों का "मैल ले रखा है" तो वह पागल सा हो जाता है । वेदना कचोटते कचोटते एक दिन वह अपने से बाहर हो बन्ना को बेंत से बुरी तरह मारता है । पति-पत्नी का शिथिल संबन्ध पूर्णत: टूट जाता है । बाद में रामतौर स्वयं महसूसता है कि वह प्रवृत्ति उसकी सनक थी, अपने नपुंसक व्यक्तित्व की कठोरता थी । लेकिन उसका विलंब हो गया । बन्ना सन्तों के साथ भाग जाती है । जानवरों का डाक्टर भानमन अविवाहित है । वर्षों से वह अकेलापन की जिन्दगी जीता आ रहा है । उसके `मकान की बारह कोठरियों में, एक में वह रहता है । शेष में जानवर । चिकित्सालय में उसके सिवा और कोई नहीं है । कभी कभी औरत की चाह उसकी नसों में अड्क उठती है । एक बार विवश हो चिडचिडाकर फ्रेम में चिपकायी एक फिल्मी सुन्दरी के स्तन वह तोड देता है जो अपनी अर्द्धनग्नता से मनहूसियत का आलम कम करने में यदा कदा सफल हो जाती थी[2] ।

---

1. सफेद मेमने - पृ. 112-123
2. वही - पृ. 30

कभी वह औरतों की कमर तक घाघरा उठाकर रगड़ने की क्रिया अपनी खिड़की का सहारा लिए ताकता रहता है । पोस्ट-मास्टर की पत्नी चिकनी मांसल बन्ना के प्रति उसको विशेष ममता है । बन्ना को देखकर वह महसूस करता है कि बन्ना के शरीर की बनावट में एक झूम है जो जब तक अंग अंग से फूटने लगती है, किरणों की भांति, नहीं सूरजमुखी की कलियों की भांति"[1] । ताश खेलने बन्ना के नज़दीक आने पर उसके चेहरे की तेलिया गंध सूंघने की इच्छा उसमें बलवती हो उठती है । अत: बन्ना की निकटता से उसमें यौवन फूट निकलता है, रक्त गरम होता है, नसें तनती हैं । एक बार यों तने नसों को ढीला करने नस उठ जाने से त्रस्त भैंस के साथ वह संभोग करता है - "डाक्टर की जांघों के बीच का हिस्सा कडा पडने लगा । पिंडलियों में कंपकंपी दौडने लगी । उसने पैंट के बटन खोले और जल्दी से भैंस के पुट्ठों को दबाकर बैठ गया । ढीली पूंछ ऊपर उठा दी । गोबर की बू सांस में भर गयी, पर उसे वह बुरी नहीं लगी । एक गिलगिला आवरण चारों ओर से उतर आया और वह हांफता हुआ उसमें पूरी तरह गुम होने लगा । व्यर्थ, सब कुछ व्यर्थ । सच सिर्फ यह क्षण है । उसने रगों के तनाव को, ताप को अंदर डुबोते हुए सोचा"[2] ।

दशहरे के मेले में सन्तों गाबासी के आठ जाट लोगों पर गोली चलाता है । एक बनिये की तिजोरी लूट लेता है और एक जाटणी को बराऊ ले आता है । वह उसे (सुरजा) मेमने की भांति छीलकर रख देता है और रोज़ अपने दोस्तों को ले आता है, सुरजा पर चढाई करने के लिए । वह सोचता है इससे उसका नुकसान होगा । वह हलाल हो जाएगा । लेकिन सुरजा जाटणी है । वह माननेवाली नहीं" । वह जस्सू से कह रही है - "वह मेरी आंखों में आंसू देखना चाहता है । मैं जाट की जाई हूँ, समझे । रोएगी मेरी जूती । मुझमें सामरथ है, दस मरद एक छंट झेल सकती हूँ । सिसकारी तक नहीं निकालूंगी ।

---

1. सफेद मेमने - पृ.42
2. वही - पृ.50

सुरजा के साथ जस्सू की आत्मीयता बढ रही थी कि सन्तो सुरजा को थानेदार के साथ भेज देता है । सुरजा की निकटता ने जस्सू के पुरुषत्व को जगाया था, लेकिन उसका अचानक विरह उसे पूर्णत: तोड़ता है । इसकी वजह से उसके के साथ बरसों से चली आयी आत्मीयता चरमरा जाती है । नौकरी में उसका मन उचट जाता है । हर वक्त वह भानमत्ती के यहाँ दारू पीकर झक मारता रहता है ।

एक दिन रणसी को कहीं से एक बकरा मिलता है । शाम को घूम घूमकर वह अपने जान पहचानवालों को दावत दे आया कि रात को उसके यहाँ बकरा पकेगा । डाक्टर एक मटकी दारू का भी इन्तज़ाम करता है । उसी रात दारू की मस्तता में जस्सू रणसी की पत्नी जन्तरी के साथ संभोग करने का प्रयत्न करता है । नींद की बेहोशी में पहले जन्तरी समझती है कि वह मिनिया का बाऊ है । "धाघरी की पटलियाँ ऊपर कर जस्सू ने उसकी टाँगों को धीरे से फैलाया और अपने आपको एक गीले भाप भरे दल दल में खंभे की तरह रोप दिया । उसके शरीर का घुटता हुआ लावा कूटने को आतुर हो उठा । जन्तरी के गुदगुदे स्तन पकड़कर उसने हाथों से भींच लिए[1]। जन्तरी ने भी कुछ गरमाई महसूस की । उसने धीरे से पलकें उघाड दीं और जस्सू को पहचानकर चौंक पडी । वह जस्सू को ज़ोर से धक्का देकर उठ खडी हुई । जस्सू ने उसे बलात्कार रेत में घसीटने की चेष्टा की । लेकिन जन्तरी उसके गले को लोहे के कंगन से लगातार ठोंक रही, बेहोश होने तक ।

यों सफेद मेमने में स्वयंभोग, पर - पुरुष संभोग, जानवर के साथ संभोग, अनेक पुरुषों के साथ जबरदस्ती संभोग बलात्कार आदि संभोगों का एक नुमाइश तैयार किया गया है । और यहाँ सेक्स पर आधारित सारी नैतिकताएँ रेतीले माहौल में कहीं सोख गयी हैं ।

---

1. सफेद मेमने - पृ.142

एक पति के नोट्स (महेन्द्र भल्ला)

इसमें भी प्रेम शारीरिक संबन्ध तक सीमित है और धीरे धीरे यह संबन्ध 'दूसरी बार' की तरह निरर्थकता में बदल जाता है । सब कुछ निरर्थक हो जाते हैं - स्त्री, संगीत, शराब, प्रेम, सारे संबन्ध, सारी चीज़ें सब । प्रेम यहां पहुंचकर रुक जाता है क्योंकि आगे राह नहीं है, पर ज़रा पीछे हटता है, मध्यकालीन आध्यात्मिक करुणा की ओर । यह कदम "एक पति के नोट्स" की खूबी है ।

उपन्यास का नायक विवाहित है । वह अपनी पत्नी से प्रेम तो करता है लेकिन पति-पत्नी का संबन्ध उसके लिए निरर्थक है । संबन्ध रखते हुए भी वह महसूस करता है कि निरर्थकता की एक लंबी सुरंग से वह खिसकता जा रहा है । इससे उबारने के लिए वह मध्ययुगीन विलासी की तरह ऐन्द्रिक उत्तेजनाओं को स्वीकारता है । पत्नी सीता की जगह, पडोसी की पत्नी से उलझकर, उसे घर बुलाकर भोगता है । लेकिन कुछ हाथ नहीं लगता । शराब, संगीत और स्त्री उसकी निरर्थकता को व्यापक बनाती है । उसे लगता है कि नारी को पाने की चाह भी एक अधझूंठ है । और पुराना नैतिकताबोध उसे कचोटता है - "मैं बहुत छोटा हूं, घटिया, मैं ने महसूस किया । अदना से अदना"। अंत में यह निरर्थकता मध्ययुगीन संतों की आध्यात्मिक करुणा की ओर वापस लौटती है । यों गतिरोध से बचने के श्रम में प्रेम एक और मोड लेता है - पर वह पीछे की ओर है, क्योंकि आगे की राह बंद है । "मेरा मन करुणा से लबालब हो गया । हर किसी के लिए, सीता के लिए, अपने लिए, उन बच्चियों के लिए, सिग्रेट के पैकटों के लिए, यही रास्ता है । हम आधुनिक देख नहीं पाते । मगर है यही । कबीर, नानाक, रैदास, संतों का ध्यान आया ।[1]

---

1. एक पति के नोट्स - पृ.6

उनकी अपार हलीमी । ..... हाँ सबके मूल में यही लगा । असली खूबी यही है"[1] ।

सूरजमुखी अंधेरे के - कृष्णा सोबती

इसमें प्रेम बिलकुल नहीं है । प्रेम की निरर्थकता भी नहीं । लेकिन है, सिर्फ प्रेमहीन सेक्स संबन्धों का वर्णन । और सेक्स संबन्धी समस्यायें, अपनी विराटता के साथ इसमें अक्तरित हो गयी हैं ।

स्त्री के अवसाद की नींव पर उपन्यास की इमारत खडी है । वह बचपन में बलात्कार किये जाने के कारण "फ्रिजिड" हो गयी है । उसके आचरण असामान्य हो गये हैं । पर वह हर पल अपनी इस बेबसी से उबरने की कोशिश करती रहती है । वह मानसिक स्तर पर यौन संबन्धों के लिए अपने को सक्रिय बनाती है । लेकिन अफसोस की बात है कि वह शारीरिक स्तर पर काठ रहती है । लेकिन स्त्री हारनेवाली नहीं । वह जितने हो सके उतने पुरुषों के साथ - मुकुल, आसाद, जयनाथ, रोहित बाली, राजन, श्रीपत सबके साथ संबन्ध रखती है । इनमें कोई उसके किनारे तक पहुंचा, कोई गहरे जल में उतरा, कोई उसके माथे पर "त्रास का त्रिशूल बन गया" । लेकिन कोई उसका गुनहगार नहीं बना । वह सबके सम्मुख निर्वस्त्र होती है, पर किसीने उसे शापमोचन नहीं दिया । कोई कोई तो उसे अवश्य शाप देता है - "तुम जमे हुए अंधेरे के वह पर्त हो जो कभी उजागर नहीं होगी"[2] । स्त्री उनके लिए जो कुछ भी रही हो, स्त्री के लिए वे आइने रहने हैं, जिनमें वह अपना प्रतिबिंब देखकर चौंकती, झींकती, झुंझलाती, चिल्लाती और स्वयं को एक ऐसी स्त्री की विद्रूपता नज़र आती है जो कभी थी नहीं । झुंझलाकर वह आइने तोडती जाती है, एक के बाद एक[3] ।

---

1. एक पति के नोट्स - पृ.103
2. स्त्री के शोषण का चित्रण - सूरजमुखी अंधेरे के - पृ.93.
3. कुमार विमल, आलोचना पत्रिका, जुलाई-सितंबर 1972

एक दिन ~~सह~~ अंधेरे की पर्त दिवाकर के साथ संभोग में प्रवृत्त होकर उजागरित हो उठती है । दिवाकर ने रत्ती को भींचा और गले के बटन खोल डाले । हाथ से सुख दिया, हाथ से सुख लिया । कमर पर के बंद खोले और बार बार उस जल थल को चूमते चले गये । और उछलती हुसलती रत्ती की अंगुलियां दिवाकर के रस-स्रोत पर गुलाब हो गयी । रत्ती ने दिवाकर की जांघों पर पंखुरियों की जुगत जगा दी । और रत्ती ने तडपकर ओढन उघाड दिया कि आंच का फूल लोहित कुंड में जा तिरा - छल-छल···· डोलित, हिल्लोलित"। यों दिवाकर ने उसे शापमोचन दिया । समस्या सुलझी हुई लगती है, लेकिन बेचारी अंततोगत्वा कामकाजवाली ऐसी अकेली औरत ही बनी रह गयी जिसके सारे सपने, सब दिन के लिए जग जाने के कारण सदा के लिए पीछे छूट गए और इसे निष्कर्ष रूप में इतना ही बतला गए कि कहीं भी कोई सत्य निरा सत्य नहीं है ।

यों पूरा उपन्यास सेक्स संबन्धी समस्याओं का उलझा हुआ रूप है। उन्हें सुलझाना भी उपन्यासकार का ध्येय लगता है । और सेक्स पर आधारित नैतिकताएं यहां झर झर कर कहीं विलुप्त हो गयी हैं ।

यात्राएं (गिरिराज किशोर)

"यात्राएं" भी प्रेमहीन यौन-संबन्ध एवं ~~यौन-संबन्ध~~ एवं यौन समस्या के खंभों के सहारे खडा है । यौन समस्याएं दांपत्य जीवन में दरारें डालती हैं, पति-पत्नी में तनाव बढता जाता है, प्रेम मिटता जाता है और आखिर पति, पत्नी को किसी मित्र को सौंपने की बात तक सोचता है । एक और विशेष बात है कि इस उपन्यासमें, संबन्ध हीनता की असली वजह पति-पत्नी की मानसिकता पर न आरोपित कर सामाजिक परिवेश के अज्ञात कारणों में थोपा गया

---

1. सूरजमुखी अंधेरे के - पृ.114

दोनों के संबन्धों के बीच एक बारीक सा तन्तु बराबर कांपता रहता है । वह कंपन कभी-कभी पति को उद्विग्न करता रहता है । दोनों एक ऐसी मानस्किता से गुज़रते हैं जहां दोनों को एक दूसरे की निकटता का अहसास तो है पर एक "लेकिन" दोनों को टोक देता है[1] ।

शादी के बाद, पहली रात पति के अनुरोध करने पर भी वन्या संभोग के लिए प्रस्तुत नहीं होती । शारीरिक तौर पर समर्पिता रहने पर भी उसका यह कहना - "क्या हम एक दो रोज़ रुक नहीं सकते ?"[2] पति के उत्साह को ठंडा कर देता है । उसकी तृष्णा बाढ के पानी की तरह अंदर अंदर उतरती पाती है । वह महसूस करने लगता है कि नग्न स्त्रियां अधिक कुरूप होती हैं । वह वन्या के शरीर से हटता है ।

पति-पत्नी दोनों मसूरी चलते हैं । यात्रा के बीच और वहां पहुंचने पर भी वन्या की विचित्र स्थिति बनी रहती है । वह सुबह ताजा लगती है दिन के उतार के साथ उसका उतार भी शुरू होता है और रात होते होते वह बासी हो जाती है । पत्नी की यह स्थिति पति में शिथिलता पैदा करती है । वन्या के बार बार नकारने, शारीरिक रूप में ठंडी और उत्तेजनाहीन रहने से पति निरन्तर पुरुषवहीन बनता जाता है । वह वन्या से कहता भी है - "तुम नहीं जानती मुझे बार बार रोक कर तुम मेरे साथ क्या कर रही हो"[3] । धीरे धीरे उसकी उत्तेजना कम होने लगती है । गर्म होते होते वह ठंडा हो जाता है । पत्नी के साथ सोते हुए, उसके शरीर से सटे रहते हुए भी वह शिथिल पडा रहता है - "हम दोनों एक ही दूरी के दो सिरे थे । उसे घटाने के प्रयत्न में उसके बिलकुल निकट खिसक आया । लेकिन मैंने अनुभव किया कि दूरी कम नहीं

---

1. यात्राएं - पृ.69
2. वही - पृ.28
3. वही - पृ.81

हो पाती । वन्या खामोश थी । मैं उत्तजनाहीन और शिथिल"[1] । यह शिथिलता फिर अस्तित्वहीनता की ओर बढती है - "मुझे लग रहा था, मेरे शरीर की सब हड्डियां धुल गयी हैं । सिर्फ देह है, मैं इस देह को क्या करूंगा .... हम दोनों की देह एक दूसरे के लिए अनुपयोगी हो गयी थी । उसकी देह तो फिर भी थी, लेकिन मैं अपनी देह खो चुका था"[2] ।

यह संबन्धहीनता पति को नीति को अपनाने और वन्या की वास्तविकता को उसमें ढूंढने मज़बूर करती है । "मेरे सामने मात्र नीति थी । स्तंभ की तरह । फिसलते - फिसलते मैं उसको पकड लेता था । मैं जानता था उसके साथ मेरी वास्तविकता भिन्न है । वन्या की वास्तविकता को मैं नीति की वास्तविकता से स्थानांतरित नहीं कर सकता था"[3] । फिर धीरे धीरे पति की मानसिकता यहां तक पहुंचती है कि पत्नी को किसी और को सौंपने की बात तक वह सोचता है - "मुझे अपने बहुत से मित्रों का स्मरण आया । .... क्या मैं वन्या को उनमें से किसी एक को सौंप देने को सोच रहा हूं"[4] ।

यों "यात्राएं" में शिथिल संबन्धों का यथार्थ आकलन हो गया है, पति-पत्नी संबन्ध में नये मूल्यों का गठन हुआ है और संबन्ध हीनता के यथार्थ कारणों का हल्का संकेत भी दिया गया है ।

बेघर {ममता कालिया}

प्रेमहीनता ही नहीं बल्कि सेक्स संबन्धी गलती धारणा भी पति-पत्नी की संबन्धहीनता का कारण बन सकती है, "बेघर" इसका साक्षी है ।

---

1. यात्राएं - पृ.80
2. वही - पृ.81-82
3. वही - पृ.105
4. वही - पृ.105

इसमें एक ऐसे व्यक्ति का उद्‌घाटन हुआ है, जो अपनी गलती धारणा की वजह से दांपत्य संबन्ध को तोड़ता है और दूसरे के बनाने की कोशिश में स्वयं टूट जाता है ।

परमजीत की यह गलती नैतिक धारणा थी कि कन्यात्व की कसौटी, प्रथम संभोग के वक्त चीख-पुकार और रक्त-स्राव हैं । अपने अकेलापन से राहत पाने के लिए ही परमजीत ने संजीवनी से व्याह रचा था । लेकिन संजीवनी के साथ प्रथम संभोग के बाद उसे यह एहसास कचोटने लगता है कि शादी से पहले उसकी अलग दुनिया रही होगी जिसका भागीदार और कोई रहा होगा । "वे लोग छूटकर अलग हो गये तो संजीवनी जल्द-जल्द कपडे पहनने लगी । पर परमजीत बैठा रह गया, परास्त, आसपास घूरता हुआ सा । उसके पांवों तले फर्श ठंडा और सख्त था और ऊपर पंखे की गर्म हवा उसका दम घोंट रही थी"[1] । पहला न होने की निराशा से उसे सारी जिन्दगी ही फीकी और हार दिखायी दे रही थी - "वह दुर्घटनाग्रस्त आदमी की तरह सुन्न बैठा रहा । संजीवनी को देख-देखकर वह चकित हो रहा था । वही लड़की थी, बिलकुल वही । पर कितनी अलग लग रही थी । इतनी थोडी दूर बैठे हुए भी वह मीलों दूर जा पडी थी"[2] । परमजीत को गुस्सा नहीं आ रहा था, खीझ भी नहीं, पर वह बुरी तरह हार गया था । इस हार को जीत में बदल डालने के लिए वह संजीवनी से संबन्ध तोड़कर रमा से संबन्ध रखता है । रमा की कंजूसी और फूहड़ता से एड्‌जस्ट करने में प्रयास में वह टूट जाता है । भीतरी संघर्ष से उसका हार्ट फेल हो जाता है ।

यों बेघर सेक्स संबन्धी पक्षधरता की वजह से कैसे संबन्धों में विघटन उत्पन्न होता है, उसकी सही पहचान है ।

---

1. बेघर - पृ.
2. वही - पृ.

बीस रानियों के बाइस्कोप - राजकमल चौधरी

बाइस्कोप में दो छोटे उपन्यास संगृहीत हैं । पहला बीस "रानियों के बाइस्कोप", दूसरा "एक अनार: एक बीमार" । हम यहाँ दूसरे उपन्यास का अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं ।

"एक अनार : एक बीमार" में प्रेम नहीं है, संबन्ध भी नहीं है । सिर्फ आदमी और औरत साथ रहते हैं । साथ रहने का कोई मतलब भी नहीं है । लगता है, वे साथ रहने केलिए अभिशप्त हैं । किसी को किसी के साथ ममता भी नहीं है । इन व्यक्तियों के सहारे, उपन्यास में एक यौन केन्द्रित सडी दुनिया उभर आयी है । लेखक ने यौन विकृतियों का एक नुमाइश तैयार किया है । जांघ, जांघों के बीच का जंगल, लिंग, योनी, स्तन, हस्तमैथुन, कीर्यपात, स्वप्न स्खलन, खुजली, मासिक धर्म के रक्त-स्राव, सिफिलिस, वीर्य के लिसलिसे धब्बे, पेंग मारना आदि स्त्री-पुरुष के गुप्त अंगों और उनके प्राकृतिक धर्मों की नींव पर यह उपन्यास खडा है । या उपन्यास इन शब्दों का एक संग्रह है । इसीलिए ही उपन्यासकार ने यों कहा है - "साहित्य में अश्लीलता आरोपित करनेवाली "पुलीस" मनोवृत्ति के लोग यह किताब न पढें, उनकी सेहत के लिए यही अच्छा है"[1] ।

"रिलीफ नक्शों में किसी बूढी औरत की जांघों के बीच बनी हुई सिकुडने जैसी दीखती बंगाल की खाडी[2] के पचास - एक मील नज़दीक है कलकत्ता नगर । शहर के बीच, एस्पिलेनेड के मध्य बसाये गए पेशाब घर कलकत्ते की जिन्दगी का बेहतरीन सिम्बल है । यहाँ के मेहतर पाखाना जाने केलिए डालडा के टिन देते हैं और दो नये पैसे लेतेहैं । टिन में कई छेद होते हैं ताकि पानी निकल जाने के डर से आप जल्दी पाखाना खाली करके बाहर आ जाएं ।

---

1. बीस रानियों के बाइस्कोप - लेखक का कथन
2. वही - पृ.75

ारों को मौका दें । दो चार मिनिट गंदगी और दुर्गन्ध में टिके रहने का का दें । यही जिन्दगी है कलकत्ते की जिन्दगी ।

"डिम्पिल लेन" कलकत्ता नगर में है । इस लेन में सुअर, बकरिया, , कुत्ते और आदमी सभी एक साथ रहते हैं । कोई किसी के होने का और ीं होने का बुरा नहीं लेता । यहां के ज्यादातर लोग आठ बजे सो जाते हैं । ां आप कैसे भी हो सो सकते हैं, साडी और ब्लाउस के अभाव में नंगी, या ास से बचने सिर्फ अंडरवियर पहने सो सकते हैं । कोई फर्क नहीं पडेगा । और ी सुबह ही उठते हैं क्योंकि उन्हें खिदिरपुर डेक या काशीपुर के जूट कारखानों जाना होता है । "गली के एक किनारे कोर्पोरेशन, के बाथरूम हैं । एक साथ च संडास । अगल-बगल बैठने से एक दूसरे का सिर दिखता है । बातचीत कर ते हैं । सिगरट या माचिस मांग ले सकते हैं । औरतें इस बाथरूम में नहीं ती । चार बजे सुबह उठकर गली के किनारे किनारे जाती हुई खुली नाली बैठ जाती हैं । लगातार औरतें खुली नाली पर बैठी हुई मुंह-नाक पर डा डाले जांघ और टखने खुजलती रहती है । दूसरे मुहल्ले में दूध की बोतल र ताजा अखबार ले जाते हुए साइकिल सवार भागते रहते हैं और औरतों की र्मी पर गालियां बकते हैं[2] ।

इसी लेन में ईश्वर रहता है । साथ सीता भी हैं । ईश्वर कुछ ीं करता है । कुछ करने की शक्ति उसमें नहीं है । उसने अवसर, शक्ति इच्छा र प्रीति को अपने स्वभाव से परित्याग कर दिया है । वह नहीं करता जो ी करते हैं, जीने के लिए, मानसिक संतुष्टि के लिए । वह चाहता तो सीता योनि कुंड में, जहां से एक नीली दुर्गन्धी और कीचड निकल सकती है, अपना ग डालकर कुछ क्षणों तक पुराण, इतिहास और सभ्यता को भुला जा सकता है[3] ।

बीस रानियां के बाइस्कोप - पृ॰104-105

वही - पृ॰ 85

वही - पृ॰ 82

लेकिन ईश्वर वह नहीं करता । "ईश्वर से कोई काम नहीं होगा, सिवा इसके कि वह दाढी-मूंछ बढाकर ग्रीक दार्शनिकों का "जेबी एडिशन" दिखे और छोटे रेस्तरों के बडे डेबुल पर हाथ पटककर कहे - नहीं करना । मुझेक कुछ नहीं करना । मैं हड्ताल भी नहीं करता । मैं कुछ नहीं करता, सिर्फ तमाशा देखता हूँ"[1] । कलकत्ते शहर के बीच के मैदान में, एक लैंप-पोस्ट के नीचे खडे वह तमाशा देखता है - कोहरे का तमाशा । मुक्त होना या मुक्त करना किसी में ईश्वर की आस्था नहीं है । उसकी राय में मुक्ति झूठ है । वह पूछता है, "आप किस बात से मुक्त होंगे ? अपने खड्ग लिंग से गिरकर पाजामे या बिस्तर की चादर या सीता की जांघ पर पडे हुए वीर्य से ? साहब आप जीवन से मुक्ति लीजिए तभी वह स्वाधीन हो सकते हैं । मृत्यु कीजिए । पाजामे और बिस्तरे की चादर से मुक्ति नहीं होती, सिर्फ रखलन होता है[2] । ईश्वर को सार्त्र, कामू और जेने जो कुछ कहते हैं, उससे कोई मतलब नहीं है । उसे सिर्फ इतना मतलब है सो भी अपने आपसे कि वह कुछ नहीं करना चाहता । क्योंकि करने से कुछ नहीं होता । वह अपने दोस्त कमल बाबू से कहता है कि "दक्ष, प्रजापति, रावण, कंस, दुर्योधन की कहानियों से लेकर अब क्रुश्चेव - माओ त्से तुंग तक कोई बात नहीं बदली है । सारा कुछ वैसा ही है, और सारा कुछ वैसा ही रहेगा जब तक हम रहेंगे । और हम नहीं रहे, तब क्या रहेगा, क्या नहीं रहेगा, उसकी हमें परवाह नहीं है[3] । फिर भी ईश्वर रहता है, वह रहेगा । उसे नहीं रहने देने का अधिकार इस समाज को नहीं है ।

विक्टोरिया मेमोरियल के मैदान में बेखबर सोती सीता को ईश्वर डिम्पिल लेने ले आया था । क्यों ले आया, इसका उतर अभी तक ईश्वर के दिमाग में नहीं आया है । उस वक्त वह दस साल की थी और उसके पास उस

---

1. बीस रानियों के बाइस्कोप - पृ.91
2. वही - पृ.83
3. वही - पृ.87

नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, देह पर एक गज कपडा नहीं । दस साल की सीता आकर कई साल हो गए, लेकिन ईश्वर के लिए वह अब भी दस साल की है । उनके बीच सिर्फ पांच रुपए का संबन्ध है । ईश्वर कभी कभी पांच रुपए देता है, सीता राशन की दूकान तक जाकर सामान ले आती है और पकाकर देती है । बस ! जब सीता का उमरसिंह के साथ थोडा संबन्ध होता है तब ईश्वर अमरसिंह से कहता है - "सीताके लिए घी आटा भी नहीं, एक साडी भी ला दो । पेटिकोट पहने रहती हैं । एक ही पेटिकोट है, कभी इसे धोती तक नहीं । सूंघकर देखों, पाखाने की तरह महकता है । इसे साबुन, तेल कंघी, पाउडर, स्नो सारा सामान ला दो । फिर बाथ रूम ले जाकर इसे नहलाओ । अंग अंग की मैल साफ करो, सेफटी रेज़र से इसकी मैल साफ करो, बाहों के नीचे और जांघों के बीच के बालों का जंगल"[1] । जब ईश्वर के दोस्त कमलबाबु को औरत की जरूरत होती है तब ईश्वर उसे अपने घर ले आता है या कमलबाबु ईश्वर को शराब पिलाकर, उसे सहारे देकर, सीता को भोगने घर आता है । घर पहूंचकर लगातार उलटियों करते हुए ईश्वर चीखता है "भाइ फ्रेंट, मेरे दोस्त । मर्डर भी, मुझे मार डालो । एन्ड फक माइ लेडी, और मेरी औरत को पेंग मारते रहो । होल नाइट, सारी रात"[2] ।

सीता के मां-बाप नहीं थे । सिर्फ एक बडी बहिन है । वह रेंडी है । सीता किसी गति की व्याख्या नहीं है । सीता और उसका होना ही पर्याप्त है । उसके होने की कोई व्याख्या नहीं है । "सीता बनी है और डेमोक्रसी के इस युग के अन्त तक बनी रहेगी । ऐसे ही ख्याख्याहीन । इतना ही बेमतलब, बेखबर, इसी तरह बटन टूटी ब्लाउज़ में सेफ्टी पिन घुसाती हुई[3] । ईश्वर उसे डिम्पिन लेन से आकर ऐसी लडकी बनाता हैं कि उसे देखकर दो मिनिट तक बने रह जाने की इच्छा नहीं होती है । इच्छा होती है आदमी जानवर बन जाए । अलसेशियन कुत्ता या फिर अजगर सांप । सीता को चाटता

---

1. बीस राजियों के बाहस्कोप - पृ.100-101
2. वही - पृ.111
3. वही - पृ. 96

रहे, जब तक खून नहीं निकल आये, या फिर निगल जाए । सीता इतनी गंदी इतनी अपवित्र, इतनी कुत्सित और जानवर बनी रहती है, अपने छींट के मोटे पेटिकोट में, अपने बेनहाये चेहरे में, अंधे कुए जैसे बंद कमरे में कि आदमी सिफिलिस या मासिक धर्म के रक्तस्राव के सिवा कोई दूसरी बात नहीं सोच सकता है"[1] । हम ने सूचित किया सीता का ईश्वर से सिर्फ पांच रूपए का संबन्ध है । यदि ईश्वर कुछ नहीं देता तो वह भूखी पडी रहती है । एक दिन अमरसिंह उसे आटा और घी ला देता है । सीता पकाकर साथ खाती है । और एक दिन जब ईश्वर कमल बाबु को साथ लेकर घर आजा है और उलटियां करते हुए अपनी औरत को पेंग मारने की बात कहता है तो सीता डर से कमलबाबू के नज़दीक आती है । कमल बाबू उसे और भी नज़दीक करते वक्त वह एतराज नहीं करती । यही है सीता ।

अमरसिंह पैंतीस - सैंतीस का है । उसकी शादी नहीं हुई है । अकेला रहता है, दो कमरे हैं । साथ बाथरूम भी है । लेकिन अमरसिंह हस्त-मैथुन नहीं करता । नींद में संभोग, उन लडकियों के साथ जो ट्राम, बस में, दफ्तरों में, फिलम के पर्दे पर, दुर्गाचरण और बहूबाज़ार की तालियों में दीखती हैं, नींद में संभोग और नींद में वीर्यपात । वीर्यपात होते ही आंखें खुल जाती हैं, पाजामे और जांघों पर लिसलिसे धब्बे । अमरसिंह की पूरी जिन्दगी इन धब्बों में भरी हुई है ।

अमरसिंह दलाली करता है और दुर्गाचरण मिश्रा स्ट्रीट की रेंडियों के पास जाता है । अब वह फिल्मों की दुनियां में पहुंच गया है । वह अपनी जिन्दगी की खुशियां किसी परायी औरत को बांटना चाहता है । इसीलिए वह सीता के पास आता है । उसे घी और आटा ला देता है । वह स्वाभिमानी नहीं है । फिर भी वह ईश्वर की बातें सुनकर सीता के घर से चला आता है, क्योंकि वह कायर है ।

---

1. बीस रानियों के बाइस्कोप - पृ·94

यही है "एक अनार, एक बीमार" में चित्रित पात्र और उनकी जिंदगी । ईश्वर को प्रस्तुत करते हुए लेखक ने बुद्धि-जीवी, युवा जनता पर करारा व्यंग्य किया है । उनकी नपुंसकता और कुछ न कर पाने की असमर्थता गहरे अर्थ लिये हुए हैं । पर इसके लिए लेखक ने यौन केन्द्रित-परिवेश को स्वीकार किया है और यों नैतिकता की सारी मान्यताओं की तिलांजली दी है । इसमें प्रेम नहीं है, सेक्स का लिजिलिजापन भी नहीं, लेकिन है सिर्फ गुप्त अंगों और प्रवृत्तियों की सड़ी, गली, भद्दा प्रखर दुर्गन्ध और आदमी - औरत का प्राकृतिक जानवरनुमा संबन्ध ।

— क्रमशः

स्त्री-पुरुष के रागात्मक संबन्धों के साथ पारिवारिक जीवन के अन्य संबन्धों को भी नये परिवेश ने विघटित कर दिया था और उसका प्रतिबिंब उपन्यासों में भी दिखायी पडा ।

माता-पिता और संतान के सुदृढ संबन्ध में दरारें पडने लगीं । इसकी भी शुरूआत होती है, शेखर एक जीवनी से ही । बालक शेखर का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व था । वह सदा उसे बनाये रखने की कोशिश भी करता था । अपने व्यक्तित्व पर आघात उसके लिए असह्य था । अपनी इस भावना की अभिव्यक्ति मां बाप के सामने वह देता भी है ।

शेखर पिता का अपासक था । न जाने क्यों मां के प्रति उसके मन में घृणा भरी हुई थी । उसे लगता था, जो अवांछित, अप्रिय न समझनेवाला और कठोर है उसका साकार रूप एक घनीभूत विघ्न मां है । प्रत्येक काम में जब भंग होता था तो खोजकर शेखर पाता था कि उसकी जड में कहीं पर मां है[1] । और शेखर की रुग्ण में मां उसे एक बोझ और वह भी कटीला बोझ मात्र समझती थी । असल में शेखर के प्रति मां के हृदय में प्यार था लेकिन शेखर के अहं को दुलारने में वह असमर्थ थी, इसलिए बात बात पर शेखर के प्रति उसने घृणा ही प्रकट की । जब सरस्वती शेखर के पास होती है, तब मां जान बूझकर उसे बुला लेती । शेखर से चिडचिडे स्वर में कभी कभी कहती "क्या हर समय सरस्वती की बगल में छिपा रहता है । भाइयों के साथ बैठ तो?"[3] शेखर के भाई ईश्वरदत्त ने पुलीस में भरती होते वक्त पिता का नाम झूठ बताया था । जब इसका पता मां बाप को होता है तो मां बहुत बुदबुदाती है । शेखर के प्रति इशारा करते हुए पिता से कहती है - "सच पूछे तो मुझे इसका भी विश्वास नहीं"[4] । मां के द्वारा अपने प्रति इस अविश्वास घोषणा से शेखर इतना सख्त मां-विरोधी हो जाता है कि बाद में उसके क्रांतिकारी होने के कारणों का विश्लेषण करते वक्त मां के प्रति घृणा को भी वह स्थान देता है ।

---

1. शेखर एक जीवनी - पृ.143 (पहला भाग)
2. वही - पृ.123 3. वही - पृ.144 4. वही - पृ.179

शेखर एक जीवनी परंपरागत नैतिक एवं पवित्र भाई-बहिन के संबन्धों में भी विघटन प्रस्तुत करता है । इसमें सगी बहिन के प्रति भी अनुराग की अनुभूति को उन्मीलित किया गया है । सरस्वती शेखर से भी पांच वर्ष बडी थी । शेखर को लगता था "जो वाछित है, प्रिय है और समझने और सहानुभूति करनेवाला है, उसका पुज्जीभूत रूप सरस्वती है"[1] । मां के साथ शेखर का संबन्ध सदा घृणा का रहा था । लेकिन बहिन के साथ सदा मधुरता से भरा रहा । शेखर को भाई चिढाते थे "भाई की दुम"[2] । पिता भी शिकायत करते थे "यह कोई आदमी है ? इसे तो लडकी बनना है" । बहिन के साथ उसका संबन्ध इतना गहरा और आत्मीय हो जाता है कि वह उसे "सरस" कहने को तरसता है । फिर बहिन की शादी की सूचना पाकर शेखर इतना बेचैन हो जाता है कि उसे 103 डिग्री बुखार हो जाता है ।

"अठारह सूरज के पौधे" में पिता-पुत्र के संबन्ध के विघटन का एक नया आयाम उद्घाटित हो गया है । यहां पुत्र विद्रोही नहीं है । उसका सारा विद्रोह भाव निर्विकारता में बदल गया है । पिता ही पुत्र के भविष्य का निर्माता है, वही उसके जीवन की पटरी तैयार करता है, उसे दिशा देता है और बदलता भी है । जिंदगी के हर मोड पर बैसाखियों के सहारे खडे हो, चश्मे को नाक से उतारे पिताजी उसे घूरकर देखते रहते हैं । वह कालेज में पढना चाहता है लेकिन अण्णा (पिताजी) नाक पर चश्मे को नीचे उतारकर बोलते हैं - तुम चले जाओ ट्रेनिंग में[3] । और वह ट्रेनिंग के लिए चला जाता है, पहले गुड्स क्लर्क और बाद में चेकिंग इन्स्पेक्टर बनता है । वह प्रेम करता है और प्रेमिका से शादी करना चाहता है । लेकिन अण्णा उसकी शादी कराता है, प्रेमिका से नहीं बल्कि सोलह हाथ की साडी पहननेवाली एक गांव की औरत से जिसे देखकर उसे मां की याद आती थी ।

---

1. शेखर एक जीवनी - पहला भाग (पृ.143
2. वही
3. अठारह सूरज के पौधे - पृ.33

पारिवारिक म्रियमाणता कैसे मानव के मूल्यवान जीवन को एब्सर्ड बना देती है, उसका मूर्तिमान उदाहरण है यह उपन्यास ।

"रुकोगी नहीं राधिका" की राधिका का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है । अठारह सूरज के पौधे के पुत्र की निर्विकारता राधिका में नहीं है । राधिका की सारी जिंदगी पिता के विशालकाय व्यक्तित्व के घेरे से मुक्त होने की छटपटाहट से भरी हुई है । पिता के मना करने पर भी विदेशी पत्रकार से शादी करके विदेश चले जाना, फिर तलाक मांगकर स्वदेश लौट आना, पिता के निर्देश को ठुकराकर मनीश से शादी करना आदि हरकतें, उसके पिता के विद्रोह से बचने के प्रयत्न हैं । परंपरागत नैतिकता ने पिता को बेटी पर कुछ अधिकार सौंप दिये हैं । पिता, पिता के हैसियत से अपने व्यक्तित्व को बेटी पर लादना चाहते हैं । राधिका के सारे आचरण के मूल में इसे अस्वीकृत करने के बेबाक प्रयत्न जुड हुए हैं ।

इन्सान मर्द हो या औरत स्वार्थी है । वह प्यार करता है, सिर्फ अपने को । वह रिश्ता जोडता है, अपनी खुशी के लिए । उसे जीना है । उसकी सारी हरकतें इस तथ्य पर आकर गतिरोध लगाती है ।

आधुनिक नागरिक सभ्यता ने मानव की सारी मानवीयता को सोख लिया है । वह सिर्फ जानवी रह गया है । वह अपने हम-सफर से जानवरनुमा संबन्ध ही जोड सकता है - अपनी नैसर्गिक भूख और सेक्स की भूख मिटाने का सायास संबन्ध । उसकी जिंदगी खरीदने और बेचने के धंधे पर टिकी हुई है । आदमी कुछ बेचता है - दिमाग, ईमान या कुछ भी । और वह कुछ खरीदता भी है - सडी बासी खाना या बस स्टाप पर किसी के इंतजार में खडी औरत तव

"नद बहती थी" उपन्यास नगर सभ्यता के सारे अंतर्विरोधों पर प्रकाश डालता है । सारे-मानवीय संबन्धों की नींवाधार-मूल्य चेतना पर प्रश्न चिह्न लगाता है । और यह बुलन्दी लगाता है कि सारा संबन्ध निरर्थक हैं,

---

1. नदी बहती थी - पृ.13।

या सब संबन्ध मतलबी हैं, या संबन्ध ही नहीं है । कलकत्ता नगर के परिवेश में जो जीवन्त घटनायें चौधरी ने पेश की है, वे आदिम मानव की जानवरनुमा जंगली संस्कृति की याद दिलाती हैं ।

सोनाली खूबसूरत लड़की है । वह इतना सुन्दर है कि ऐसा फिगर "हालीउड की मेरेलिन मुनरो का भी नहीं । गॉड इतना ब्यूटीफुल शरीर नहीं बना सकता है, सोनाली तो खुजराहो या कोनार्क के किसी स्कल्पचरिस्ट की बनायी हुई है"[1] । लेकिन वह पैदा हुई थी शरणार्थी शिबिर में । बाप की उसे याद नहीं है । मां कॉलरा से मर गयी थी । अब सिर्फ दीदी और छोटा भाई है । दीदी शेफाली अपनी सेहत बेचकर दोनों को पालती है । दिनों बाद वह अपना एक "कूटमर" जयन्त से शादी कर लेती है । जयन्त तो शुरू शुरू में अच्छा दिखता था, फिर पशु हो गया । फैक्टरी से जो पैसा मिलता, शराब पीकर बरबाद करता । आखिर शेफाली भी पुराना धंधा चोरी चोरी करने लगी ।

उनका घर एक कमरा ही था । चारों उसी कमरे में सोते थे । सोनाली कमरे के कोने में सोती थी । शेफाली के पास सोता जयन्त कभी कभी सोनाली के पास सोने की कोशिश करता । एक बार वह उसने शेफाली के अभाव में सिनिमा देखते वक्त सोनाली की मासूम-सेहत पर हाथ रखे थे । तब से सोनाली सावधान रहने लगी थी । आखिर जयन्त की कोशिश इस हद तक हो गयी कि उसके अधीन हुए बिना वहां रहना मुश्किल हो गया। तो सोनाली सीधे श्यामा की कोठी पर चली गयी । श्यामा वेश्या थी, लेकिन अच्छी स्त्री थी । उसने सोनाली को शारीरिक सुरक्षा दी । वहां सोनाली की मुलाकात विमल ठाकुर और रनजीत से होती है । दोनों ने सोनाली को एक शूटिंग के दौरान पहले ही देख चुका था और मुग्ध भी हो गये थे । विमल ठाकुर सोनाली को आश्रय देता है । वह समाज से बोलता है कि सोनाली उसकी अपनी बेटी है । क्योंकि उसे समाज का डर है । सोनाली उसे बाबा बुलाती है ।

---

१. नदी बहती थी - राजकमल चौधरी - पृ·52

ठाकुर के लिए बाहर सोनाली बेटी है । लेकिन उसके मन में, सदियों में एक बार पैदा होनेवाली उस स्त्री के खूबसूरत जिस्म को पूरा पूरा खा जाने की बुभुक्षा है । लेकिन होश में रहते सोनाली के साथ कुछ भी करने का साहस ठाकुर में नहीं है । इसलिए वह शराब पीकर ताकत पाता है और उसके शरीर पर अत्याचार करने की कोशिश करता है।पर सोनाली बूढे को रोक लेती है ।

मछलीबगान का सोमेश गांगुली जिसे मछली बगान की सारी औरतें चाहती हैं, सोनाली को चाहताहै । सिर्फ चाहता ही नहीं, शादी करना चाहता है । लेकिन सोमेश का कोई नौकरी नहीं है, वह किसी भी राजनीतिक दल का अंग हुए बिना ही राजनीतिक कार्यों में भाग लेता है और जेल की सजा भोगता है । विमल ठाकुर के साथ रहते हुए सोनालि कभी कभी सोमोश से मिलती थी, लेकिन जब वह जान लेती है कि उसकी सहेली कृष्णा के गर्भ का अधिकारी सोमेश है जिसकी वजह से कृष्णा ने आत्महत्या की थी तो सोनाली सारे संबन्धों को तोड देती है ।

आखिर सोनाली के सौन्दर्य का उद्देश्य क्या था ? "अधिकांश स्त्रियां अपने सौन्दर्य को महत्वपूर्ण बनाती हैं । साधन बनाती हैं । उपयोग करती हैं । बेचती हैं, अपने लिए एक अमीर और आज्ञाकारी पति प्राप्त करने के लिए अपना सौन्दर्य बेचती हैं । चन्द रूपयों के लिए बेचती है"[1] । सोनाली ने कुछ भी नहीं किया था । उसके "घुटने से ऊपर दायीं जांघ पर घाव का एक पुराना निशान था । वहां का चमडा सख्त हो गया था, सिकुड गया था । शेफाली के सिवा यह घाव किसी ने नहीं देखा है, सुभाष ने भी नहीं, जयन्त ने नहीं सोमेश ने नहीं, किसी ने भी नहीं···"[2] । लेकिन आखिर देवेश ठाकुर देखता है । सोनाली अपनी खुशी से पिता की तरह देखनेवाले उस आदमी से शादी कर लेती है ।

---

1. नदी बहती थी - राजकमल चौधरी - पृ·54
2. वही - पृ·72

मिसिज़ रायचौधरी की शादी तेरह-चौदह साल की उम्र में हो गयी थी । पति के डाक्टर बनने के बाद दोनों का जीवन बंधे बंधाये सिलसिले से चलना लगा था । लेकिन अधिक दिन तक नहीं बीते कि भारत का विभाजन हो गया । उनकी डिस्पेन्सरी में आग लगा दी गयी । वे ढाका से भागकर कलकत्ता चले आये । एक दिन पति ने उससे सारे आभूषण किसी बहाने मांगकर फरार हो गया ।

बेसहरा राय चौधरी विमल ठाकुर के परिचय में आती है । ठाकुर उसे अपने "स्टाइल मास्टिक" में काम देता है । बेटी की सुरक्षा तथा भविष्य के लिए ठाकुर ने उसके उसकी खूबसूरत जिस्म की गरमी भी मांगी । मिसिज़ राय चौधरी का और कोई चारा नहीं था । उसकी बेटी कान्वेंट में पढने लगी । फिर राय चौधरी ठाकुर के दोस्त रनजीत से भी हिलमिल गयी । उसे भी उसने सब कुछ दिये । आखिर वह गर्भवती होती है । उसे अपने गर्भ के बच्चे के लिए पिता की जरूरत पड़ती है । पर वह निश्चय नहीं कर सकती किसके पास जाये - रनजीत या ठाकुर के पास । वह आये दिन बहुत पीने लगी थी । ज्यादा पीने के बाद उसे पता नहीं रहता था कि किसकी कार में बैठकर वह घर जाती है, किसके साथ होटल के कमरे में सो रहती है । इसलिए वह संदिग्ध हो, पहले रनजीत बाबू के पास जाती है । तो देखती है कि उसकी पत्नी और बेटी घर वापस आ गयी हैं । लौटकर देवश ठाकुर की शरण में आती है । देवेश ठाकुर कहता है - "मैं सोनाली को प्यार करता हूँ । उससे शादी करना चाहता हूँ"[1] । वह निराश ही घर लौट आती है ।

फिर थोडे दिन उसे सोमेश से पता चलता है कि उसका पति जेल में है और सोनाली अपने देवर की बेटी है । लेकिन तब तक सोनाली ब्याहता हो चुकी थी ।

---

1. नदी बहती थी - राजकमल चौधरी - पृ.120

लडाई के पहले रनजीत बाबु अपनी व्याहता पत्नी पूरबी के साथ कलकत्ता आया था । सोचा था कि कोई छोटी-मोटी नौकरी कर लेगा और कविता लिखेगा । उनके आने के बाद ही कलकत्ते में अकाल आया । लेकिन दोनों बच गए ।

एक दिन उनका परिचय एक सिन्धि व्यापारी से होता है । वह फिल्मों में रूपए लगाता था । विदा होते वक्त उसने पूरबी की ओर गौर से देखते हुए कहा था -"आइ विल मेक यू ए मान ओफ यू रनजीत" । उस पल से पूरबी का पत्नीत्व नष्ट होने लगा । पूरबी पहले फिल्म में "साइड हीरोइन" बनी, फिर हीरोइन । विमल ठाकुर ने अपने दोस्त रनजीत को उपदेश दिया - "पूरबी को बांधने की कोशिश मत करो । वह ज्वालामुखी हो चुकी है । अपने आपको उसमें जलाओ नहीं"[1] ।

पूरबी की दौड आखिर कोठी के दरबाजे पर आकर रूक जाती है । पूरबी के सुवर्णकाल का अस्त हो गया । लेकिन रनजीत बाबू ने फिल्मी दुनिया से अपना संबन्ध बनाये रखा । रनजीत बरसों बाद अपनी पत्नी से मिलने कोठी पर जाता है तो पत्नी को पति देव से कहनी पडती है - "मकान की दूसरी औरतें देखेंगी तो हसेंगी । यहां शाम से पहले पराये मर्द नहीं आते हैं ।" और दोनों की बेटी सीता के बारे में (सीता को मालूम भी नहीं कि रणजीत उसका बाप है।) कहती है - "एक मारवाडी लडका आता है । कल शाम उनके साथ गयी थी । अब कुछ देर में आ ही जाएगी"[2]। रनजीत मां-बेटी को बुलाने गया था लेकिन पूरबी मानी नहीं । पर आखिर पूरबी को उसके पास आना ही पडता है ~~क्योंकि उसके शरीर का आधा भाग अचानक ही पेरालाइज़ हो जाता है~~। रनजीत, पत्नी बेटी के साथ एक नयी जिन्दगी की शुरूआत करता है ।

यों "नदी बहती थी" में सारे पारिवारिक संबन्ध, मूल्य एवं मान्यताए झर झर कर बिखर गये हैं । "परिवार कैसे बनेंगे, समाज कैसे बनेगा, सामाजिक जीवन का क्या रूप होगा ? जब हम नहीं जान पायेंगे कि हमारा पिता कौन है नहीं जान ~~पायेंगे~~ पायेंगे कि माता कौन है । संस्कार नहीं रह जाएगा,

---

1. नदी बहती थी - पृ.28

संस्कृति नहीं रह जाएगी, सभ्यता नहीं रह जाएगी - समूचे संसार में एक ही जाति रह जाएगी, "बेस्टर्ड" जाति"[1]।

हमारे सामाजिक जीवन की प्रगति इस ओर है - "बेस्टर्ड" जाति की ओर। "नदी बहती थी" इस खतरे पर सावधान बरतने का आह्वान दे रहा है।

निष्कर्ष

रागात्मक क्षेत्र के मूल्य विघटन के संदर्भ में हमने शुरू किया था, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र की प्रेम-धारणा से, और राजकमल चौधरी में विराम-चिह्न लगाया। वर्षों का अन्तराल। "सेवासदन" से एक अनार एक बीमार तक"। इस अवधि में प्रेम वर्षाकालीन नदी-सी, कगारों को तोड-फोड़कर, नयी दिशाओं से कूलहीन हो बही है। कभी कभी इसमें नये द्वीप भी उभर आये थे। लेकिन नदी को यही होना था, पारावार की विराटता में अपने को खो देना। यही हुआ, राह में रोडे बनी सारी नैतिक धारणाओं को भी साथ ले उसकी गहनता में गुम कर दिया।

प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के युग में स्त्री-पुरुष के बीच पाप एवं कट्टर नैतिकता की दीवार खडी थी। पारिवारिक सीमा से बाहर सामाजिक भूमि में उनका संपर्क संभव नहीं था। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र ने उनके सामाजिक संपर्क के लिए औसर प्रदान किया था, जैनेन्द्र ने नारी को यौनाचार में थोडी छूट भी दी थी, लेकिन दोनों ने परंपरागत नैतिक धारणाओं को अपनाये रखा। पर जब नारी स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लेने लगी, वह भी स्कूल और कालेज की शिक्षा पाने लगी तो समाज में इस नैतिकता में थोडा परिवर्तन आया।

---

1. नदी बहती थी - पृ.28

भारत के स्वतंत्र होने के बाद, राजनीतिक और सामाजिक कार्यों में नारी-पुरुष मिलजुलकर काम करने लगे तो ये पाप की दीवारें पूर्णत: नष्ट हो गयीं ।

भारत स्वतंत्र हुआ, लेकिन उसकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति वैसी ही रही । इसका असर मध्यवर्ग पर ही ज्यादा हुआ था । वे निराश एवं दिशाहीन हो गए । उन्हें लगा कि उनकी आशाएं और आकांक्षाएं अंजुरी के रेत-सी झर झर कर निकल रही हैं, यह महसूस करने के सिवा व और कुछ नहीं पा रहे हैं । भारत के साहित्यकार मध्यवर्गी हैं, वे भी यही महसूसते रहे पश्चिम के अस्तित्ववादी दर्शन और साहित्य के अध्ययन ने इस अहसास को तीव्र किया व उन्हें समाज से हटकर व्यक्तिन्मुख होने, तथा वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति देने मजबूर कर दिया । इनकी रचनाओं का कथा-तंतु क्षीण हो गया, पर पात्रों की दमित वासनाओं से भर दी गयीं । नारी-पुरुष का प्रेम मिट गय यौन संबन्ध मात्र रह गया, फिर धीरे धीरे संबन्धहीनता की ओर बढ गया और रचनाएं जीवन की निरर्थकता को प्रक्षेपित करने का माध्यम मात्र हो गयीं । स्त्री और पुरुष साथ रहते हैं, मतलबहीन, जैसे कि साथ रहने के लिए अभिशप्त हो, उनका साथ रहना निरर्थक हो । कहने की ज़रूरत नहीं कि हमने जिन उपन्यासों का विवेचन किया है, वे प्रेम और नैतिकता - बोध की परिवर्तित पात्रों का जीवंत साक्षी हैं ।

सबसे पहले "शेखर एक जीवनी" में ही परंपरागत प्रेमधारणा में परिवर्तन नज़र आता है । बहिन के प्रति रति भाव और मौसेरी बहिन के प्रति प्रेम तथा अटूट आस्था उपन्यास-क्षेत्र की क्रान्तिकारी घटनाएं हैं । समलैंगिकता की शुरूआत भी "शेखर"में ही होती है । "नदी के द्वीप" में विसंगत परिवेश के घेरे में क्रमश: मरते हुए प्रेम की तीव्र अभिव्यक्ति हुई है । और रेखा नैतिक कट्टरता के विरुद्ध उभर आया सशक्त व्यक्तित्व है । "अपने अपने अजनबी" में स्त्री-पुरुष - प्रेम नहीं है । आदमी आदमी के बीच जो सहज प्यार होता है वह भी नहीं क्योंकि हर एक पात्र दूसरेके लिए अजनबी है - अजनबियों के बीच प्यार की संप्रेषणीयता संभव नहीं है ।

मोहन राकेश ने अपने तीनों उपन्यासों में, आधुनिक परिवेश में स्त्री-पुरुषों के बीच पनपते, टूटते प्रेम के विविध आयामों का सही आकलन किया है । "अंधेरे बन्द कमरे" में परिवेश की म्रियमाणता से कैसे प्रेम-घुटन, ऊब, एकरसत विवशता एवं इस्तेमाल का चकला बन जाता है, उसका रेखांकन है । "न आनेवाल कल" में भी प्रेम घिसटता चला जा रहा है । और वह वैयक्तिक खूबियों को लाँघ एक सामाजिक समस्या और व्यक्ति उसके प्रक्षेपण का माध्यम बन जाता है । "अंतराल" में आकर प्रेम अपना अर्थ खो देता है । श्यामा और कुमार नामहीन संबन्धों के दायरे में रहकर उसका अर्थ-खोजते हैं । लेकिन कुछ हाथ नहीं लगता है पर दोनों शारीरिक रूप में अलग हो जाते हैं ।

निर्मल वर्मा के "वे दिन" में प्रेम नहीं है । प्रेम मर चुका है । जब आदमी आदमी मानसिक रूप में लाश बन जाते हैं, तो उनके बीच कोई संप्रेषणीयता नहीं हो सकती । वे प्रेम करने के महत् कार्य से वंचित रहते हैं । यहाँ प्रेम पल भर की अनुभूति हो जाता है । शरीर के सट जाने से होने नसों के तनाव और ढीलापन का माध्यम । नारी के एक अनावृत रूप का भी इसमें अनावरण होता है । स्त्री अभी तक भोग्या थी, वह भोगी बन जाती है । कमलेश्वर के "डाकबंगला" में प्रेम प्रवंचना या अभिनय बन जाता है । और भाग-संवेदना का एक नया रूप-पुरुष की दीनदशा से तड़पकर नारी की समर्पिता बनने का भी उद्घाटन होता है । रमेश बक्षी के "बेलाशियोंवाली इमारत" में प्रेम संभोग का रूप लेता है । इसमें स्त्री और पुरुष दोनों संभोग की स्वतंत्रता को ही वास्तविक स्वतंत्रता मानते हैं । कृष्णा सोबती के "सूरजमुखी अंधेरे के" । ममता कालिया के "बेघर" और गिरिराज किशोर के "यात्राएं" में प्रेमहीन यौन संबन्धों और उससे उद्भूत समस्याओं का चित्रण है । कैसे ये समस्याएं दांपत्य जीवन में दरारे डालती हैं, पति-पत्नी में कैसे तनाव बढ़ता है और कैसे यह तनाव संबन्धों को शिथिल बनाता है, इन सबका सही विश्लेषण इन उपन्यासों में हो गया है । श्रीकान्त वर्मा के "दूसरी बार" और महेन्द्र भल्ला के "एक पति के नोट्स" में प्रेम निरर्थक है । प्रेम की यह निरर्थकता अस्तित्व की निरर्थकता की ओर बढ़ जाती है । प्रेम करने में असमर्थ व्यक्ति अपने अस्तित्व की नकारत

और कुछ भी करने में असमर्थ हो जाता है । और उसके लिए सब कुछ निरर्थक हो जाते हैं । स्त्री, संभोग, शराब, सारी सब । राजकमल चौधरी के "मछली मरी हुई" यौनाचार का खुला दस्तावेज़ है । इसमें होमोसेक्स्वालिटि और लेस्बिनिज़म का भी विस्तृत वर्णन है । मणि मधुकर के "सफेद मेमने" में स्त्री-पुरुष के जानवरनुमा संबन्धों के ज़रिये विभिन्न तरह के संभोगों का एक नुमाइश तैयार किया गया है । और राजकमल चौधरी के ही छोटे उपन्यास " एक अनार एक बीमार" में प्रेम नहीं है, यौन संबन्ध नहीं है, सिर्फ आदमी औरत साथ रहते हैं, मतलबहीन, जैसे साथ रहने अभिशप्त हो गये हो । और इनकी पृष्ठभूमि में, गुप्तांगों और उनके प्राकृतिक कर्मो की नींव में एक सडी, गली दुनिया की सृष्टि की गयी है ।

उपन्यासकारों ने पारिवारिक क्षेत्र के अन्य विघटनाओं को भी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है । माता-पिता तथा संतान के परंपरागत संबन्धों में जो उलझनें हुई थीं, उनकी खुली अभिव्यक्ति "शेखर एक जीवनी" अठारह सूरज के पौध तथा "रुकोगी नहीं राधिका" में मिलती है । "नदी बहती थी" नामक उपन्यास तो पारिवारिक क्षेत्र के संपूर्ण विघटन का दस्तावेज़ है

आठवाँ अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त रचनाकारों की वैयक्तिकता

आठवाँ अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त रचनाकारों की वैयक्तिकता

प्रत्येक रचना रचनाकार की अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है । यह अनुभूति रचनाकार के अनुभवों से ही रूपायित होती है । अनुभव अपना भी हो सकता है और दूसरों का भी । क्योंकि रचनाकार संवेदनशील तथा सहृदय होने के नाते दूसरों के अनुभवों को आत्मसात् करने की क्षमता रखता है । कभी कभी रचना में स्वयं सृजनकार ही पात्र के रूप में अवतरित होता है । लेकिन जिसमें अपने को अपने परिवेश में धुला देने की क्षमता होती है, वह अपनी कृति में पूर्णत: अभिव्यक्त होते हुए भी पहचान में नहीं आता ।

पश्चिम के अस्तित्ववादी साहित्यकारों ने अपने निजी अनुभवों को आत्मनिष्ठ शैली में अभिव्यक्त करने की कोशिश की है । पात्र के रूप में स्वयं अवतरित भी हुए हैं । उन्होंने इसकी सहमति भी दी है । अपने उपन्यास "नौसिया" के रचना-परिवेश का उल्लेख करते हुए सार्त्र ने स्वयं कहा है कि नौसिया का नायक रक्वोन्तिन वे स्वयं है[1] ।

हिन्दी लेखकों ने भी यह पद्धति अपनायी । डा॰धर्मवीर भारती ने ब्लेकमूर को उद्धृत करते हुए कहा है कि हमारी कृतियों के नायक का स्थान एक क्लीव, पंगु, विकृत-मना व्यक्तियों या स्वयं कलाकार ने ले लिया है[2] ।

---

1. "As a militant, I wanted to save myself through works; as a mystic, I tried to unveil the stillness of existence through a counteracting murmur of words, and, above all, I confused things with their names: that is belief. I was dim of sight. As long as that lasted, I was out of trouble. I pulled off th noble achievement at that age of thirty: describing in La Naus - most sincerely, I can assure you - the unjustified, brackish existence of my fellow-creatures and vindicating my own. I wa Roquentin; in him I exposed, without self-satisfaction, the we of my life." - Words - Sartre - p.156.

2. मानव-मूल्य और साहित्य - डा॰धर्मवीर भारती - पृ॰139

हिन्दी उपन्यास साहित्य में खुले रूप में निजी अनुभवों की अभिव्यक्ति की कोशिश अज्ञेय द्वारा "शेखर एक जीवनी" में ही होती है । नन्ददुलारे वाजपेयी ने "शेखर एक जीवनी" को लेखक की छद्म और साथ ही असफल जीवनी माना था[1] । इसका प्रत्याख्यान अवश्य अज्ञेय ने किया है लेकिन परोक्ष रूप में इसका समर्थन भी अज्ञेय द्वारा हुआ है । शेखर एक जीवनी की भूमिका में अज्ञेय लिखते हैं "अपनी रचना के संबन्ध में कुछ कहने का अधिकार मुझे नहीं है, लेकिन शेखर का और अपना संबन्ध ध्यान में रखते हुए मुझे लगता है कि इसी में उसके जीवन की महानता और इसी में उसकी दीनता है"[2] ।

अज्ञेय ने भूमिका में ही सूचित किया है कि शेखर घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए "विज़न" को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है । और यह वेदना तथा विज़न उन्हें अपने निजी अनुभव से ही प्राप्त हुई थीं । जब आधी रात के वक्त डाकुओं की तरह आकर पुलीस उन्हें बन्दी बना ले गयी, फिर कहा सुनी और थोडी सी मार-पीट भी हो गयी, तब उन्हें ऐसा दीखने लगा कि उनके जीवन की इति शीघ्र होनेवाली है । उनके मन में घोर निराशा जम गयी और उसीसे उन्हें यह "विजन" भी मिल गयी[3] ।

लाहौर में बि॰ए॰ में पढते वक्त शेखर काग्रेज़ के एक अधिवेशन में स्वयं सेवक के रूप में भाग लेता है । वहां एक सी॰ऐ॰डी॰ के साथ गडबडी करने की वजह से उसे पुलीस पकडती है । और वह जेल पहुंचता है । एक नयी दुनिया उसके सामने खुल जाती है । जीवन की एक नयी परिभाषा का एहसास उसे होता है । बूढे बाबा मदनसिंह, फक्कड मोहिसिन, फांसी पनिवाला रामजी जैसे महान एवं विचित्र व्यक्तियों के साथ उसकी मुलाकात होती है और

---

1. डा॰गोपालराय द्वारा उद्धृत (शेखर एक जीवनी नामक लेख में) अज्ञेय (सं॰) डा॰विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ॰।
2. शेखर एक जीवनी - पहला भाग - भूमिका, सं॰संस्करण
3. वही

जीवन संबन्धी एक नये दृष्टिकोण के रूपायन में उसके सहायक बनते हैं । वह लगभग दस महीने हवालती कैदी के रूप में जेल में रहता है ।

अज्ञेय भी दिनों तक जेल में रहे थे और अनेक अनुभवों से भी गुजर गए थे । उनके संबंध में वे स्वयं लिखते हैं - "मेरे अनुभवों सेकुछ शेखर में आ गये हैं, कुछ प्रकाशित दूसरे भाग में, कुछ अप्रकाशित तीसरे में, कुछ शायद आपको स्मरण भी हो । कुछ कहानियों में भी आ गये हैं । बूढे बाबा मदनसिंह, फक्कड मोहिसि फांसी पानेवाला रामजी - ये सब नाम सच भी हैं, झूठ भी, क्योंकि अगर काल्पनिक नहीं हैं तो पात्रान्तरित हैं । यानी एक मदनसिंह से मेरा परिचय हुआ था, एक मोहिसिन सेऔर एक राम जी से भी - पर मेरे परिचय के यथार्थ व्यक्ति और मेरी पुस्तक के पात्र अलग - अलग हैं । पात्रों के साथ जो घटित हुआ वह वास्तव में कहीं, किसी के साथ तो घटा, पर उस नाम के व्यक्ति के साथ नहीं, और प्राय: सब कुछ एक ही व्यक्ति के साथ नहीं"[1] ।

यह बिलकुल आकस्मिक नहीं कहा जा सकता कि शेखर का पूरा नाम "चन्द्रशेखर हरिदत्त पण्डित" और अज्ञेय का "सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन" है । शेखर के पिता पुरातत्वज्ञ है, अज्ञेय के पिता पुरातत्वज्ञ और पूरा लेखों के शोधक थे । अज्ञेय के पिताजी को नौकरी के सिलसिले में भारत-भर घूमना पडता था[A] । शेखर के पिताजी की अवस्था भी इससे भिन्न नहीं है । उसका तबादला भी कभी काश्मीर और कभी मद्रास पर होता रहता है ।

अज्ञेय और शेखर के चरित्र में अद्भुत समानतायें हैं । शेखर प्रकृति प्रेमी वह प्रकृति सौन्दर्य की विराटता में अपने को घुल देना चाहता है । यह प्रकृतिप्रेम अज्ञेय के व्यक्तित्व की भी विशेषता है । वे कहते हैं "हम सब का (भाई-बहिनों का) बाल्यकाल अधिकतर बन पर्वतों या देहाती प्रदेशों में बीता"[2] । इसीलिए ही प्रकृति उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग हो गयी ।

---

1. आत्मनेपद - अज्ञेय - पृ.148-149
2. वही - पृ.18।
A. आधुनिक हिन्दी काव्य और कवि - अज्ञेय - P.24

वे समुद्र और पर्वत दोनों के समान रूप से प्रेमी है - "समुद्र मुझे बहुत अच्छा लगता है .... पहाड भी मुझे अच्छे लगते हैं । जब कभी फुरसत में कहीं बसने की दिवास्वप्न देखता हूँ, तो सोचता हूँ, पहाड पर ही रहूंगा ..... रहना पहाड की तलहटी में ही चाहूंगा झरने के स्वर के पास, पर समुद्र की पुकार जरूर सुनायी पडेगी और लगता है कि उसकी उपेक्षा नहीं कर पाऊंगा"[1] ।

शेखर व्यक्तिवादी है । उसका जीवन दर्शन स्वातंत्र्य की खोज है[2] । यह टूटती हुई नैतिक रूढियों के बीच नीति के मूल स्त्रोत की खोज है । समाज की खोखली सिद्ध हो जानेवाली मान्यताओं के बदले व्यक्ति की दृढतर मान्यताओं की प्रतिष्ठा करने की कोशिश है[3] । शेखर तो बचपन से ही स्वतंत्रता का आकांक्षी है । उसका पाले हुए पक्षियों का मुक्त कर देना, घर के घुंटन से मुक्त होकर आकाश की विशाल उन्मुक्तता में तल्लीन होने की इच्छा, स्कूल में कायदों और बंधनों को अस्वीकार करना, आदि उसकी स्वतंत्र मनोवृत्ति का परिचायक है । यहां तक कि बंधनहीनता की तीव्र लालसा में शेखर मृत्यु तक चाहताहै क्योंकि मृत्यु के बाद मानव अस्तित्व ही न रहेगा फिर बाधा कैसी[4] ? अज्ञेय भी व्यक्तिवादी है । अज्ञेय की वैयक्तिकता तथा व्यक्ति-स्वतंत्रता की बात पर पक्षधरता प्रसिद्ध है । आत्मनेपद में उन्होंने लिखा है - मैं व्यक्ति का अपने प्रति भी उत्तरायित्व मानता हूँ, समाज के प्रति भी । यह कोई नयी बात नहीं । पर मैं अपने प्रति उत्तरदायित्व को प्राथमिक मानत और समाज के प्रति दायित्व को उसी से उपपन्न[5] । और उनका विश्वास है कि व्यक्ति अपने संस्कारों का पुंज भी है, प्रतिबिंब भी, पुतला भी । उसी तरह वह जैविक परंपराओं का भी प्रतिबिंब और पुतला है - जिन परिस्थितियों से वह बनता है, उन्हीं को बनाता और बदलता भी चलता है । वह निरा पुतला, निरा जीव नहीं है, वह व्यक्ति है, बुद्धि-विवेक संपन्न व्यक्ति[6] ।

---

1. भवन्ती - अज्ञेय - पृ.109-111
2. आत्मनेपद - अज्ञेय - पृ.67
3. वही - पृ.67
4. शेखर एक जीवनी - पहला भाग - पृ.119
5. आत्मनेपद - पृ.204
6. साहित्यिक साक्षात्कार - डा.रणवीर रांगा - पृ.291

शेखर क्रांतिकारी है । उसे ब्रिटीश शासन के खिलाफ बगावत करने के अपराध में फांसी की सजा मिलती है । लेकिन उपन्यास में क्रांतिकारी शेखर का रूप निखर नहीं आया है । उसके क्रांतिकारी आचरणों का चित्रण भी नहीं के बराबर है । शेखर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व का उज्ज्वल रूप तीसरे भाग में उजागर होने की प्रतीक्षा है । लेकिन अभी तक वह निकला नहीं । मुझे तो उसके निकलने का उम्मीद भी नहीं, इसलिए कि अज्ञेय भी शेखर के समान क्रांतिकारी रहे हैं, परनिष्ठावान क्रांतिकारी नहीं । और उनका वर्तमान वैयक्तिक परिवेश तथा उनकी आयु क्रांतिकारी मानसिकता को बनाये रखने के लिए सक्षम नहीं है । और यदि तीसरा भाग निकलेगा भी तो, शेखर का क्रांतिकारी व्यक्तित्व पूर्णत: निखर आयेगा, उसमें कितनी ईमानदारी रहेगी, ये सब बातें संदिग्ध हैं ।

शेखर लेखक है । उसके लेखकीय व्यक्तित्व को शशि त्वरित करती हैं । उसकी प्रेरणा से वह लगातार लिखता है और महान लेखक बनने की महत्वाकांक्षा समेटे हुए चलता है । वह महान लेखकबन गया या उसकी फांसी हो गयी (तिथि क्रम की दृष्टि से 1930 ई॰ को उसकी फांसी हो जानी चाहिए थी) ये बातें तीसरे भाग के अभाव में अनुत्तरित हैं । लेकिन यह बात सत्य हो गयी कि अज्ञेय महान रचनाकार बन गये, भारत के सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार ज्ञान-पीठ पुरस्कार का अधिकारी भी हो गये ।

उपर्युक्त विवेचित स्वभावगत विशेषताओं के साथ, शेखर और अज्ञेय के कतिपय आचरणों तथा उनके जीवन की घटनाओं में भी समानताएं हैं । आत्मनेपद में अज्ञेय लिखते हैं कि वे बचपन से ही दुश्मन को शिकस्त देने केलिए अपने सिर का शस्त्रवत प्रयोग करते रहे हैं[1] । शेखर भी एक बार ऐसा आचरण करते दिखायी देता है[2] । अज्ञेय अक्षर-ज्ञान से पहले ही (लगभग 6 वर्ष की उम्र में) दो ढ़ाई से अंग्रेज़ी शब्द सीखकर अंग्रेज़ी में फटाफट बोलने लगे थे[3] । शेखर भी

1॰ आत्मनेपद - पृ॰189

2॰ शेखर एक जीवनी (पहला भाग) पृ॰55

3॰ अज्ञेय और उनके उपन्यास - डा॰गोपालराय - पृ॰2

उतना ही समर्थ रहा है । अज्ञेय अपने संबन्ध में लिखते हैं-"मैं कपडे सी लेता हूँ, जूते गाँठ लेता हूँ, काठ के ठप्पे खोदकर कपडे छाप लेता हूँ, कोटो खींचता हूँ, बन्दूक, पिस्तौल आदि चला लेताहूँ आदि"[1] । शेखर भी इन सब कामों में कुशल है और पेंटर के रूप में कुछ दिनों तक वह जीविका भी चलाता है ।

अज्ञेय जब 4 वर्ष के थे कि 1914 में प्रथम विश्व युद्ध भारत महायुद्ध छिड गया जो 1918 तक चलता रहा । यद्यपि युद्ध भारत से बहुत दूर यूरोप में चल रहा था, फिर भी उसका प्रभाव भारत पर भी पडा । उस समय के अखबार युद्ध के समाचारों और चित्रों से भरे रहते थे । इनका प्रभाव अज्ञेय पर भी पडा और वे बहुत कुछ विचलित हो गये[2] । युद्ध की भीकरता, तथा उसका शिशु शेखर के मानस पर कैसा प्रभाव पडा, आदि का संकेत जीवनी में भी है । अज्ञेय ने स्वयं स्वीकार किया है - "शिशु मानस के चित्रण की सच्चाई के लिए मैं ने शेखर के आरंभ के खंडों का घटनास्थल अपने ही जीवन से चुने हैं"[3] ।

शेखर एक जीवनी की आलोचना करते हुए डा·गोपालराय लिखते हैं "शेखर एक जीवनी की रचना प्रक्रिया के संदर्भ में एक बात बहुत विश्वास के साथ कही जा सकती है कि उसका मॉडल स्वयं अज्ञेय का अपना जीवन है । यद्यपि अज्ञेय के जीवन की घटनाओं की पूरी जानकारी अभी भी पूरे तौर पर प्राप्त नहीं है, पर इस संबन्ध में स्वयं अज्ञेय के कथनों और उनके संपर्क में आये व्यक्तियों से जितना कुछ ज्ञात है उससे यह सिद्ध होता है कि अज्ञेय ने पूरे उपन्यास में अपने निजी जीवन को अपने सामने रखा है"[4]। और शेखर एक जीवनी की भूमिका मे आत्मस्वीकृति देते हुए अज्ञेय लिखते हैं "इलियट की धारणा है कि भोगनेवाली प्राणी और सृजन करनेवाले कलाकार में सदा एक अंतर रहता है और जितना बडा कलाकार होता है उतना ही भारी यह अंतर होता है । शेखर में मेरापन कुछ अधिक है इसी इलियट का आदर्श (जिसकी महानता में मानता हूँ । मुझसे नहीं निभ सका है"[5] ।

1· आत्मनेपद - पृ·164
2· अज्ञेय और उनके उपन्यास - डा·गोपालराय - पृ·20
3· शेखर एक जीवनी (पहला भाग) भूमिका
4· अज्ञेय और उनके उपन्यास - डा·गोपालराय - पृ·51
5· शेखर एक जीवनी - पहला भाग - भूमिका

और डा॰ रणवीर रांगा से अज्ञेय ने कहा था - "साहित्यिक कृति सर्वदा तो नहीं किंतु बहुधा आत्मान्वेषण अथवा आत्मस्वीकार का साधन भी होती है । रचनाप्रक्रिया में ही रचयिता स्वयं अपने को नये अथवा सही रूप में पहचानता है" लेखक द्वारा अनेक बार स्वीकृति के बाद भी इसके बारे में ज्यादा बकबक मुझे ठीक नहीं जंचता, इसलिए शेखर का यह प्रकरण यही समाप्त कर रहा हूँ ।

"नदी के द्वीप" के संदर्भ में यह कहना मुश्किल है कि अज्ञेय के व्यक्तित्व की अमुक अमुक विशिष्टतायें उसमें उजागरित हो पायी हैं । अज्ञेय ने इसके संबन्ध में सूचना तक नहीं दी है । आत्मनेपद में उन्होंने यही लिखा हैं कि मैं ने तो सभी पात्रों को अपनी सहानुभूति दी है । भले ही साधारण सामाजिक जीवन में कुछ से मिलना - जुलना चाहूं, कुछ से बचना चाहू, पर अपनी कृति के क्षेत्र में तो सभी मेरी समवेदना के पात्र है[1] । इस संदर्भ में डा॰गोपाल राय भी सदिग्ध रूप में यही कहता है कि नदी के द्वीप में भुवन का माडल शायद अज्ञेय का अपना जीवन है[2] । लेकिन यह बात निस्सन्देह कह सकता है कि नदी के द्वीप की दो घटनायें अज्ञेय के जीवन से संबन्धित हैं । §1§ भुवन की नौकछिया ताल की वैज्ञानिक यात्रा का आधार, "अरे यायावार रहेगा याद" में संगृहीत किरणों की खोज नामक वैज्ञानिक अभियान का वृत्तान्त है । §2§ 1943 में अज्ञेय युद्ध में भर्ती हो गये थे । युद्ध में भर्ती होकर जो भीषण परिस्थितियों से भुवन गुजरता है वह सब अज्ञेय की अपनी निजी अनुभूति है।

- क्रमशः

1॰ आत्मनेपद - अज्ञेय - पृ॰74

2॰ अज्ञेय और उनके उपन्यास - डा॰गोपालराय - पृ॰52

मोहन राकेश·

साहित्यकार समाज का प्रतिनिधि है । सामाजिक विचार एवं विकार ही उनके द्वारा अभिव्यक्त होते हैं । या साहित्यकार की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का आधार समाज ही है । मोहन राकेश इस तथ्य से सहमत है । वे कहते हैं कि अनुभूति और अभिव्यक्ति सामाजिक प्रक्रियायें हैं और अभिव्यक्ति अनुभूति का अनिवार्य परिणाम है । अभिव्यक्ति एक अनिवार्य प्रक्रिया है परंतु उसे नियंत्रित किया जा सकता है । यह नियंत्रण ही कला है[1] । कृतिकार के लिए अनुभव की अनिवार्यता को भी उन्होंने स्वीकार किया है । वे कहते हैं कि कृति के लिए अनुभव की सर्वोपरि महत्ता की बात को लेकर संभवत: किसी भी लेखक को उनसे (अज्ञेय से) मत-भेद न होगा, उसका तो कदापि नहीं जो रचना को जीवन के परिस्पन्दनों की ही अभिव्यक्ति मानता है[2] । अत: अनुभूति अनुभव से उद्भूत है, इसलिए लेखक को जीवन से घनिष्ठ संबन्ध होना है और साथ ही अभिव्यक्ति में वही आग्रह और आत्मीयता भी हो जो घनिष्ठ परिचितों के संपर्क में रहती है । मोहन राकेश के लिए अनुभूति का सीधा संबन्ध उनके यथार्थ से है और यथार्थ है उनका समय और परिवेश - व्यक्ति से परिवार, परिवार से राष्ट्र और राष्ट्र से मानव समाज तक का पूरा परिवेश[3] । यों मोहन राकेश ने अपने अनुभव-परिवेश को विराट रूप दिया है, फिर भी उनका साहित्य निजी अनुभवों के दायरे में सिमट गया है । हमारे अध्ययन का विषय उनके उपन्यास है । उपन्यासों में उनकी भोगी हुई जिंदगी और उनके व्यक्तित्व का संपूर्ण रूप तमाम संघर्षों के साथ अभिव्यक्त हो गये हैं ।

अंधेरे बंद कमरे

राकेश का पहला उपन्यास "अंधेरे बंद कमरे" 1961 में निकला । दूसरी शादी की कड़वाहट और पराजय से राकेश का मन बहुत कुछ त्रासद हो गया ;

1· परिवेश - मोहन राकेश - पृ·174
2· वही - पृ·121
3· वही - पृ·203

मानसिक पीडा के कारण उन दिनों वे अनमने रहने लगे थे । घर शब्द से ही उन्हें डर लगने लगा था । न किसी से मिलने-जुलने की इच्छा होती थी, न कहीं जाने की । ज्यों त्यों ज़िंदगी का बोझ ढोये जा रहे थे । अँधेरे बंद कमरे इसी मनस्थिति में लिखा गया था ।

"अँधेरे बंद कमरे" के नीलिमा और हरबंस की टकराहट खुद उनके अपने जीवन की टकराहट है । नीलिमा और हरबंस अपने आप कटे हुए हैं । दोनों के बीच कहीं कोई ऐसी चीज़ है जो दोनों को खटकती रहती है और जिसे दोनों चेष्टा करके भी अपने बीच से निकाल नहीं पाते । दोनों के अपने अरमानें हैं अपनी महत्वाकांक्षायें हैं, इसलिए समझौते का सवाल ही नहीं उठता । नीलिमा हरबंस से कहती है - "मैं जानती हूँ कि तुम्हारे अंदर बहुत ऊंची महत्वाकांक्षायें हैं जो मेरी वजह से टूट रही है । मगर मैं कुछ नहीं कर सकती म मेरे अंदर अपना भी ऐसा कुछ है जिससे मुझे प्यार है और जिसे मैं छोड नहीं सकती"[2] नीलिमा नर्तकी बनना चाहती है । उसे उम्मीद नहीं कि वह बन सकती है या नहीं, लेकिन वह ज़रूर चाहती है, खूब नाम कमाने की । वह कहती है - "मैं मरने से पहले एक बार खूब नाम कमाना चाहती हूँ"[3] । वह इस धुन में इतना बढ आयी है कि लौट जाना उसके लिए त्रासदायक है या असंभव है । वह अपने पति से खुलकर बताती है - "मैं इस रास्ते पर इतना बढ आयी हूँ कि अब मैं लौटकर उस तरह की गृहस्थिन नहीं बन सकती जैसे कि तुम मुझे देखना चाहते हो"[4] ।

नीलिमा के चरित्र के संबन्ध में राकेश ने स्वयं कहा है कि बंधनों से घिरकर नीलिमा नहीं रहती । वह हरबंस से कटकर जीना चाहती है क्योंकि वह अनुभव करती है कि उसका न होना उसके होने से बहतर है"[5] । नीलिमा भी

---

1. नाटककार मोहन राकेश - सं. सुन्दरलाल कथूरिया - राजेन्द्रपाल का लेख - पृ.27
2. अँधेरे बंद कमरे - मोहन राकेश - पृ.288
3. वही पृ.309
4. वही पृ.254-255
5. परिवेश - मोहन राकेश पृ.147

मधुसूदन से यही कहती है - "अगर वह सचमुच यह चाहता है कि मैं उनसे अलग हो जाऊँ तो अब उसे ज्यादा परेशान नहीं करूंगी । जितने ही दिन कट गये हैं, उतने ही बहुत है । मैं अकेली रहकर भी किसी तरह जिंदगी काट लूंगी । मैं उसके ऊपर बोझ बनकर नहीं रहना चाहती"[1] । मोहन राकेश की पहली पत्नी भी नीलिमा के समान ही किसी का बोझ बनकर नहीं रहना चाहती थी । वह चाहती थी कि उसका अपना व्यक्तित्व हो, अपने लिए पूर्ण स्वतंत्रता हो । किसी प्रकार का बंधन उसे स्वीकार्य नहीं था । इसलिए राकेश उसे तलाक देते हैं और अपनी जिदगी को समेटने और एक लड़की को स्वीकार करते हैं । लेकिन उस जिदगी में भी उन्हें हथौड़े से थपेड़े ही मिलते हैं ।

असल में इसका दोषी खुद राकेश ही थे । उनके व्यक्तित्व का सबसे प्रबल पक्ष था उनके अहं या ईगो जिसका उन्होंने किसी भी स्थिति में समझौता नहीं होने दिया[2] । हरबंस का भी यही व्यक्तित्व है । दिल्ली का कला-निकेतन नीलिमा को स्पोन्सर करके उसके नृत्य का आयोजन करता है । नीलिमा के लिए यह गर्व की बात है, लेकिन हरबंस के लिए नहीं । वह शो के लिए बहुत मुश्किल से - नीलिमा द्वारा बहस और रोने के बाद ही राजी होता है । शो के पहले पत्रकारों और विशिष्ट व्यक्तियों के लिए नीलिमा दावत का इंतजाम करती है । यह हरबंस के अहं को इतनी चोट पहंचाती है कि वह एकदम अक्रोश कर उठता है - "यह कोई बात है कि मैं दुनिया के सारे काम-धंधे छोड़कर सिर्फ इसलिए हो रहूं कि घर में कुछ लोगों की आवभगत करूँ, उन्हें खाना खिलाऊँ, उनसे चिकनी-चुपड़ी बातें करूँ और उनकी कही हुई मूर्खतापूर्ण बातें सुनकर भी चुप रहूँ जिससे वे लोग मेरी पत्नी के नृत्य की प्रशंसा करें या उसके शो के लिए पच्चीस पच्चीस रुपये के कुछ टिकट खरीद लें । अगर मेरे दिल से पूछा जाए, तो मैं इसे एक तरह की वेश्यावृत्ति समझता हूँ"[3] । वह मधुसूदन से भी यही कहता हैकि

---

1. अँधेरे बंद कमरे - मोहन राकेश पृ ७७
2. चन्द सतरे और - अनिता राकेश - पृ·88
3. अँधेर बंद कमरे - पृ·417

नीलिमा के लिए यह सफलता और ख्याति का सवाल हो सकता है लेकिन उसके लिए तो केवल दुर्गति के सिवा और कुछ नहीं दिखायी पड़ता । इस बात पर नीलिमा व्यंग्य करती है कि हरबंस इस हीन भावना का शिकार है कि लोग नीलिमा को ज्यादा जानते हैं और उसकी चर्चा नीलिमा के पति के रूप में करते हैं । हरबंस इसका तुरंत जवाब देता है - "मुझे इस बात का ज़रा भी अफसोस नहीं कि मैं एक साधारण आदमी हूँ और जिंदगी भर एक साधारण आदमी ही रहूंगा । तुम अपना प्रदर्शन करो, नाम कमाओ और जो चाहो करो, मगर मेरी तुमसे इतनी ही प्रार्थना है कि मुझे तुम इसमें एक औजार बनाकर इस्तेमाल न करो"[1] । हरबंस किसी अपने अहं पर किसी भी तरह का दबाब पसंद नहीं करता ।

दोनों के बीच का संघर्ष इस सीमा पर पहुंच जाता है कि नीलिमा उसे छोड़कर चली जाती है । हरबंस ने नीलिमा से एक बार कहा भी था - "अलग रहकर ही हम दोनों ठीक से अपना अपना विकास कर सकते है । मजबूरी का संबन्ध नहीं होता । यह बात तुम भी अच्छी तरह समझ सकती हो"[2] । नीलिमा भी उसके साथ रहते हुए महसूस करने लगी थीकि दोनों पति-पत्नी न रहकर एक दूसरे के दुश्मन हो और साथ रहकर एक दूसरे का बदला ले रहे हो । नीलिमा के चले जाने के बाद हरबंस इतना अस्वस्थ हो जाता है कि वह आंतरिक संघर्ष से मुक्ति पाने के लिए लगातार पीता रहता है और उदास रहने लगता है । हरबंस पहले भी ऐसा था । नीलिमा की अनुपस्थिति में हरबंस बिलकुल बच्चों जैसा हो जाता था । उसे न कुछ पढा जाता, न बैठा जाता, न सोया जाता[3] । राकेश का स्वभाव भी इससे भिन्न नहीं था । वे तनाव से मुक्ति पाने केलिए पीते थे । उनकी यह विचित्र आदत थी, वे हर स्त्री में अपनी माँ को ढूढते थे ।

---

1. अंधेरे बंद कमरे - पृ.419-420
2. वही - पृ.138
3. वही - पृ.233

और इसकी वजह से वे इतने सेंटिमेंटल हो गये थे कि जिंदगी की हर छोटी बडी घटना उन्हें तिलमिला देती थी । अनिता राकेश लिखती है - "वह आशिक था, बीबी का नहीं । वह हर औरत में अपनी मां का चेहरा देखने का आदी हो चुका था जो उसे पूरी तरह मिल नहीं पाया"[1] ।

रूठकर चली नीलिमा हरबंस के पास लौट आती है जो राकेश की अपनी जिदगी में नहीं घटी थी । नीलिमा बार बार अनुभव करती थी कि वह हरबंस से अलग रहने चाहने पर भी अलग नहीं रह सकती । और अलग रहकर भी उससे मुक्त भी नहीं हो सकती[2] । इसलिए वह वापस लौट आती है । नीलिमा का यह निर्णय असल में स्त्री के प्रति राकेश अपनी आकांक्षा है जो उनके निजी जीवन में संभव नहीं हो पाया था ।

राकेश के व्यक्तित्व में अनेक विरोधी स्वभाव थे । बासु भट्टाचार्य कहते हैं "नदी का सा व्यक्तित्व है उसका । निरंतर चलते रहकर भी अपने स्थान पर बने रहना, अपने स्थान पर बने रहकर भी चलते जाना, यह स्वभाव राकेश का है"[3] । यह कथन राकेश की अस्थिरता का भी संकेत देता है । वे कभी भी अपनी जिंदगी में कहीं स्थिर नहीं रहे, दिल्ली, जलंधर अमृतसार, शिमला और बंबई कहीं भी । इस अस्थिरता का कारण यह भी था कि वे कहीं भी बंध रहना नहीं चाहते थे । चाहे वह व्यक्तियों से हो, जगहों से या नौकरियों से । और यहां तक कि वे पत्नियों को भी बदलते रहे ।

दूसरी शादी की असफलता के बाद अनिता से उनकी मुलाकात होती है अनिता से उनका रिश्ता इतना बढ जाता है कि एक दिन उसे साथ लेकर राकेश

टिप्पणी :-

1. चन्द सतरे और अनिता राकेश - पृ.88
2. अंधेरे बंद कमरे - पृ.254
3. मोहन राकेश - साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि - सं.अनिता राकेश - बासु भट्टाचार्य का लेख - पृ.12

नीलिमा को लंबे लंबे पत्र लिख कर कोंच कोंच कर बुलवा लेता है । फिर उसके डान्स ट्रूप के साथ पेरिस चले जाने पर हरबंस कितने तीव्र संघर्ष से गुजर जाता है, ये सब राकेश की निजी जिंदगी की अनुभूति या उनके मानसिक व्यापार ही थे जिन्हें वे बखूबी अपनी जिंदगी में घटित देखना चाहते थे । और ऐसी जिंदगी अनिता के साथ उन्होंने निभायी भी, 'चन्द सतरें और' इसका ज्वलंत साक्षी है ।

न आनेवाला कल

"न आनेवाला कल" का प्रकाशन 1968 में हुआ जो राकेश की भोगी हुई जिंदगी का एक परिच्छेद ही है । उन्होंने वर्षों तक शिमला के बिशप कोटन स्कूल में हिन्दी मास्टर के रूप में काम किया था । स्कूल का वातावरण उनके लिए असहनीय था । अस्वतंत्रता के परिवेश में दम-घुटकर उसकी आत्मा हर पल स्वतंत्रता केलिए छटपटाने लगती थी। स्कूल की जिंदगी सुई की घडी पर चलती थी । जिमी का यही काम था कि एक फीता लेकर दिन में एक एक मिनिट को नापना । "जेंटिलमेन···· आज चाय को चार पचास से तीस तक एक स्टाफ मीटिंग होगी । हेड के कमरे में" । या "दोस्तो, बाहर से एक मेहमान आ रहे हैं आज । उनके साथ हम चाय पीयेंगे - तीन पचास से तीन सैतालीस तक" । इसी तरह "अब दस मिनिट तक हम गपबाजी करेंगे" । और मजाक शुरू । ठीक दस मिनिट बाद, अब अपने अपने काम कर" और मजाक का बटन बंद । सुबह के आठ बजे से रात के साढे नौ बजे तक स्विचबोर्ड लगातार चालू । साढे नौ स्विचबोर्ड बंद, बत्तियां गुल और बिस्तर के अंदर"[1] । अत: वक्त की पाबन्दी इतनी कडी थी कि स्कूल में वक्त पर पहुंचना उनके वश की बात ही नहीं थी । अपनी दिनचर्या (बाद की) के संबन्ध में उन्होंने कमलेश्वर से कहा भी है - "देखिए दस बजे नींद खुलती है, सवा दस बजे बेड-टी लेते हैं । नहाकर नाश्ता करने तक बारह बज जाते हैं"[2] । एक क्रमबद्ध जीवन में जुडे रहना या सटीके से चलना उनके लिए असहनीय था । और इसके साथ सबेरे से

---

1. न आनेवाला कल - मोहन राकेश - पृ.80
2. परिवेश - मोहन राकेश - पृ.111

भाग जाते हैं । फिर दोनों घर बसाते हैं । लेकिन साथ रहते छः महीने ही हो गये थे कि दोनों अनमने हो गये । अनिता लिखती है "उन छः महीने में हम दोनों एक दूसरे के लिए बेगाने हो गए । यह अलग बात है कि जिस रूप को हम ने एक दूसरे में पाया उसकी हम दोनों में से किसी को भी जूरूरत नहीं थी । घर से चले गये थे कि हम खुशी की तलाश में, लेकिन कैसी नियति थी । कैसी विडंबना थी"[1] । और एक बरस के बाद अनिता को लगने लगा कि उसका घर और राकेश छिन गया है । लड़ते रहना राकेश का स्वभाव था । अनिता लिखती है "हम साथ रहते तो लड़ते रहते, अलग होते तो रोते रहते । एक अजीब विडंबना थी"[2] । हमने देखा कि हरबंस और नीलिमा की जिंदगी भी इस अभिशप्त स्थिति से ही गुजर रही थी । अनिता ने उनके एक झगड़े का विवरण दिया है जो हरबंस-नीलिमा के अनेक संघर्षों की याद दिलाता है । झगड़े का नतीजा यह था कि अनिता ने शिमला जाकर ट्रेनिंग करने का निश्चय ले लिया । राकेश जी समझ गये थे कि यह उसकी हुज्जत है, और कुछ नहीं । अनिता भी जानती थी कि उसके चले जाने से राकेश बेहाल होगा, फिर भी वह अड़िग रही । और राकेश जानते थे कि एक बार रुकने को कह देते तो वह निश्चय ही रुक जाती । लेकिन उनकी ईगो को वह गवारा नहीं । अनिता चार दिन के बाद घर लौट आयी । राकेश कलकत्ता चले गये थे । लौटने पर सारे दिन वे उससे नहीं बोले । लेकिन जब रात को अनिता अपने पलंग पर लेटी सुबक सुबक रोने लगी तो राकेश ने उसका सिर अपनी गोद में ले लिया जिससे वह और फूट फूट कर से पड़ी - "अब्ब मैं कभी नहीं जाऊंगी, राजे प्रेमिज, कभी घर छोड़कर नहीं जाऊंगी··· मुझे संभाल ले राजे ···· मैं बहुत कमज़ोर लड़की हूँ···· मुझे ऐसे मत छोड़ दिया करो"[3] ।

हरबंस के लंदन चले जाने पर नीलिमा के अभाव में बेबसी और उतावलपन उसे यों घेर जाती है कि उसका दम घुटने लगता है । इसलिए वह

---

1. चन्द सतरे और - पृ·80
2. वही - पृ·81
3. वही - पृ·88

शाम तक की पढाई ने उनके ईगो पर लगातार थपेडे दी थी[1]। वे उससे इतना उचट चुके थे कि बाद में उन्हें यों कहना पडा "प्रभु ईसा को कभी नौकरी नहीं करनी पडी, वरना सारा टेस्टमेंट ही बदल गया होता ··· एक एक करके सात पिरियड, पढा सकते थे ईसामसीह इतने पिरियड ? इससे कहीं आसान था क्रॉस कंधे पर लेकर चलना"[1]।

"न आनेवाला कल" का हिन्दी मास्टर मनोज अकेलापन की गहरी अनुभूति से संत्रस्त है। मोहन राकेश भी अपने जीवन में अकेलापन की दुरदाम परिस्थिति से गुजर गये थे। पारिवारिक संबन्धों के विघटन से उनके जीवन में एक प्रकार की असुरक्षा भावना घर कर चुकी थी। यह तनाव का कारण बना, तनाव फिर संत्रास और बाद में अकेलापन में परिवर्तित होकर उन्हें अर्थ हीनता के कगार पर छोड दिया।

यह असुरक्षा भावना बचपन में ही उसके मन में साया सी समा गयी थी। पिता की अकाल-मृत्यु से उसका व्यक्तित्व विकृत रूप से छितराया गया था। सारे परिवार का बोझ उस पर पडी थी। वे लिखते हैं - "घर की पूरी जिम्मेदारी सिर पर होने से उसे निभाने की मजबूरी से मन घबराता था। मैं किसी तरह अपने को विरासत से सब संबन्धों से मुक्त कर लेना चाहता था, परंतु मुक्ति का कोई उपाय नहीं था। छोटा भाई इतना छोटा था, बडी बहिन इतनी संस्कारग्रस्त और मां इतनी असहाय कि मेरी स्वतंत्रता की भूख कोरी मानसिक उडान के सिवा कुछ महत्व नहीं रखती थी"[2]। आर्थिक संकट उसे खाये जा रहा था और साथ दो भीषण घटनाओं ने उन्हें और ध्वस्त कर दिया। वे लिखते हैं, "दो दुर्घटनायें लग-भग साथ साथ हुई। पहले विभाजन, फिर दिव्या की मृत्यु (बाल-सहचरी) पहली ने परिवेश को उखाड़कर फेंक दियर, दूसरी ने उखाडने का अहसास को बहुत गहरा बना दिया"[3]।

---

1. व्यक्तिगत डायरी - सारिका - 1964
2. गर्दिश के दिन - मोहन राकेश - सारिका, फरवरी 1973
3. आईने के सामने - मोहन राकेश - पृ॰20।

फिर वे लगातार हथौडे खाते रहे । उन्होंने अनिता से कहा भी था "मैं ने जीवन में असुरक्षा इतनी भोगी है अन्ना, जिंदगी में अकेला इतना जूझा और लडा हूँ कि अब स्थिति को निभा ले पाना मेरे व्यक्तित्व का एक आवश्यक अंग बन चुका है । जिदगी में भोगे ये थपेडें वे कभी भूले नहीं थे और कभी-कभी उसकी याद में बेचैन भी रहते थे । अनिता राकेश लिखती है - "पता नहीं कितने कितने दिन कितनी कितनी देर हम दोनों साल बैठकर बीते सालों में बनी और टूटी जिदगियों की याद करते । राकेशजी कहते थे कि जिदगी के कितने थपेडे उन्होंने अकेले खाये और झेले हैं । राकेश जी ~~कहते थे कि जिदगी के कितने थपेडे उन्होंने अकेले खाये और~~ अंदर से अंदर क्षत-विक्षत हो चुके थे । किसी रिश्ते या किसी दोस्ती या किसी प्रतिबद्धता में उन्हें विश्वास नहीं रह गये थे । सारा-सारा दिन या तो वे गुमसुम बैठे रहते या फिर पुरवा को गोद में लेकर ढेर ढेर सा प्यार देते रहते । सारी सारी रात मुझे पास बिठाये रहते और कहते - पता नहीं क्यों बिलकुल अकेला होने से दहशत होने लगी है - मेरे पास बैठो, मुझे अकेला नहीं छोडो"[2] ।

स्कूल के दमघोट वातावरण से मुक्ति पाने मनोज इस्तीफा देता है । लेकिन उसे प्रतीक्षा है । मानसिक एवं परिवेशगत कठिनाइयों का सामना करते हुए भी उसे आनेवाले कल की प्रतीक्षा है । लेकिन एक दिन वह महसूस करता है कि कल का खयालात व्यर्थ है और वह कल कभी न आनेवाला कल है । जिदगी के अस्वस्थ वातावरण से मुक्ति पाने की छटपटाहट में उसने इस्तीफा दे दिया था, लेकिन भविष्य उसके सामने लटका रहता है । उसका मन अनिश्चितता की धुंध में कहीं गुम हो जाता है ।

प्रत्येक को भविष्य की कामना रहती है, जब वह मोह टूट जाता है तब वह हताश और बेचैन हो कहीं का नहीं रह जाता है । यही मनोज के

---

1. चन्द सतरें और - अनिता राकेश - पृ.87
2. वही - पृ.93-94

साथ हुई जो खुद राकेश का अनुभव था । और अस्थिरता, अनिश्चतता तथा निषेध राकेश के सभी पात्रों में मौजूद है जो राकेश के व्यक्तित्व में बखूबी सम्मिलित थे ।

राकेश की जिदगी में हताश और बेचैनी की अनुभूति लगातार हुई थी, लेकिन इसका स्थायी मानसिक भाव अनिता के अनुसार आस्था का ही था । अनिता लिखती है - "बीते हुए कल में उन्हें विश्वास नहीं था । उन्हें तो सिर्फ आनेवाले कल में ही आस्था थी । जो बीत गया, वो खत्म हुआ, जो आनेवाला है, उसी की प्रतीक्षा रहती । वह एक व्यक्ति था जिसे जीना आता था और जिसने जिदगी को असली अर्थ में जी थी - उन्हें हर कल में आस्था और दृढ विश्वास था"[1] । शायद यह राकेश के प्रति अनिता की महत्वाकांक्षा हो सकती है क्योंकि राकेश का इतना उलझा हुआ व्यक्तित्व था कि शायद उन्हें पूरा जानने के लिए एक पूरी जिदगी भी कम थी । सिर्फ इसलिए ही नहीं उनका व्यक्तित्व बहुत बुलन्द था बल्कि इसलिए और भी कि उनका बहुत कुछ था जो सिर्फ उनके अपने लिए ही था - किसी और के साथ शेयर करने केलिए नहीं[2]।

अंतराल

अंतराल का प्रकाशन 1972 में हुआ । इसमें राकेश की जिदगी के अंतराल की मार्मिक अभिव्यक्ति ही हुई है । अपनी पहली और दूसरी शादी की पराजय ने उनकी आत्मा को बुरी तरह झकझोर कर डाला था । विशेष मानसिक स्थिति में ही यह उपन्यास लिखा गया था ।

अंतराल के प्रधान पात्र देव, कुमार और श्यामा, राकेश के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं । उपन्यास में देव का अलग

---

1. चन्द सतरे और - अनिता राकेश - पृ.98
2. वही - पृ.96

शारीरिक अस्तित्व नहीं है । उसकी मृत्यु हो गयी है । श्यामा के मानसिक क्रियाकलापों में ही वह ज़िंदा है । प्रोफेसर कुमार का अलग मानसिक एवं शारीरिक अस्तित्व है । साथ ही वह देव के व्यक्तित्व की निगूढताओं के अनावरण का माध्यम भी बनता है ।

शादी की पहली रात ही अपनी पत्नी के विशेष बर्ताव की वजह से देव का मन उचट जाता है । अंदर ही अंदर वह क्षत-विक्षत हो जाता है श्यामा ने "एलकहोल" की गंध से अपने को बचाने के लिए संघर्ष किया था और देव को कहना पडा था - "ब्लडी हेल ! तुम से प्यार करना काफी उलझन का काम है"[1] । श्यामा को उस गंध ने अंदर से नसों को जकड लिया था । उसने एक तौलिया भिगोकर उससे सिर-मुंह लपेट लिया था और देव ने यह देखा भी था । शायद उसी क्षण से लगातार उसकी मृत्यु होने लगी थी । देव के साथ संबन्ध को "सहने" का संबन्ध मानने की शुरूआत भी श्यामा की ओर से ही हुई थी । और यह देव की दुर्बलता ही थी कि वह श्यामा के साथ कभी निर्मम नहीं हो सका । उससे कोई गलती होती तो देव यही कहता - "कोई बात नहीं, ऐसा हो भी जाता है । आगे से जरा ध्यान रख लेना इसका"[2] ।

डेढ साल साथ जीकर भी श्यामा का देव के साथ इतना सतही संबन्ध ही रहा था कि देव के गुजरे तीन साल बाद प्रो॰ कुमार से वह ऐसी बात कहती है कि आज भी मैं उसके साथ अपने संबन्ध को ठीक ठीक नहीं समझ पाती । वह कभी मुझे इतना पास नहीं लगा कि मैं अपने को उसमें खो सकूं"[3] । लेकिन श्यामा यह महसूस करती है कि देव ने सफलतापूर्वक उसे झुठला दिया है । उसका आभाव हर पल उसे कचोटता है । ज़िंदगी की हर घटना से गुजरती हुई हर

1॰ अंतराल - मोहन राकेश - पृ॰147

2॰ वही - पृ॰149

3॰ वही - पृ॰ 70

एक निर्निमेष देव की खामोश आखें उसे सताती रहती है । और किसी आदमी से संपूर्ण नारीत्व के साथ शारीरिक या मानसिक रूप में संबन्ध रखने में भी वह असमर्थ हो जाती है ।

यह सत्य था कि अपने एक प्रकार के निषेधात्मक व्यवहार से श्यामा ने देव के अहं को चोट पहुंचाया था । वह कुमार से कहती भी है -"देव से मैं ने प्यार नहीं किया । देव ने भी मुझसे प्यार नहीं किया । देव के मन में मुझे लेकर कोई भावना थी तो केवल अधिकार की । उन्हें दु:ख भी मुझसे प्यार न पाने का नहीं, अपने अहं को चोट पहुंचाने का था"[1]। लेकिन देव इसे खामोश हो सहता रहा । वह कभी भी श्यामा के साथ निर्मम नहीं हुआ । वह टाइफाइड से अस्वस्थ पडा था, उस वक्त शायद वैवाहिक संबन्ध के असंतुलन की वजह से ही उसने ठीक से दवा भी नहीं खाई । वह शायद चाहता भी नहीं था कि .... (बच जाए)[2]

वह देव था, लेकिन असली जिदगी में राकेश कभी ऐसा नहीं रहा । अपने अहं पर चोट भी कभी उसे सह्य नहीं रहा । अवास्तविक संबन्धों से बंधे रहना भी उसे बरदाश्त नहीं था, हर वक्त उनसे अपने को काटता रहा और इसीलिए ही उन्हें अपनी जिदगी में तीन लडकियों के साथ संबन्ध भी जोडना पडा था । अंतराल के कुमार भी पत्रों द्वारा चार महीने के परिचय के बल पर एक समझौते के रूप में एक लडकी से चुप-चुपर व्याह कर लेता है, लेकिन छ: महीने भी नहीं निभ पाये और इसलिए उस अवास्तविक संबन्ध को काटकर अलग रहने लगता है । वह श्यामा से कहता भी है कि यह जिन्दगी जानवरों से भी बदत्तर नहीं कि जिस आदमी को अंदर से नफरत करे, उसके साथ रात-दिन एक घर में बंधा रहे । जिसके शरीर की गंध तक से जी मितलाए

---

1. अंतराल - मोहन राकेश - पृ.128
2. वही - पृ.217

उसके साथ एक बिस्तर में सोने का नाटक करता रहे[1]। राकेश इससे भी आगे बढ़ गया था। उसे घर और बीबी बदलने की विवशता हर दो-तीन साल के बाद पड जाती थी। अनिता ने एक लिखती है कि राकेश ने एक बार यों कहा था "अब तू मेरा घर छोड्कर जायेगी कि नहीं! तुमने मेरा रिकार्ड खराब कर दिया है, दो साल से ज्यादा मैं किसी औरत के साथ नहीं रहा। पहले मैं ने सोया था कि दो-तीन साल के बाद चली जाओगी, छह साल हो गये, तेरे जाने का कोई आसार ही नहीं नज़र आ रहे"[2]।

असल में राकेश की इस अनिश्चतता तथा अस्थिरता का कारण उनकी अपनी जिदगी की असुरक्षा भावना ही था जिसका अन्यत्र हमने जिक्र किया है। अनिता राकेश कहती है कि दोनों के भाग जाने के बाद सारी रात राकेश एक ही बात बोलते रहे - "मुझे घर चाहिए। मुझे जिदगी में और सब कुछ मिला है, एक घर ही नहीं मिला। मैं कहां कहां इसके लिए नहीं भटका, क्या इसकेलिए नहीं किया ? लेकिन पता नहीं क्यों "घर" नामक चीज़ मुझसे हमेशा दूर रही। दो बार मैं ने इसे पाने का अपने में भरा और दोनों ही बार मुझे खुद ही उससे भाग जाना पडा"[3]।

घर और पत्नी से उनका मतलब सिर्फ शारीरिक नहीं था। शारीरिक संबन्ध उन्हें बहुत कुछ मिले थे। लेकिन उनकी चाह उससे भी परे किसी और चीज़ के लिए थी जिसकी उन्होंने जिदगी भर तलाश की। अंतराल के देव, कुमार और श्यामा भी यही चाह प्रकट करते हैं। श्यामा देव के संबंध में कुमार से कहती है - "मुझसे उसे वह नहीं मिला जो एक स्त्री से उसे चाहिए था। क्या चाहिए था, यह मैं आज भी ठीक से नहीं सोच सकता। व्याह से पहले उसने जिदगी देख रखी थी, इसलिए तुम्हारी तरह स्त्री शरीर की भूख उसमें नहीं थी"[4]। देव का अकेलापन शारीरिक नहीं, मानसिक है

---

1. अंतराल - मोहन राकेश - पृ.204
2. चन्द सतरे और - पृ.88
3. वही - पृ.75
4. अंतराल - पृ.216

जिसको भरने के लिए वह शराब का सहारा लेता है । अपनी मुसीबतों और तकलीफों के संदर्भ में क्षणिक मुक्ति पाने बिअर की बोतलों को मरना राकेश का स्वभाव ही था ।

कुमार भी शारीरिक आकर्षण से बढकर और किसी की तलाश में है । लता के संदर्भ में वह कहता भी है कि शारीरिक आकर्षण से हटकर, एक और आकर्षण होता है, व्यक्तित्व का चुंबल आकर्षण जो शारीरिक आकर्षण से कहीं अधिक मन को खींचता है । उस आकर्षण का अनुभव मुझे पहली बार उसी को लेकर हुआ था"[1] । श्यामा भी शारीरिक संबन्ध से ऊब चुकी है । उसकी राय में किसी से बात कर सकने में भी अपने में एक संबन्ध है, इसे नाम चाहे जो दिया जाए । उसके अनुसार कुछ क्षणों केलिए किसी की सांसों से संध जाना प्यार नहीं है और इसलिए ही वह किसी के क्षण भर के आवेग का साधन बनकर नहीं जीना चाहती । इससे उसे दीनता का अनुभव होता है । पति पत्नी के आपसी संबन्धों से जनित वितृष्णा के कारण ही श्यामा कहती है "मुझे नहीं लगता एक बार गृहस्थ जीवन के अनुभव से गुजर लेने के बाद में उस अनुभव को अपने जीवन में कभी दोहरा सकती हूँ । किसी के साथ जी सकती हूँ शायद .... पर उसके साथ घर नहीं बसा सकती"[2] । और वह संबन्धों के नाम दिये बिना ही सब कुछ पा लेना चाहती है । इसलिए ही वह अपने साथ बलात्कार करने के भ्रम के बाद भी कुमार से कहती है "यह मत सोचना कि इस घटना के कारण तुम्हारा तिरस्कार करके या तुम्हारे साथ जितना संबन्ध था, उसे तोड्कर जा रही हूँ । हो सकता है कि फिर भी कभी तुम्हें आने के लिए लिखूं । पर आओ तो कोई ऐसी वैसी बात सोचकर मत आना"[3] ।

असल में श्यामा दुविधा में है । वह दोराहे पर बेसहारा खडी है । वह कुमार को चाहती है । लेकिन अतीत उस चाह को दबोचता है, यों वह

---

1. अंतराल - मोहन राकेश - पृ.5।
2. वही - पृ.101
3. वही - पृ.217

लगातार मानसिक संघर्ष से गुजरती रहती है । श्यामा ही नहीं राकेश के अधिकांश पात्र मानसिक द्वन्द्व के शिकार के रूपमें सामने आते हैं । लगता है कि वे निर्णय लेने घबराते हैं और लेते हैं तो उससे पीछे हट जाते हैं । ऐसा क्यों ? इसके उत्तर में राकेश ने स्वयं कहा है कि एक तो यह लेखक के ~~व्यक्ति तूं~~ दृष्टि के अनिश्चित चाहिए का प्रतिबिंब हो सकता है। मैं इसे एक आरोप मानता हूँ। ..... मेरा अपना चरित्र ही ~~पेटेर~~ मेरे पात्रों की अनिश्चितता या उदासी के रूप में झलका है[1] ।

निष्कर्ष

अस्तित्ववादी साहित्यकारों के समान स्वयं पात्र के रूप में अवतरित होने की प्रवृत्ति हिन्दी में भी रही है । लेकिन बहुत कम । अज्ञेय और मोहन राकेश को इस कोटि में रख सकते हैं । अन्य साहित्यकारों ने आत्माभिव्यक्ति थोडी ही की है, इसलिए उन पर इसका आरोप ठीक नहीं जंचता ।

1- मोहन राकेश – साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि – से- आलोचना राकेश – एक महत्वपूर्ण भेंट- कलम कथाकार के अंक – P.164.

उपसंहार

उ प सं हा र

आधुनिक हिन्दी उपन्यासों पर अस्तित्ववाद का प्रभाव

प्रभाव, सामूहिक परिवेश-घटनाओं व प्रचलित विचार-पद्धतियों से व्यक्ति-मन में उद्भूत प्रतिक्रिया है । यह प्रभाव कभी कभी भाव में मिलकर इतना एकाकार होता है कि दोनों का अलगाव असंभव बनता है ।

सृजनकार समाज का अंग है । वह सहृदय है। उसकी संवेदनशीलता का स्तर औरों से ऊंचा रहता है । इसलिए परिवेश का छोटा-सा स्पन्दन भी उसमें गहरा हलचल पैदा करता है । अपनी रचनाओं द्वारा तीव्र प्रतिक्रिया भी वह प्रकट करता है ।

प्रभाव वास्तव में सृजन-क्रिया का अंग ही है । सृजनकार कोरे पटल पर लिख नहीं सकता । वह अपने पूर्वकालीन व समकालीन रचनाकारों से अनवरत प्रभावित होता रहता है । प्रभाव तो सामान्य नहीं होता, विशिष्ट होता है । सृजनाकार अपनी वैयक्तिकता तथा माहौल के अनुकूल ही प्रभाव स्वीकार करता है और अभिव्यक्ति देता है । और उसकी मौलिकता तो निजी अनुभूति की गहनता तथा अभिव्यक्ति की विशिष्टता पर आधारित रहती है ।

पश्चिम में विश्वमहायुद्धों से उद्भूत निराशा एवं अरक्षित भावना अस्तित्ववाद की व्यापकता के लिए कारण बनी थीं । सारे विश्व-साहित्य में इस विचारधारा की अवधारणाओं व प्रपत्तियों का गहरा प्रभाव पडा । भारतीय साहित्य भी इससे अछूता न रहा ।

भारत का सृजन-परिवेश भी अस्तित्ववाद के प्रभाव-ग्रहण के लिए अनुकूल था । अंग्रेज़ों का उपनिवेश होने के कारण महायुद्धों का प्रभाव भारत पर भी पडा । प्रथम विश्व-महायुद्ध में एक लाख 60 हज़ार सैनिक मारे गए । तुरंत ही इन्फ्लुएंज़ा" के प्रकोप से 50-60 लाख लोगों की मृत्यु हो गयी । 1943 के अकाल में भी लाखों लोग मारे गये । इसके साथ स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान हुई दर्दनाक घटनायें, पाशविक वृत्तियां व नरसंहार, भारत-विभाजन के फलस्वरूप फूट निकले सांप्रदायिक दंगे (जिसमें पांच लाख व्यक्ति मारे गये थे) आदि ने पश्चिम की यह तथाकथित मानसिकता- मृत्यु की अनिश्चितता, आकस्मिकता तथा मानवीय-अस्तित्व के संकट-बोध को भारतीयों में भी जगा दिया । इसी मानसिकता ने ही भारतीय लेखकों को अस्तित्ववादी संरचना के लिए सक्षम भी बना दिया ।

परिवेश के प्रति साहित्यकार की प्रतिक्रिया कभी प्रभाव-ग्रहण का नींवाधार कारण बनती है । स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक-परिवेश के प्रति हिन्दी लेखकों में एक निषेधात्मक प्रतिक्रिया उद्भूत हो गयी थी जिसने अस्तित्ववादी संरचना को व्यापक बनाया ।

भारतीय जनता की यह मुग्ध कल्पना रही है कि भारत वर्ग हीन शोषणमुक्त रामराज्य बन जाय । स्वतंत्रता प्राप्ति के 34 वर्षों बाद भी यह कल्पना ही रही है । इसके साथ राजनीतिक क्षेत्र चरित्रहीन तथा स्वार्थी राजनीतिज्ञों के कारण कलुषित हो गया है ।

भारत का सामाजिक जीवन भी असंगत है । अमीर-गरीब का फासला बढता ही जा रहा है । कीमतों तथा टैक्स के बराबर बढने से जिंदगी दुरुस्त हो गयी है । बेरोजगारी ने युवा-पीढी को बिलकुल संत्रस्त कर दिया है । सामाजिक आचरण इतना गंदा हो गया है कि सब कहीं ढोंग और ढकोसला है । बेमानी और हिपोक्रसी समाज में घर कर चुकी है । सीमित तकनीकि आंदोलन ने एक यांत्रिक संस्कृति, एक पैसे पूजक समाज या महाजनी सभ्यता की सृष्टि की है । व्यक्ति अपना व्यक्तित्व खोकर यांत्रिक जीवन का पुर्जा मात्र हो गया है । व्यक्ति - व्यक्ति में संबन्धहीनता के अभाव में अलगाव का बोध जम गया है और इसने उसकी सामाजिक चेतना में दरारें पैदा की हैं ।

भारत की आर्थिक व्यवस्था भी त्रासद है । भारत विश्व के गरीब देशों में से है । अंग्रेज़ों ने भारत की गांवों पर आधारित आर्थिक व्यवस्था को तहस-नहस कर दिया था । इसलिए ही यहां एक स्वतंत्र-पूजीवादी व्यवस्था उभर कर नहीं आयी । 1947 में भारत को जो स्वतंत्रता मिली थी वह असल में स्वतंत्रता नहीं थी बल्कि शोषण को व्यापक बनाने का साजिश मात्र था । इसलिए ही आज भारत अनेक देशों के शोषण द्वारा रिक्त बनता जा रहा है ।

हिन्दी साहित्यकारों ने परिवेश के इस विघटन को गहराई से महसूस किया । उससे इनकी आस्था उठ गयी । लेकिन व्यक्ति की त्रासद स्थिति ने उन्हें संत्रस्त कर दिया । और अपने अस्तित्व की खोज में गुमराह व्यक्ति - मानव को इस दुरुस्त स्थिति से उबार कर व्यक्ति-अस्तित्व की गरिमा को फिर से उद्भासित करना उनका लक्ष्य भी हो गया । व्यक्ति की सही स्थिति की पहचान के लिए अस्तित्ववाद के अध्ययन-मनन ने इन्हें सक्षम बनाया था और आत्मनिष्ठ हो व्यक्ति-समस्याओं के आकलन केलिए हिन्दी की पूर्ववर्ती साहित्यिक परंपरा तथा रचना-सिद्धान्त ने इन्हें प्रेरित भी किया था ।

हिन्दी उपन्यास में अस्तित्ववाद का प्रभाव स्वीकार करनेवाले प्रथम सृजनकार अज्ञेय रहे हैं । उनके उपन्यासों में व्यक्ति-अस्तित्व तथा स्वतंत्रता की सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है । "शेखर एक जीवनी" में ही इसकी शुरूआत होती है । शेखर में बचपन से ही अपने व्यक्तित्व तथा स्वतंत्रता को बनाये रखने की तीव्र अभिलाषा रहती है । बालक शेखर का मन हर पल घर की घुटन भरी परिस्थितियों व मां-बाप के दमनकारी आचरणों से छटपटाता रहता है । वह मुक्ति चाहता है, नीलाकाश की नीलिमा में बादलों से बेखटक बिछुरना चाहता है । स्वतंत्रता की अदम्य एवं असीम आकांक्षा में व्यक्ति की सदा यही चाह है कि अपने अस्तित्व को बनाये रखे । स्त्री - पुरुष के अहं विलयन के उस नैसर्गिक काम वृत्ति के संदर्भ में भी व्यक्ति की यही तीव्र आकांक्षा है कि पूर्ण विलयन न हो, अपना अलग अस्तित्व बना रहे ।

"अपने अपने अजनबी" में मृत्यु को, अस्तित्ववादी दर्शन के ही अनुकूल स्वतंत्रता की सीमा के रूप में प्रस्तुत किया गया है । सार्त्र के प्रसिद्ध उपन्यास-त्रय का नायक मत्येदलरयु जर्मन सैनिकों की हत्या करते हुए आत्मघात करता है और स्वतंत्र बनता है । अज्ञेय की योके भी विषपान करते हुए यही उद्घोषित करती है कि मैं ने चुन लिया, मृत्यु को चुन लिया । मानव वरण करने केलिए अभिशप्त है - चाहे वह मृत्यु ही क्यों न हो ।

मोहन राकेश के तीनों उपन्यासों का परिवेश पारिवारिक है । सभी पात्र पारिवारिक घुटन से पीड़ित हैं । परिवार की नींव पति-पत्नी की आपसी समझौता है । लेकिन यहां सभी अपने अस्तित्व को बनाये रखने की लालच में है । कोई आत्मसमर्पण के लिए तैयार नहीं । सभी को इस्तेमाल किये जाने का डर है । आवेग में ये कभी-कभी एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश भी करते हैं । फलत: होती हैं - चीख पुकार, टकराहट व बिखराव ।

श्रीकांत वर्मा के "दूसरी बार" का नायक अपने व्यक्तित्व के बिखर जाने के भय से अपनी औरत से "सेक्स - संबन्ध" तक नहीं रखता ।

संबन्ध-विच्छेद के बाद एक बार उस अनैतिक कार्य केलिए मजबूर होने पर वह बुरी तरह मिचली की अनुभूति से गुजरता रहता है । "अठारह सूरज के पौधे" के पुरुष का पुरुषत्व पिता के व्यक्तित्व के आतंक से कहीं खिसक गया है । व्यक्तित्व को बनाये रखने की कोशिशें उसे कापुरुष ही बनाती हैं । फलत: वह हर पल विसंगति-बोध से गुजरता रहता है । "रुकोगी नहीं राधिका" की राधिका का व्यक्तित्व इसके ठीक विपरीत है । उसकी सारी हरकतों की नींव में अपने व्यक्तित्व की आकांक्षा के साथ पिता के व्यक्तित्व के प्रति तीव्र विद्रोह भी सम्मिलित है ।

यों हिन्दी के कपितय उपन्यासों में व्यक्ति के अस्तित्व व स्वतंत्रता के हिमायत के साथ उससे उद्भूत समस्याओं की भी अभिव्यक्ति हुई है ।

अस्तित्ववादी दर्शन का प्रमुख संघटक तत्व विसंगति बोध भी हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त है । सूचित किया गया है कि सृजनकार अपने परिवेश के अनुकूल ही प्रभाव स्वीकार करता है और उसकी अभिव्यक्ति भी उस पर आधारित रहती है । अस्तित्ववादी विसंगति - चेतना को हिन्दी लेखकों ने परिवर्तित व परिवर्द्धित करके अपनी परिस्थिति के अनुकूल ही उजागरित किया है इस समझौते की वजह से ही हिन्दी उपन्यासों में विसंगति-चेतना पूर्णता के साथ अवतरित नहीं हो पायी है । कालू के मीरसाल कितने अनमने भाव से माँ की मृत्यु का सत्य स्वीकारता है, कितनी बेफिक्री से अरब का कत्ल करता है तथा कितनी उदात्त दार्शनिक भावना से मृत्यु को स्वीकार करने केलिए तैयार रहता है - ये सब भाव जीवन के प्रति उसकी अनासक्ति के द्योतक हैं । हिन्दी उपन्यास साहित्य में मीरसाल के समान उज्ज्वल पात्र की सृष्टि नहीं हुई है । इसका एक कारण उपर्युक्त कथित समझौता है । दूसरा भारत का अपना निजी परिवेश है जो ऐसे पात्र की सृष्टि नहीं मांगता ।

उपर्युक्त कथित समझौते के अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं । अंधेरे बंद कमरे की नीलिमा हरवंस के साथ जीते - लड़ते - बिगड़ते, पारिवारिक जीवन की सारी सरसता सोखे जाने पर भी उसके साथ ही जिंदगी गुजारने का

निश्चय करती है । मधुसूदन अपने सारे एब्सेर्ड-बोध का बोझ ठकुराइन की लडकी निम्मा की गोद में उतारकर स्वस्थ हो जाता है । सुषमा-श्रीवास्तव की भी किसी के संग घरौंदा बनाने की प्रतीक्षा है । निरर्थकता को अपने नस-नस में समेटकर चलनेवाली "नदी के द्वीप" की रेखा आखिर किसी पुरुष की साया में, श्रीमतित्व के झूठे "लेबल" की ओट में जीने का निश्चय करती है । भुवन अपनी ही शिष्या गौरा को अपनाकर अपनी सारी निरर्थकता को उतार देता है । "अंतराल" की श्यामा शारीरिक-संबंध से घृणा रखती हुई भी कुमार के मोह से उबर नहीं पाती । उसे पत्र द्वारा फिर आने की निमंत्रण देती है । अनेक पुरुषों के पैरों रौंदे जाने पर भी "डाक बंगला" की इरा को किसी ऐसे पुरुष की प्रतीक्षा है जो उसे अपनी सभी स्वामियों के साथ अपनाये । "फ्रिजिड" होने के कारण जिंदगी भर निरर्थकता से जूझनेवाली "सूरजमुखी अंधेरे के" रत्ती को आखिर संभोग सुख की अनुभूति प्राप्त होती है ।

हिन्दी लेखकों के सीमित दायरे तथा अनुभूति के सतहीपन से एब्सर्ड चेतना का विशाल कान्वास यहां अक्तरित नहीं हो पाया है, फिर भी इसे गहराई से समझने की कोशिश जरूर हुई है । "नदी के द्वीप" की रेखा विसंगति की चरम-सीमा में अपने गर्भस्थ शिशु को नष्ट करती है और अपेने को तीव्र वेदना की ओर धकेल देती है । 'दूसरी बार' व 'क पति के नोट्स' के नायक निरर्थकता की उत्तुंगता में संभोग क्रिया में भी मिचली की अनुभूति महसूस्ते हैं । "अठारह सूरज के पौधे" और सफेद मेमने में एक नये आयाम का भी उद्‌घाटन हुआ है - पारिवारिक व सामाजिक परिवेश की म्रियमाणता से व्यक्ति अपनी निरर्थक जिदगी ढोते रहने के लिए अभिशप्त है, उसकी मुक्ति असंभव है ।

मृत्यु-संबंधी धारणाओं की अभिव्यक्ति भी पहली बार "शेखर एक जीवनी" में ही हुई । जीवनी लिखने की प्रेरणा तक अज्ञेय को मृत्यु-संत्रास से उद्‌भूत निराशा से प्राप्त हुई थी । शेखर के मन में न जाने क्यों बचपन में ही मृत्यु के प्रति एक सम्मोहन रहता है । मृत्यु की जिज्ञासा में वह मां से ही पूछ बैठता है -'मां तुम कब मरोगी'? युवा शेखर को मृत्यु से बिलकुल डर नहीं है

फांसी की कल्पना उसे मुग्ध ही करती है । मृत्यु तो दांत उखडवाने के छोटे से आपरेशन के समान बहुत ही सरल है । शेखर मृत्यु को अपने जीवन की सिद्धि मानता है ।

जीवनी में बालक शेखर की मृत्यु के प्रति आकर्षण, युवा शेखर में मृत्यु-सत्य एवं विराटत्व की अभिज्ञता में बदलकर धीरे धीरे मृत्यु की अवश्यंभाविता तथा उसे निडर होकर जीवन की सिद्धि मान लेने की दार्शनिक उत्तुंगता प्राप्त करता है । लेकिन मीररसल (कामू का पात्र) के जीवन के प्रति निरासक्त भाव शेखर में नहीं है । ठोस जीवन्त घटनाओं के अभाव में शेखर की मृत्यु संबंधी धारणाएं भी सतही लगती हैं । (इसका कारण शायद तीसरे भाग का अभाव होगा ।)

"अपने अपने अजनबी" में मृत्यु संबन्धी विभिन्न अवधराणाओं का विश्लेषण हुआ है । सेल्मा सिद्ध करती है कि मृत्यु में ही जीवन की सार्थकता है ईश्वर-साक्षात्कार का माध्यम भी यही है । वह तटस्थ दृष्टि से मृत्यु को देख रही है । कार्ल जास्पर्स के समान उसकी भी मान्यता है कि मनुष्य पूर्व निर्धारित परिस्थितियों के चंगुल में जीवन बिताने को अभिशप्त है । परिस्थितियों को बदलने या वरण करने की सक्षमता उसमें नहीं है । कामू भी मानते हैं कि जीवन की विद्रूपताओं को स्वीकार कर उनके प्रति विद्रोह करने में ही जीवन की सार्थकता है ।

युवती योके हर पल मृत्यु से संत्रस्त है । सेल्मा मृत्यु को गाकर स्वीकार करने केलिए तैयार रहती है तो योके मृत्यु-भय से गिडगिडाती रहती है । मृत्यु संत्रास व्यक्ति को जीवन का स्वाद लेने नहीं देता । इतना ही नहीं कि वह दूसरों की हत्या करने की कोशिश करता है या आत्मघात करता है । योके ने यही किया । पहले उसने सेल्मा को गला दबाकर मार डालना चाहा । असफल होने पर आत्मघात किया ।

पर इससे वह निरर्थकता बोध से उबर तो पाती है । कामू की राय में निरर्थकता बोध से छुटकारा पाने का एक तरीका है आत्महत्या ।

"वे दिन" में मृत्यु व मृत्यु साक्षात्कार का वर्णन नहीं है । लेकिन सारे उपन्यास में मृत्यु की रेंगती छाया मंडराती रहती है । मृत्यु के आतंक और संत्रास भी एक डरावने सांप से हर पात्र के रग रग में रेंग रहे हैं । सभी पात्र एक अभिशप्त अमानवीय स्थिति से गुजर रहे हैं । "चलता हुआ लावा "पूर्णत: मृत्यु के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया उपन्यास है । मृत्यु अपनी विकरालता तथा संपूर्णता के साथ इसमें उभर आयी है । साथ मृत्यु-सत्य की भी अभिव्यक्ति हुई है । पारिवारिक विसंगतियों से गुजरते हुए इस उपन्यास का अनाम नायक वर्षों से यह अनुभव करता आ रहा था कि वह बहुत पहले ही मर चुका है । उसका लाश ही जिंदा है । और वह इस सत्य से भी सदा अभिभूत रहता है कि शादी के लिए चमकदार कपडे पहलकर निकले या सारा सामान ढोकर शहर बंदलें या चौरंगी में खाली जेब से गुजरें, यह दूरी उस केवऽतल्ल (श्मसान) तक ही हमें पहुंचाती हैं ।

विश्वमहायुद्धोत्तर परिस्थितियों ने विश्व भर के परंपरागत मूल्यों को विघटित कर दिया । सारी दुनिया एक सांस्कृतिक संकट से गुजरने लगी । मूल्यों का नियंता उस "अलौकिक सत्ता" का अवमूल्यन हो गया । मानव ने अपने को दिग्भ्रान्त पाया । साहित्य में भी इसकी प्रतिक्रिया हुई । तत्कालीन मानवीय संकट बोध के विविध भावों की अभिव्यक्ति विश्व साहित्य में हुई ।

भारत में अपनी निजी परिस्थितियों की वजह से यह संकट तीव्रतर हो गया । भारत के सामाजिक क्षेत्र की सबसे बडी घटना थी, संयुक्त परिवार का विघटन । दूसरी घटना विवाह-क्षेत्र की सामूल क्रांति थी । इसके साथ स्वातंत्र्योत्तर नवीन परिस्थितियों के संदर्भ में उद्भूत नर-नारी के नये संबंध, भारतीय सामाजिक जीवन के अंतर्विरोध आदि ने मिलकर मूल्य-विघटन को और गतिशील कर दिया ।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में भी पश्चिम के समान मूल्य-विघटन का चित्रण नर-नारी के रागात्मक संबन्धों - प्रेम, विवाह व यौन संबंध के आधार पर ही हुआ है । अस्तित्ववादी साहित्य में सेक्स का अतिरंजित वर्णन, सामाजिक नियमों को तोडने तथा जीवन की निरर्थकता को उन्मीलित करने के श्रम के रूप में हुआ था । हिन्दी लेखकों ने भी यही पद्धति अपनायी । इनके लिए यौन क्रांति परिवर्तित मूल्यों का दस्तावेज रही है ।

परंपरागत प्रेम धारणा में नीवाधार परिवर्तन शेखर एक जीवनी से शुरू होता है। सगी बहिन के प्रति रति-भाव तथा मौसेरी बहिन के प्रति प्रेम तथा अटूट आस्था उपन्यास क्षेत्र की क्रांतिकारी घटनायें हैं । समलैंगिकता की शुरूआत भी शेखर में ही होती है । "नदी के द्वीप" में तिल-तिलकर मरते प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है । इसमें प्रेम पर आधारित सारी नैतिकताएं भी झर झर कर निकल गयी हैं । रेखा का व्यक्तित्व नैतिक कट्टरता के विरुद्ध उभर आए विद्रोह का मूर्त रूप है । अपने अपने अजनबी में स्त्री पुरुष प्रेम ही नहीं, सारे मानवीय संबन्ध भी टूट गये हैं । सब एक दूसरे के लिए अजनबी रहते हैं।

मोहन राकेश के तीनों उपन्यास प्रेम संबन्धी हैं । "अंधेरे बंद कमरे" में प्रेम एकरसता का घटाटोप व इस्तेमाल किये जाने का चकला है । "न आनेवाल कल" में विसटता प्रेम का वर्णन है । इसमें प्रेम वैयक्तिक-समस्या से बढकर सामाजिक समस्या बन गया है । अंतराल में आकर प्रेम अपना अर्थ खो देता है । श्यामा और कुमार नामहीन संबन्धों के दायरे में रहकर उसका अर्थ खोजने की कोशिश करते हैं । लेकिन हार खानी पडती है । दोनों शारीरिक रूप से अलग हो जाते हैं, फिर भी मानसिक रूप में चाहते रहते हैं ।

निर्मल वर्मा के "वे दन" में प्रेम नहीं है । प्रेम मर चुका है । लडाई ने उसकी हत्या की है । आदमी मानसिक रूप में लाशें हैं, इसलिए उनके बीच संप्रेषणीयता संभव नहीं है । संप्रेषणीयता के अभाव में प्रेम भी नहीं हो सकता । फिर भी वे प्रेम करते हैं - पल-भर की अनुभूति के लिए । प्रेम उनके लिए नसों के तनाव को ढीला करने का माध्यम मात्र है । कमलेश्वर के "डाक बंगले" में

प्रेम प्रवंचना या अभिनय बन जाता है । पुरुष की दीन दशा में समर्पित होने केलिए बेबस नारी का चित्र भी इसमें उतारा गया है । रमेश बक्षी के "बैसाखियों वाली इमारत" में प्रेम संभोग का रूप लेता है । इस उपन्यास के नर-नारी भोग स्वतंत्रता को ही असली स्वतंत्रता मानते हैं । कृष्णा सोबती के "सूरजमुखी अंधेरे के" तथा गिरिराज किशोर के "यात्रायें" में प्रेम - हीन यौन संबन्धों व उनसे उद्भूत समस्याओं का आकलन हुआ है । श्रीकांत वर्मा के 'दूसरी बार' तथा महेन्द्र भल्ला के 'एक पति के नोट्स' में प्रेम एब्सर्ड का रूप ले लेता है । प्रेम की निरर्थकता धीरे धीरे अस्तित्व की निरर्थकता की ओर बढती है । राजकमल चौधरी के 'मछली मरी हुई' में यौनाचार की विविधताओं - होमोसेक्षालिटी तथा लेसबनिजम - का चित्रण है तो मणि.मधुकर के "सफेद मेमने" में स्त्री-पुरुष के यौन-संबन्धों की एक प्रदर्शिनी तैयार की गयी है । राजकमल चौधरी के ही उपन्यास "एक अनार एक बीमार" में प्रेम नहीं है संबन्ध भी नहीं है, सिर्फ आदमी और स्त्री साथ रहते हैं - यों कि साथ रहने केलिए अभिशप्त हो ।

रागात्मक संबन्धों के साथ अन्य सहज मानवीय संबन्धों में भी विघटन दिखायी पडा। माता-पिता और संतान के सुदृढ संबन्ध में भी दरारें पडने लगीं शेखर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को बनाये रखना चाहता है । लेकिन मां-बाप के दमनकारी आचारण इसमें बाधा उपस्थित करते हैं । शेखर विद्रोह करता है फलत: माता पुत्र पर भरोसा रखने में असमर्थ बनती है । और माता के द्वारा पुत्र के प्रति अविश्वास की घोषणा पुत्र को क्रांतिकारी बनने में सहायक भी बनती

"अठारह सूरज के पौधे" का पुत्र विद्रोही नहीं है । उसका सारा विद्रोह भाव निर्विकारता तथा निरर्थकता में बदल गया है । पिता-संतान के सहज संबन्धों के अभाव में संतान के व्यक्तित्वहीन होकर कापुरुषता की मानसिकता से गुजरने की उज्ज्वल झांकी इस उपन्यास में मिलती है "रुकोगी नहीं राधिका" की राधिका का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है । परंपरा के अनुसार पिता का बेटी पर कुछ अधिकार है । राधिका का व्यक्तित्व इसके प्रि सशक्त विद्रोह प्रकट करता है । राजकमल चौधरी का उपन्यास "नदी बहती थी"

सारे पारिवारिक संबन्धों, मूल्यों तथा मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न लगाता है । इन्सान मूलत: स्वार्थी है । सारे संबन्ध इस पर निर्भर है । इसलिए ही सामाजि जीवन इतना विकराल हो गया है कि उसकी गति एक "बेस्टर्ड" जाति की ओर है । इस पर सावधान बरतने का आह्वान दे रहा है, यह उपन्यास ।

अस्तित्ववादी साहित्य की यह विशेषता रही हैकि उसमें स्वयं रचनाकार पात्र के रूप में अवतरित हो आया है । इसकी सहमति भी उन्होंने दी है । हिन्दी में भी यह प्रवृत्ति रही है, पर बिलकुल कम । अज्ञेय और मोहन राकेश की वैयक्तिकता उनकी रचनाओं में खूब निखर आयी है । शेखर के व्यक्तित्व के रेशें अज्ञेय ने अपने व्यक्तित्व के रेशों से ही बुने हैं । इसकी सम्मति भी उन्होंने दी है । मोहन राकेश के तीनों उपन्यास उनके अपने जीवन की ही प्रतिच्छाया है तथा पात्रों की अनिश्चितता, उदासी व मानसिक द्वन्द्व उनके चरित्र की ही झलकियां हैं जिनकी सत्यता के लिए राकेश व अनिता राकेश को बराबर उद्धृत कर सकते हैं ।

आखिर निष्कर्षत: यही कहा जा सकता हैकि हिन्दी के आधुनिक उपन्यास लेखकों पर अस्तित्ववाद का प्रभाव पडा है । विरासत रूप में मिली दार्शनिक मानसिकता तथा आधुनिक भारतीय परिवेश ने इस प्रभाव ग्रहण केलिए लेखकों को सक्षम बनाया है । लेकिन उन्होंने इस प्रभाव को अपने भाव के साथ एकाकार करके अपने परिवेश के अनुकूल ही अभिव्यक्ति दी है । फलत: हिन्दी का अपना अस्तित्ववादी उपन्यास साहित्य उपलब्ध हुआ है ।

❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀

संदर्भ ग्रंथ सूची

संदर्भ ग्रंथ सूची

हिन्दी

(क) आलोचनात्मक साहित्य

1.	अज्ञेय	डा. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी नाशनल पब्लिशिंग हाउस, 1978
2.	अज्ञेय और उनके उपन्याय	डा. गोपालराय दि मैक्मिलन कंपनि लि. 1978
3.	अस्तित्ववाद	महावीर दाधीच शब्द लेखा, बीकानेर, 1968
4.	अस्तित्ववाद-कीर्केगार्ड से कामू तक	योगेन्द्र शाही मेकमिलन कंपनि लि. 1975
5.	अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य	डर. श्यामसुन्दर मिश्र विधाप्रकाशन, मंदिर, दिल्ली, 197।
6.	अस्तित्ववाद और नयी कविता	प्रकाश दीक्षित अनादि प्रकाशन, इलाहाबाद
7.	अस्तित्ववाद और नयी कहानी	लालचन्द्र गुप्त मंगल शोध प्रकाशन, दिल्ली - 1975
8.	आज का हिन्दी उपन्यास	इन्द्रनाथ मदान राजकमल प्रकाशन, 1986
9.	आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद	डा.शिवप्रसाद सिंह नाशनल पब्लिशिंग हाउस, 1973
10.	आधुनिक भाव-बोध की संज्ञा	अमृतराय हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972

11. आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका- डा. बलभद्र तिवारी
नन्दकिशोर एण्ड सन्स, 1962

12. आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ-डा. नरेन्द्र मोहन
आदर्श साहित्य प्रकाशन, 1973

13. आधुनिक हिन्दी उपन्यास — डा.नरेन्द्र मोहन, [illegible], दिल्ली

14. आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना - डा. विजमोहन सिंह
रचना प्रकाशन, 1972

15. आत्मनेपद — अज्ञेय
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, 196

16. उपन्यासकार अज्ञेय — डा.केदारशर्मा
नेशनल जेन एण्ड सन्स, जयपुर, 1966

17. एक और जिंदगी — मोहन राकेश

18. एक बूंद सहसा उछली — अज्ञेय
भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, 1960

19. क्योंकि समय एक शब्द है — रमेश कुंतल मेघ
लोक भारती प्रकाशन, 1975

20. चन्द सतरें और — अनिता राकेश
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली

21. त्रिशंकु — अज्ञेय
सूर्य प्रकाशन मंदिर; बीकानेर, 1973

22. द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास — डा.लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
राजकमल प्रकाशन, 1973

23. नयी कविता और अस्तित्ववाद — रामविलास शर्मा
राजकमल प्रकाशन, 1978

24 नयी कहानी की भूमिका — कमलेश्वर
शब्दकार, दिल्ली, 1978

25. नयी कविता में वैयक्तिक चेतना — डा. अवधनारायण त्रिपाठी, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 1979

26. नाटककार मोहन राकेश — सं. सुन्दरलाल कथूरिया, कुमार प्रकाशन, दिल्ली

27. परिवेश — मोहन राकेश
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1967

28. भवन्ती — अज्ञेय
राजपाल एण्ड सन्स, 1972

29. मानव-मूल्य और साहित्य — डा. धर्मवीर भारती
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1960

30 (अ) मोहन राकेश-साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि — सं. अनिता राकेश, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1975

(ब) [illegible]

31. विषाद योग — कुबेरनाथ राय
नाशनल पब्लिशिंग हाउस, 1973

32. विद्रोह और साहित्य — सं. नरेन्द्र मोहन तथा देवेन्द्र इस्सर
साहित्य भारती, 1974

33. साहित्य और आधुनिक युग-बोध — देवेन्द्र इस्सर
जयकृष्ण अग्रवाल, अजमेर, 1973

34. साहित्यिक साक्षात्कार — डा. रणवीर रांगा
पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 1978

35. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य — डा. रामगोपालसिंह चौहान

36. हिन्दी उपन्यास — डा. सुषमा धवन

37. हिन्दी उपन्यास — सं.सुषमा प्रियदर्शिनी
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1972

38. हिन्दी उपन्यास — डा. शिवनारायण श्रीवास्तव,
सरस्वती मंदिर, वाराणसी

39. हिन्दी उपन्यासों पर पाश्चात्य प्रभाव - भरतभूषण अग्रवाल, कृष्णचरण एवं संतति, 1971

40. हिन्दी उपन्यास-पहचान और परख — सं. डा. इन्द्रनाथ मदान,
लिपि प्रकाशन, 1975

41. हिन्दी उपन्यास का समाजशास्त्रीय विवेचन - चण्डी प्रसाद जोशी
अनुसंधान प्रकाशन, 1972

42. हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां - डा. रामस्वरूप चतुर्वेदी

43. हिन्दी वाङ्मय - बीसवीं शती — सं.डा. नगेन्द्र
विनोद पुस्तक मंदिर, 1972

(ख) दार्शनिक ग्रंथ

44. 108 उपनिषदें — सं.पं. श्रीरामशर्मा आचार्य
संस्कृति संस्थान, बरेली, ती.सं. 1976

45. चेतना की शिखा — रामधारी सिंह दिनकर,
उदयाचल, पाटना, 1973

46. दर्शन - दिग्दर्शन — डा. राहुल सांस्कृत्यायन
किताब महल, तृ.सं. 1961

47. भारतीय दर्शन — वाचस्पति गैरोला
लोकभारती प्रकाशन, द्वि.सं. 1966

48. भारतीय दर्शन की रूपरेखा — एम.हिरिण्या (हिन्दी)
अनु.डा. गोवर्धनसिंह आदि
राजकमल प्रकाशन, 1965

49. निरीश्वरवाद — सत्वान परशुराम कनल, देवसमाज
प्रकाशन, पंजाब 1973

50. सर्वदर्शन संग्रह — श्री. मन्मधवाचार्य
चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1964

(ग) सर्जनात्मक साहित्य

(क) विवेचित उपन्यास

51. अठारह सूरज के पौधे — रमेश बक्षी
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्लर-6, 1965

52. अंतराल — मोहन राकेश
राजकमल प्रकाशन, 1972

53. अंधेरे बंद कमरे — मोहन राकेश
राजकमल प्रकाशन

54. अपने अपने अजनबी — [illegible], मोहन राकेश
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली,

55. अपने लोग — रामदरश मिश्र
नाशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ल

56. उसका शहर — प्रमोद सिन्हा
नाशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

57. चलता हुआ लावा — रमेश बक्षी
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-6

58. दूसरी बार — श्रीकांत वर्मा
अक्षर प्रकाशन, दिल्ली - 1968

59. न आनेवाला कल — मोहन राकेश
राजपाल एण्ड सन्स, दू.सं. 1970

60. नदी के द्वीप — अज्ञेय
सरस्वती प्रेस, वाराणसी, पां.सं. 19

61. नदी बहती थी — राजकमल चौधरी
विनोद प्रकाशन, दिल्ली, 1961

62. डाक बंगला — कमलेश्वर
राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

63. पचपन खंभे लाल दीवारें — उषा प्रियंवदा
राजकमल प्रकाशन

64(a) बेघर — ममता कलिया
रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971

64(b) [illegible] —
[illegible] प्रकाशन - 1973.

65. बीस रानियों का बाइस्कोप — राजकमल चौधरी
संभावना प्रकाशन, दिल्ली, 1972

66. मछली मरी हुई — रमेश बक्षी
राजकमल प्रकाशन, दू.सं. 1975

67. यह भी नहीं — महीपसिंह
राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1976

68. रुकोगी नहीं राधिका — उषा प्रियवदा
राजकमल प्रकाशन

69. सूरज मुखी अंधेरे के — कृष्णा सोबती
राजकमल प्रकाशन, दू.सं. 1974

70. शेखर एक जीवनी (पहला भाग) — अज्ञेय
सरस्वती प्रेस, वाराणसी, स.सं. 1961

(ख) अन्य पुस्तकें

71. गबन — प्रेमचन्द
हंस प्रकाशन, दिल्ली

72. गोदान — प्रेमचंद
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1961

73. दिशान्तर — सं. डा. परमानंद श्रीवास्तव तथा
डा. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी,
वाराणसी, 1971

74. निषेध — जगदीश चतुर्वेदी
ज्ञान भारती प्रकाशन, 1972

75. सुनीता — जैनेन्द्र कुमार
पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली-6, 1964

पत्रिकाएं

आलोचना — जनवरी-मार्च, 1973, जुलाई-सितंबर-1972.
सारिका — फरवरी- 1973
सारिका — जून 1964
दस्ता (अलकमालानी) आजकल सितंबर-1980.

ENGLISH

(Critical works, Literary works, Encyclopaedia etc.)

1. A critical history of philosophy - W.T. Stace - Macmilan - New York, 1967.

2. A Dictionary of Literary Terms - J.A. Cuddon - Indian Book Company - Andre-Deutsch - 1977.

3. A History of Modern Philosophy - Frederic Mayer - Eursiu Publishing House Ltd. - New Delhi (2nd Ed.) 1976.

4(a) A History of Philosophy - Frank Thilly - Central Book Depot - Allahabad - 1975.

4(b) Albert camus – A Study of his work - Philip Thody - Hamish Hamilton Ltd 1957.

5. Being and Existence - Martin Heidegger - (tr.) Werner Brook - Chicago 1949.

6. Being and Nothingness - Jean Paul Sartre -

7. Being and Time - Martin Heidegger - (tr.) J. Stambaugh - Harper & Row - New York 1972.

8. Camus - Adele King - Oliver and Boyd Ltd. - London - Reprinted 1966.

9. Concluding unscientific post-script - Soren Kierkegaard - tr. David F. Swenson and Walter Lowri - Princeton University Press (USA) 1971.

10. Contemperory Indian Philosophy - Series II -(Ed) Margret Chatterjee - George Allen and unwin Ltd. 1974.

11. Dialectical Materialism - Maurice Conforth - National Book Agency (Pvt) Ltd. - Calcutta - 1971.

12. Early Writings - Marx (Economic and Philosophical Manuscripts)

13. Encyclopaedia Britanica - Helen Hemingway - William Benton Inc. Publishers In 30 Volumes - 1974.

14. Encyclopaedia of Religion and Ethics -James Hastings - Volume II - T.T. Clark, Charles Scribner's sons - New York - 1971.

15. Existentialism - Guido de Ruggiero - Martin Secher & Warburg Ltd., London - 1946.

16. Existentialism - Paul ~~Foul~~ Foulquie - Dobson Books Ltd. - London - Second impression - 1963.

17. Existentialism - For and Against - Paul Roubiezek - Cambridge University Press - 1964.

18. Existentialism from Dostovesky to Sartre - Walter Kaufmann - The New World Publishing Company, New York.

19. Existentialism and Human Emotions - Jean Paul Sartre - A divisional of Philosophical library - New York - 1957.

20. Existentialism, Marxism and Anarchism - Herbert Read - Freedom Press - London - 1949.

21. Existentialism and Modern Predicament - F.H. Heinmann - Adams Charles Black - London - IIIrd Ed. - 1958.

22. Existential Thought - Ronald Grimslay - Cardiff University of Wales Press - 1955.

23. Indian Thought - K. Damodaran, Asia Publishing House

24. Introduction to Philosophy - H. Gene Blocker - William Hannaford - D. Van - Nostrand Company - New York - 1974.

25.a Karl-Mark and Frederick Engels - Progress Publishers - Moscow - Second Printing 1970.

(b) Kant and the 19th Century - W.T. Jones - Harcourt Brace, Jovanovich Inc.

26. Living Issues in Philosophy - Titus/Smith D. Van Nostrand Company - New York - 1974.

27. Master Pieces of World Philosophy in Summary - Ed. Frank N. Magill - Harper & Row publishers - New York - 1961.

28. Metaphysical Journal - Gabriel Marcel- (tr) Bernard Wall London- 1952.

29. Philosophie - Karl Jaspers (Edi) Paul Arthur Schilipp- New York-1957.

30(a) Rebel - Albert Camus - Anthony Bower (tra) Alfred A. knopf - New York - 196

30(b) Situations - J.P. Sartre - Fawcett- World Library- 1966.

31. Six Existentialist Thinkers - H.J. Blackham - Routledge & Kegan Paul Ltd. - London - Sixth impression 1965.

32. Sociology and Social Life - Young & Mack -

33(a) The Absurd - Arnold P. Hinchliff - Methuen & Co Ltd, London - (2nd Ed.)

33(b) The Bhagavad Gita - Swami Chidbhavananda (Second Ed) Thapovanam P.O. Tirupparaithurai

34. The Concise Encyclopaedia of Western Philosophy and Philosophers - Edited by J.O. Urmson Hutchinson & Co. Ltd. London - 1969.

35. The Development of Social Thought - Mukerjee, Bogardas

36. The Failure of Theology in Modern Literature - John Killinger Abingdon Press - New York -

37. The Journals of Kierkegaard - Translated and Edited by A.Dru - Collins, London, 1968.

38. The Myth of Sisyphus - Albert Camus (Tr.) Justin O'Briew - Penguin Books- 1977.

39. The New Book of Knowledge - J. Grolier - Incorporated - New York - Volume 15, 1972.

40. The Story of Philosophy - Willdurant - Washington Square Press - inc. New York - 1967.

41. The Outsider - Albert Camus (Tra) Stuart Gilbert Penguin Books, 1968.

42. What is Philosophy ? Martin Heidegger . (Tra) W. Klaback J. Wi New York - 1958.

43. Words - Jean Paul Sartre - (Tra) Irene Clephane - Penguin Books - 5th Ed. - 1976.

- G2962 -

COCHIN UNIVERSITY LIBRARY
Date.....
COCHIN-22

GLOSSORY

Absolute idea	-	परम प्रत्यय
Appearance	-	आभास
Being	-	बीइंग
Dialectical	-	द्वन्द्वात्मक
Essence	-	सार, सत्ता
Eternal occurance	-	शाश्वत प्रत्यावर्तन
Existence	-	अस्तित्व
Having	-	[illegible]
Idea	-	आशय, प्रत्यय
Idealism	-	आशयवाद
Inner core	-	आंतरिक हृदय
Materialism	-	भौतिकवाद
Metaphysical Philosophy	-	अतिभूतात्मक दर्शन
Natural	-	प्राकृतिक
Nothingness	-	शून्यता
Object	-	विषय
Objective	-	वस्तुनिष्ठ
Perception	-	प्रत्यक्ष
Physical	-	भौतिक
Possessed	-	अधिकृत
Qualitative	-	गुणात्मक
Self	-	अस्मिता
Self surpassing	-	अस्मिता परे गति
Subject	-	विषयी
Subjective	-	आत्मनिष्ठ
Superman	-	अतिमानव
Thought	-	चिंतन

.....